(बाबा दीनदयालगिरि-कृत)

अन्योक्ति-कल्पद्रुम

(सटीक)



टीकाकार

लाला भगवानदीन (दीन)

पं० मोहनवल्लभ पंत (विशारद)



प्रकाशक

रामनारायणलाल

पब्लिशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १००० } कार्तिक सं० १९८५ { मूल्य

पुस्तक मिलने के पते

१—रामनारायणलाल,
पब्लिशर और बुकसेलर
१, बैंक रोड इलाहाबाद।

२—लाला भगवानदीन
साहित्यभूषण-कार्यालय,
बनारस सिटी।

श्रीहरि

अन्योक्ति-कल्पद्रुम

की

पद्यानुक्रमणिका

विषय	शाखा	पद्यसंख्या
तमोलिन	३	१८
तुविका	२	३६
तुरग	२	७६
तुलसी	२	१५
द्रुम	४	४७
दरजी	३	६
दाड़िम	२	३२
दारुनटी (कठपुतली)	३	१३
दिवाकर	१	२०
दीपक	१	२५
नट	३	११
नटी	३	१४
नद	१	३८
नदी	१	४०
नयन	३	३५
निंव	२	३७
निसाकर	१	२१
नीरद	१	२७
नीलमणि	२	३
पतग	२	६५
पथिक	४	२
पनिहारिन	३	१७
पलास	२	२४
पवन	१	१४
पायस	१	६

---

* श्रीहरि *

अंतर्दर्शन

१—अलंकार

मानव-प्रवृत्ति अलकार से अनुराग करती है, मनुष्य बात-बात में नूननता अथवा चमत्कार लाने का प्रयत्न करता है। केवल "अलकार-शास्त्र" के नियमों तथा भेदोपभेदों के जानकार ही अलकारो का प्रयोग करते हो ऐसी बात नही, वरन् अपढ़, मूर्ख तथा ग्रामीण भी प्रतिदिन बोलचाल मे आलकारिक भाषा का उपयोग करते हैं। यद्यपि वे यह नहीं जानते कि उनकी भाषा मे किस समय किस अलकार का प्रयोग हो रहा है तथापि उनमें अलकारता होती अवश्य है। किसी बात मे अडगा लगानेवाले को वे कहते हैं,—"दाल भात मे मूसरचद।" यह आलकारिको का उपमालकार है। जन-समाज 'उपमा' और 'वक्रोक्ति' का प्रयोग तो पग-पग पर करता है। जेसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इसका एक कारण नूननता की चेष्टा है। एक दूसरा कारण भी है। मानव प्रवृत्ति वीभत्स, कठोर एव दु खपूर्ण घटनाओ के कटु सत्य को नहीं स्वीकार करती। अत इन घटनाओ का वर्णन ऐसे ढग से किया जाता है, जिससे वे उतनी अरुचिकर न ज्ञात हो-जितनी वे हैं। ऐसा करने का प्रयत करना भी भाषा मे अलकारता लाने का एक कारण है। "अमुक व्यक्ति मर गया" ऐसी कठोर एव शोकपूर्ण घटना को इस रूप में कोई सुनना नहीं चाहता, इसी से लोग किसी की मृत्यु सूचित करने के लिये कहा करते हैं "अमुक का वैकुठवास

हो गया, अमुक परमपद को प्राप्त हो गए" आदि। तात्पर्य वही है, पर जहाँ पहले कथन मे मृतात्मा की मृत्यु पीड़ा कर रही है, वहाँ दूसरे कथन से मरना कोई दु खद व्यापार नहीं ज्ञात होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मृतव्यक्ति किसी अपने अभीष्ट लोक को गया है। इनके अतिरिक्त अपना चातुर्य प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति भी कथन मे अलकारता लाने का एक कारण है। अतएव इन सब कारणो से मानव-जीवन का अलकारो से अभिन्न-सबध हो गया है। मनुष्य का बाह्य और अतर्जीवन अलकारमय है। मनुष्य कुरूप ही क्यो न हो, उसके पास रत्नजटित स्वर्ण-रजत के आभूषण भी न हो, पर अपने को सुसज्जित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसमे भी पाई जाती है। बहुधा ग्रामीण बालक रगीन कागज को देखते ही उस पर टूट पड़ते हैं और जैसा कुछ उनसे बन पड़ता है काट-छांट कर अपने और अपने साथियो के मुँह मे थूक से चिपका लेते हैं, जब बच्चो मे ऐसी बात पाई जाती है तो बड़े-बूढ़ो की क्या बात? और फिर रूपवान व्यक्ति मे यह प्रवृत्ति हो तो आश्चर्य ही क्या? वीतराग सन्यासियो और सतो को भी इस प्रवृत्ति ने अछूता नहीं छोड़ा, परब्रह्म परमात्मा के ध्यान के लिये नाना प्रकार की क्रियाएँ अलकारता नहीं तो क्या हैं? सच पूछा जाय तो मानव-जीवन ही अलकार है। सृष्टि का निर्माण ही अलकार का पोषक है।

जब साधारण मनुष्य बोलचाल को भी चमत्कारक ढग से कहने का प्रयत्न करता है तब सृष्टि के रत्न कवि की कविता में भी यदि अलकारत्व आजाय तो उचित ही है। रमणीय उक्ति का नाम ही कविता है।* हम रमणीयता को कविता से भिन्न नहीं कर सकते। रमणीयता के अभाव में कविता और साधारण वाक्य मे कोई अंतर ही नहीं रह जाता। यह रमणीयता ही अलकारता है।

---

* रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्।—पडितराज जगन्नाथ।

इसीलिये कवि नग्न-सत्य कभी नहीं कहता। सीधी सादी बात में भी कुछ न कुछ रमणीयता लाता ही है। सुतरां अलंकार के बिना कविता हो नहीं सकती—चाहे कवि ने उसका प्रयोग जानकर किया हो अथवा बेजाने।

जब अलंकार-शास्त्र की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, अलंकारों का कोई नाम भी निश्चित नहीं था, तब भी कविता होती थी और कविता के सहज गुण अलंकार उनमें भी विद्यमान रहते थे। कौन कह सकता है कि आदिकवि वाल्मीकिजी ने अलंकार-शास्त्र पढ़ा था (क्योंकि उस समय तक इसकी उत्पत्ति* ही नहीं हुई थी) अतः उनके कवित्व में अलंकारत्व नहीं है? उनका समस्त काव्य एक नहीं अनेक अलंकारों से समाकीर्ण है। सच्ची बात तो यह है कि अलंकार, व्याकरणादि कविता और भाषा में पहले नहीं बनते। भाषा की स्थिरता के पश्चात् इनका निर्माण होता है। फिर भी अलंकारहीन कविता या व्याकरणहीन भाषा कोई कविता या भाषा नहीं, क्योंकि भाषा की अस्थिरता साहित्य के गौरव की बात नहीं है।

अलङ्कार का प्रयोजन कविता में माथा खरोंच खरोंच कर कपोल कल्पनाओं का ठूसना नहीं है। वैसी दशा में कविता "कविता" नहीं रह जाती और न यह "अलंकार" की परिभाषा ही है। कविता के सौन्दर्य का नाम अलंकार है। हम बाहरी आभूषणों को अलंकार नहीं मान सकते, किसी कुरूप व्यक्ति को रत्नजटित गहनों से लाद ही क्यों न दिया जाय उसमें सौंदर्य आ नहीं सकता, क्योंकि उसमें स्वाभाविकता का अभाव है।

---

* अलंकार-शास्त्र का वर्णन पहले-पहल महर्षि द्वैपायन व्यास रचित अग्नि पुराण में पाया जाता है। जो महामुनि वाल्मीकि से बहुत पीछे हुए हैं।

अस्वाभाविकता—कृत्रिमता—मे सच्चा सौंदर्य कहाँ ? इसके विपरीत सहज-लावण्य-संपन्न व्यक्ति के शरीर में फटे चिथड़े भी शोभा देते हैं। इसी से कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास ने कहा है—

"किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्"

हारादि भूषण—यदि उचित मात्रा मे हो—तो केवल सौंदर्य के उत्कर्ष-पायक हैं। वास्तविक अलंकार काव्य का सौंदर्य ही है *। काव्य के लिये "सत्यं शिवं सुन्दरम्" ये तीनों गुण अपेक्षित हैं। अलंकार को इस व्यापक परिभाषा के अनुसार जहाँ "अलंकारा एव काव्ये प्रधाना" कहा गया है वहाँ सुंदरता से ही अभिप्राय है। इस सिद्धांत के अनुसार आजकल के अलंकार-विरोधी कवियों की कविता भी—यदि वे उसे वास्तव में कविता मानते हैं तो—अलंकारों से बच नहीं सकती। अन्यथा "अलंकारत्व" के अभाव में उनमें कवित्व ही नहीं माना जा सकता। अब रहे 'उपमा' 'अनुप्रास' आदि। ये अलंकार से भिन्न नहीं हैं। सौंदर्य का एक-रूप नहीं होता, वस्तुभेद से सौंदर्य नाना प्रकार के हो सकते हैं। उपमानुप्रासादि उसी विविध प्रकार के सौंदर्य के भिन्नभिन्न नाम हैं जो स्वयं सौंदर्य हैं उनको "काव्य शोभा-कर" † कहना ठीक नहीं। हमें तो "हारादि यदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादय" यह उक्ति भी समीचीन नहीं जान पड़ती। हारादि अलंकार मूर्तिमान् पदार्थ हैं, पर अनुप्रासादि अमूर्त। वे 'हारादिवत्' कविता से भिन्न नहीं वरन् सौंदर्यवत् अभिन्न हैं।

आजकल अलंकार-शास्त्र का बहुत संकुचित अर्थ लिया जाता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो प्रतिभाहीन कवि अपनी यथार्थ सौंदर्य-विहीन कविता को निरर्थक अलंकारों से लाद कर कविता का गला घोट रहे हैं और दूसरी ओर कतिपय

* सौंदर्यमलंकारः।—आचार्य वामन।

† काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचक्षते।—दंडी।

मध्यमतवादी अलकारों को व्यर्थ बताते हैं। हमारी समझ मे उक्त दोनो प्रकार के कवि-जन ज्यादती पर हैं। प्रतिभाशील कवि को कविता में अलकारता लाने का प्रयत्न ही नहीं करना पडता। भावो के उत्कर्ष की व्यजना के लिये अथवा भाव, द्रव्य, गुण या व्यापार को स्पष्ट करने के लिये जहाँ जिस अलकार की आवश्यकता पडती है वह स्वय आ जाता है, माथा-पची की जरूरत ही नहीं पडती। इसी कारण हम देखते है कि अलकार शास्त्र के लिये उदाहरण स्वरूप गढे हुए छदो मे वैसा चमत्कार नहीं बोध होता जैसा काव्य-ग्रथ मे आए हुए एक स्वाभाविक छद मे प्रतीत होता है। सोच कर लिखे गए—या गढे गए—छदो में कृत्रिमता आजाती है। अस्वाभाविकता हृदय को खटकने वाली है, ऐसे छद अलकार-शास्त्र मे गिनाए हुए अलकारो के लक्षणो मे किसी के अतर्गत भले ही होजायँ पर वस्तुत अलकार के उपयोग का तात्पर्य यह नहीं है। अलकार चमत्कार सहृदय-सवेद्य है।

जैसा कहा जा चुका है अलकार-शास्त्र के निर्माण के पूर्व भी कविता होती थी। उसमे भी अलकार होते थे। पर आजकल की तरह उनका नामकरण नहीं हुआ था। पीछे विद्वानो ने काव्यो से सुदर सुदर उक्तियां चुनकर उनके लक्षण बनाए और उनको भिन्नभिन्न नाम दिए। आरभ मे अलकारो की सख्या बहुत थोडी रही होगी। ज्यो ज्यो काव्यशास्त्र ने उन्नति की त्यो त्यो नई नई चमत्कारिणी उक्तियाँ ढूँढी गई और उनके भी लक्ष्य-लक्षण बने। इस प्रकार अलकारो की सख्या बढती गई। यही कारण है कि आलकारिको में इनकी सख्या के सबध मे बहुत मतभेद है। कौन कह सकता है कि काव्यो को सभी सुदर स्थल खोज डाले गए हैं? और लक्ष्य-लक्षण बन चुके हैं? कभी कभी जब किसी किसी पद्य का अलकार निश्चय किया जाता है तो बडी उलझन का सामना करना

पड़ता है। समस्त अलंकारों के लक्षणों से उसका मिलान करने पर भी यह निर्णय नहीं होता कि इसको कौन सा अलंकार माना जाय। विवश हो किसी न किसी अलंकार में उसका अंतर्भाव करना पड़ता है। पर इससे मनस्तुष्टि नहीं होती। निर्णीत अलंकार से उसमें कुछ न कुछ न्यूनाधिक विशेषता रही जाती है। किंतु हम उस अलंकार का कोई नामकरण नहीं कर सकते। अस्तु, अलंकारों की संख्या चाहे कितनी ही हो हम उन्हें कुछ मुख्य अलंकारों का विस्तरीकृतरूप ही मानते हैं।

कभी हमें किसी वस्तु को स्पष्ट करने के लिये उसी के समान रूप आकृति या गुण वाली अन्य वस्तु को सामने लाना पड़ता है, कभी उसके ठीक विरोधी पदार्थों द्वारा उसका यथार्थ ज्ञान कराना होता है, कभी किसी व्यापार या कार्य का प्रभाव बतलाने के लिये उसके कारण कार्य को खूब बढ़ा चढ़ा कर कहा जाता है। इस प्रकार अलंकारों के (१) समता-विषमता सूचक, (२) रंग-आकृति सूचक, (३) गुण-अवगुण सूचक, (४) कारण कार्य-सूचक इत्यादि प्रधान भाग किए जा सकते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, व्याघात इत्यादि अनेक अलंकार प्रथम श्रेणी, के अंतर्गत आजाते हैं। तद्गुण, अतद्गुण, मीलित, उन्मीलित, सामान्य, विशेषक आदि कई अलंकारों का अंतर्भाव द्वितीय श्रेणी में हो जाता है। तीसरी श्रेणी में उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश आदि अलंकार आते हैं। अप्रस्तुत प्रशंसा, विभावना, असंगति, कारणमाला, काव्यलिंग, हेतु आदि अलंकारों का समावेश कारण-कार्य-सूचक अलंकारों में किया जा सकता है। अनेक अलंकार ऐसे भी हैं जिनसे केवल कवि का पांडित्य या चातुर्य ही लक्षित होता है, चमत्कार विशेष नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ अर्थालंकारों में मुद्रा, चित्रोत्तर आदि को अथवा शब्दालंकारों में दृष्टिकूटक चित्र आदि अलंकारों को ही लीजिए,

इनमें व्यर्थ की माथापच्ची के अतिरिक्त और है ही क्या? कई अलंकार ऐसे भी हैं जो बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं, असंभव ज्ञात पड़ते हैं। पर उनकी असंभवता चमत्कारमात्र की बोधिनी नहीं होती किंतु भावों, द्रव्यों या गुणों का उत्कर्ष भी व्यंजित करती है। "उत्प्रेक्षा" को ही लीजिए, इसमें केवल कपोल-कल्पना के और कुछ नहीं होता। पर अद्भुत सादृश्य के द्वारा हम वर्ण्य-वस्तु के रूप की कल्पना अपने मन में सहज ही कर सकते हैं। यही इस अलंकार का मुख्य उद्देश्य है। देखिए—

लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल बिलगाइ॥

यहाँ दो चंद्रों का होना असंभव है। पर राम-लक्ष्मण की तत्कालीन शोभा पाठकों को हृदयंगम कराने के अभिप्राय से कवि ने क्या ही अनोखी कल्पना की है। इसी प्रकार "अत्यंतातिशयोक्ति" को लीजिए। प्रकृति का यह नियम है कि पहले कारण होता है तब कार्य। कारण के पश्चात् कार्य में कुछ न कुछ विलंब—चाहे पल भर का ही क्यों न हो—लग ही जाता है। पर कारण से पहले कार्य का होना तो असंभव ही है॥ किंतु "अत्यंतातिशयोक्ति" में कारण पीछे होता है पर कार्य पहले ही हो जाता है। जैसे—

हनूमान की पूँछ में, लगन न पाई आगि।
लंका सिगरी जरि गई, गए निसाचर भागि॥

इससे यह न समझना चाहिए कि वास्तव में कवि का तात्पर्य ऐसा ही था। यहाँ तो कार्य की शीघ्रता व्यंजित करना ही कवि का अभिप्रेत है। साधारण बोलचाल में भी लोगों को कहते हुए सुना जाता है कि "इतनी जल्दी आओ कि मानो तुम गये ही नहीं।" इसी प्रकार और भी अनेक अलंकार हैं। अस्तु, अब हम प्रस्तुत-विषय "अन्योक्ति" अलंकार के प्रसंग में आते हैं।

२—अन्योक्ति

जिस प्रकार सादृश्य-सूचन के लिये "उपमा-मूलक" अलंकारों की सृष्टि हुई है उसी प्रकार "किसी दूसरे को बुरा न लगे" इस अभिप्राय से "व्यंग्य-मूलक" अलंकारों का आविर्भाव हुआ है। इन "व्यंग्य मूलक" अलंकारों में निम्नलिखित अलंकारों का समावेश हो सकता है—

(१) अप्रस्तुत-प्रशंसा और उसके वक्ष्यमाण पाँचों प्रकार (२) प्रस्तुतांकुर, (३) समासोक्ति, (४) पर्यायोक्ति, (५) गूढ़ोक्ति, (६) काकुवक्रोक्ति, (७) व्याज आदि। प्रस्तुत "अन्योक्ति" अलंकार "अप्रस्तुत-प्रशंसा" का पाँचवाँ भेद है। अब हम उक्त अलंकारों को सोदाहरण समझाने का प्रयत्न करेंगे।

(१) अप्रस्तुत-प्रशंसा

जिस विषय का वर्णन करना अभीष्ट हो उसे "प्रस्तुत" कहते हैं, और इङ्गित अर्थ के अतिरिक्त जो दूसरा कथन स्वयं भान होने लगता है उसे "अप्रस्तुत" कहते हैं। जहाँ 'प्रस्तुत' विषय को स्पष्ट शब्दों में न कह कर इस ढंग से कहें कि बात कोई दूसरी ही जान पड़े पर उससे वास्तविक बात—प्रस्तुत—लक्षित हो जाय वहाँ "अप्रस्तुत-प्रशंसा" अलंकार होता है। इसके पाँच भेद होते हैं—

(१) कार्य-निबंधना, (२) कारण-निबंधना, (३) सामान्य-निबंधना, (४) विशेष-निबन्धना और (५) सारूप्य-निबंधना या "अन्योक्ति"।

कार्य-निबंधना

जहाँ कहना तो हो कारण पर उसे सीधे शब्दों में न कह कर उसके कार्य का कथन करके कारण जताया जाय। जैसे—

सरमें लगे है अवसर मै समुझि यह,
सूकर विहार करै अहो ! तिहि सर मे ॥

यहाँ कवि का अभिप्राय तालाब की दुर्दशा सूचित करने से है जिसको "उसे देख कर शर्माने लगना" उसके इस परिणाम (कार्य) के द्वारा स्पष्ट किया है ।

कारण निबंधना

कार्य निबंधना के ठीक विपरीत जहाँ इष्ट तो कार्य-कथन हो, पर कहा जाय उसका कारण । जैसे—

बरने दीनदयाल, कहा षटपद ये करमैं ।
हैं पग पसु तें ड्योढ़, रमैं तातें सेमर मैं ॥

यहाँ कहना तो है कि "तू पशुओं से भी अधिक मूर्ख है" । पर ऐसा सीधे शब्दों मे न कह कर कहा जाता है कि " तेरे पैर भी तो पशुओं से ड्योढे हैं ।"

सामान्य निबंधना

जो सिद्धान्त 'व्यापक' हो उसे "सामान्य' कहते हैं, और जो सीमित हो उसे " विशेष " । जहाँ किसी ' सामान्य ' बात के द्वारा कोई 'विशेष' तात्पर्य प्रकट किया जाय वहाँ " सामान्य-निबंधना " होती है । जैसे—

बरने दीनदयाल होत नहि कछु रूपन तें ।
छुटै न बस सुभाय पाय आदर भूपन तें ॥

यहाँ एक सामान्य सिद्धात यह कहा गया है कि बड़े लोगों से सम्मानित होने पर भी कोई अपने वंश परंपरागत दुस्वभाव को नहीं छोड़ सकता । इस 'सामान्य कथन ' द्वारा किसी ऐसे 'विशेष' पुरुष के प्रति उपालंभ है जो राज सम्मान प्राप्त करने पर भी अपनी कुप्रवृत्तियों को नहीं छोड़ता ।

क—अश्लिष्ट-शब्द-समासोक्ति

आवन ही हेमन्त तव, कंपन लगो जहान।
कोक कोकनद में दुखी, अहित भये जगप्रान॥

इसमें हेमन्त का वर्णन करना ही कवि को अभीष्ट है साथ ही "दुर्जन निंदा" भी इससे भासित होती है। यहाँ श्लिष्ट शब्द नहीं आए हैं।

ख—श्लिष्ट-शब्द-समासोक्ति

पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहि।
चपलाजुत घनश्याम नित विहरत हैं तव माहि॥
विहरत हैं तव माहि नील-कंठहु सुखदाई।
अंबर देत छुहाइ द्विजन की करत सहाई॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तो सुखमा बस।
एकै हंस उदास रहे काहे हे पावस॥

यहाँ वर्षा वर्णन प्रस्तुत है और एक अप्रस्तुत अर्थ ऐसे धनी व्यक्ति पर भी घटित होता है जो सबका उपकार करता है, विष्णु और शिव में अभेद समझ कर दोनों की उपासना समान रूप से करता है, किन्तु कोई गुणी उससे सहायता न मिलने के कारण निराश है। यहाँ "चपलाजुत घनश्याम", "नीलकंठ", "अंबर" और "द्विज" शब्द श्लिष्ट हैं।

(४) पर्यायोक्ति

"पर्यायोक्ति" अलंकार दो प्रकार का होता है—

(क) कोई बात स्पष्ट शब्दों में न कह कर उसे कुछ घुमा फिरा कर कहने से "प्रथम पर्यायोक्ति" अलंकार होता है। जैसे—

सीता हरन पिता मरन कह्यो तात जनि जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आय॥

इसमें राम जी ने यह न कहा कि मैं रावण को मारूँगा, पर वही बात घुमा कर कही गई है।

(ख) जहाँ किसी विशेष उत्कृष्ट कार्य साधन के लिये कोई युक्ति युक्त क्रिया की जाती है, किसी बहाने अभीष्ट कार्य की सिद्धि की जाती है वहाँ " दूसरी पर्यायोक्ति " होती है। जैसे—

पूस मास सुनि सखिन सन साईं चलत सवार।
लै कर बीन प्रवीन तिय गायो राग मलार॥

(५) गूढोक्ति

जहाँ किसी दूसरे को कोई विशेष सूचना देने के लिये किसी अन्य प्रति कोई बात कही जाय जिससे वह सुन ले और गूढ (छिपे हुए) अभिप्राय को समझ जाय। जैसे—

हे हरिना अब भागु द्रुत वारी कर न विहार।
या वारी को देखियत आवत राजनहार॥

" प्रस्तुतांकुर " में कहनेवाले का तात्पर्य उससे होता है जिसके प्रति बात कही जाय। सुननेवाला भी लाभ उठा ले तो 'अग्र विशेष' है नहीं तो कोई आग्रह नहीं, " गूढोक्ति " में कहनेवाले का मुख्य अभिप्राय सुननेवाले से होता है। जिसके प्रति बात कही जाती है उससे नहीं। 'प्रस्तुतांकुर' मुख्यत उपालभ वर्णन के लिये है और यह अलंकार सूचनार्थ।

(६) काकु—वक्रोक्ति

'काकु' शब्द का अर्थ 'कंठध्वनि' है। जहाँ श्रोता शब्द के उच्चारण की विशेषता से वक्ता के कथन का दूसरा ही अर्थ कल्पित करे वहाँ " काकुवक्रोक्ति " अलंकार होता है। जैसे—

मैं सुकुमारि नाथ वन जोगू।
तुमहि उचित तप मोकहँ भोगू॥

क—अश्लिष्ट-शब्द-समासोक्ति

आवत ही हेमन तव, कपन लगो जहान।
कोक कोकनद मे दुखी, अहित भये जगप्रान॥

इसमें हेमन्त का वर्णन करना ही कवि को अभीष्ट है साथ ही "दुर्जन निंदा" भी इससे भासित होती है। यहाँ श्लिष्ट शब्द नहीं आए हैं।

ख—श्लिष्ट-शब्द-समासोक्ति

पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहि।
चपलाजुत घनश्याम नित विहरत हैं तव माहि॥
विहरत हैं तव माहि नील-कण्ठ सुखदाई।
अंबर देत सुहाइ द्विजन की करत सहाई॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख सों सुखमा वस।
एकै हस उदास रहै काहे हे पावस॥

यहाँ वर्षा वर्णन प्रस्तुत है और एक अप्रस्तुत अर्थ ऐसे धनी व्यक्ति पर भी घटित होता है जो सबका उपकार करता है, विष्णु और शिव मे अभेद समझ कर दोनो की उपासना समान रूप से करता है, किन्तु कोई गुणी उससे सहायता न मिलने के कारण निराश है। यहाँ "चपलाजुत घनश्याम", "नीलकंठ", "अंबर" और 'द्विज" शब्द श्लिष्ट हैं।

(४) पर्यायोक्ति

"पर्यायोक्ति" अलंकार दो प्रकार का होता है—

(क) कोई बात स्पष्ट शब्दों मे न कह कर उसे कुछ घुमा फिरा कर कहने से "प्रथम पर्यायोक्ति" अलंकार होता है। जैसे—

सीता हरन पिता मन कह्यो तात जनि जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आय॥

इसमें राम जी ने यह न कहा कि मैं रावण को मारूँगा, पर वही बात घुमा कर कही गई है।

(ख) जहाँ किसी विशेष इच्छित कार्य साधन के लिये कोई युक्ति-युक्त क्रिया की जाती है किसी बहाने अभीष्ट कार्य की सिद्धि की जाती है वहाँ " दूसरी पर्यायोक्ति " होती है। जैसे—

पूस मास सुनि सखिन सन साईं चलत सवार।
लै कर बीन प्रवीन तिय गायो राग मलार॥

(५) गूढोक्ति

जहाँ किसी दूसरे को कोई विशेष सूचना देने के लिये किसी अन्य प्रति कोई बात कही जाय जिसमें वह सुन ले और गूढ (छिपे हुए) अभिप्राय को समझ जाय। जैसे—

है हरिना अब भागु द्रुत वारी करु न विहार।
या वारी को देखियत आवत राखनहार॥

" प्रस्तुतांकुर " मे कहनेवाले का तात्पर्य उससे होता है जिसके प्रति बात कही जाय। सुननेवाला भी लाभ उठा ले तो ' अय विशेष ' है नहीं तो कोई आग्रह नहीं, " गूढोक्ति " मे कहनेवाले का मुख्य अभिप्राय सुननेवाले से होना है। जिसके प्रति बात कही जाती है उससे नहीं। ' प्रस्तुतांकुर ' मुख्यत उपालभ वर्णन के लिये है और यह अलकार सूचनार्थ।

(६) काकु-वक्रोक्ति

'काकु' शब्द का अर्थ 'कठध्वनि' है। जहाँ श्रोता शब्द के उच्चारण की विशेषता से वक्ता के कथन का दूसरा ही अर्थ कल्पित करे वहाँ " काकुवक्रोक्ति " अलकार होता है। जैसे—

मे सुकुमारि नाथ वन जोगू।
तुमहि उचित तप मोकहँ भोगू॥

(७) व्याज

जहाँ किसी बहाने से किसी व्यक्ति की स्तुति या निंदा की जाय वहाँ 'व्याज' अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं (क) व्याजस्तुति और (ख) व्याजनिंदा।

(क) व्याजस्तुति

जहाँ किसी की प्रशंसा ऐसे शब्दों में की जाय कि देखने में निंदा सी जान पड़े अथवा प्रस्तुत व्यक्ति की प्रशंसा करने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा की जाय उसे "व्याजस्तुति" अलंकार कहते हैं, जैसे—

सुरधुनि बकित किमि चलै चकित सुकवि इहि हेत।
अहो होति लज्जित नहीं खलन ईस पद देत॥
खलन ईस पद देत नहीं परिनाम विचारै।
बाँधे गहि ले जटा न वे उपकार निहारै॥
बरनै दीनदयाल परी सब तो सिर पै सुनि।
करी अकरनी जौन भोग ताको री सुरधुनि॥

यहाँ प्रत्यक्ष में गंगा जी की निंदा की गई है कि 'तुम पापियों को भी ईश पद देते हुए लज्जित नहीं होतीं" पर इसी बहाने गंगा जी की स्तुति की गई है कि "तुम पापियों को भी सद्गति देती हो"।

'व्याजस्तुति" का ठीक विरोधी अलंकार "व्याजनिंदा" है।

उक्त सभी अलंकार 'व्यंग्यात्मक' हैं और प्राय सभी में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भाव आया है। ये अलंकार प्राय अन्योक्ति के अत्यंत सन्निहित हैं, पर 'व्यंग्य प्रधान' अलंकारों की यहाँ पर इतिश्री नहीं हो जाती। अर्थांतरन्यास, काव्यलिंग, रूपकातिशयोक्ति, गूढ़ोत्तर ललित, व्याजोक्ति, आक्षेप, आदि और भी अनेक अलंकार ऐसे हैं जिनमें व्यंग्य का आभास रहता ही है।

कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो ' अन्योक्ति ' के प्रसंग में स्वतः आ ही जाते हैं। उनके लिये कुछ चेष्टा नहीं करनी पड़ती। सब में मुख्य " श्लेष "* अलंकार है। दीनदयाल जी की कई अन्योक्तियाँ " श्लेष "-गर्भित हैं। जैसे—

गुन को गहि यहि खेत में नर्म सुवसन होय।
कसितन जीवन देत हैं पीछे गुस्ता होय॥
पीछे गुस्ता होय रूपतें आदर पावै।
ऊंच कहैं सब कोय अमृत घट पुन्य सुहावैं॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिये जग उनको।
सहि दुखसुख दें सबै सरल अति हैं गहि गुन को॥

उक्त अलंकारों के अतिरिक्त और भी कतिपय अलंकार हैं जिनका प्रयोग कवि ने प्रस्तुत ग्रंथ में स्वेच्छा-पूर्वक किया है।

१—रूपक

उपमेय और उपमान का एकीकरण ही रूपक है। जैसे—

छल वंचक हीन चले पथ याहि " प्रतीति-सुसंबल " चाहनो है।
तहँ 'संकट-वायु' 'वियोग लुवैं' दिल को ' दुख-दाव ' में दाहनो है॥
" नद-सोक " " विषाद-कुग्राह " ग्रसैं कर धीरहि तें अवगाहनो है।
हित दीनदयाल महा मृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है॥

यहाँ "प्रेम-पथ" की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए " प्रतीति-सुसंबल ", " संकट वायु " आदि कई रूपकों द्वारा क्या ही सुंदर " समस्त वस्तु विषयक साग रूपक " कहा गया है।

---

* एक ही शब्द के जहाँ दो से अधिक अर्थ होते हैं वहाँ ' श्लेष " होता है।

२—रूपकातिशयोक्ति

यह अलकार " अतिशयोक्ति "* का एक भेद है। जहाँ केवल उपमानो का कथन होता है और उपमेय व्यग्य से स्वय समझा जाता है वहाँ यह अलकार होता है। जैसे—

देखो पथी अचभ यह जमुना तट धरि ध्यान।
महि मे विहरै कज द्वै करै मजु अलि गान॥
करै मजु अलि गान नील खभा तहँ द्वौ पर।
पिक धुनि दामिनि बीच तहाँ सर हँस मनोहर॥
बरनै दीनदयाल सस पै सोभ विसेखो।
ता ऊपर अहितनै ताहि पर बरही देखो॥

इसमे 'अन्योक्ति' तो कुछ भी नहीं केवल "रूपकातिशयोक्ति" के द्वारा श्रीकृष्ण का 'नख-शिख' वर्णन है। 'पथी' शब्द से किसी जन को ध्यान का उपदेश मात्र है। इसी को चाहे 'अन्योक्ति' कह लीजिये। 'रूपकातिशयोक्ति' के प्रयोग मे भी दीनदयाल जी ने कमाल किया है। इसकी अंतिम चार उक्तियों से कवि का चातुर्य स्पष्ट है। दीनदयाल जी सन्यासी थे। वैराग्य उनकी नस नस मे कूट कूट कर भरा था। पर कवि होने के कारण रसिकता छोड़ नहीं सके, नारी निंदा भी खुले शब्दो मे न कर सकते थे। किंतु सँभलकर अलकारो का आश्रय लेकर अपने पद के अनुसार स्त्री पर आसक्त न होने का सदर और उपकारी उपदेश दे ही डाला। ऐसी ही कविताओ से कवि की प्रकृति, उसकी चातुरी और अलकार-शास्त्र की उपयोगिता समझी जा सकती है।

---

* जहाँ किसी की अत्यन्त सराहना करनी होती है वहाँ "अतिशयोक्ति" (Hyperbole) अलकार होता है।

३—अर्थांतरन्यास

जहाँ कथित वाक्य का समर्थन किसी सिद्धांत-वाक्य द्वारा किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे—

कीजे गमन सुमानसर यह दुख दायक ताल।
हंस बस अघतस हो मौन गहो इहि काल॥
मौन गहो इहि काल काक बक खल या ठाँवें।
अति कठोर बरजोर सोर चहुँ ओर मचावें॥
बरनें दीनदयाल इनें तजि सुख सों जीजे।
सठ संगति अतिभीति भूलि तहँ गमन न कीजे॥

यहाँ हंस की सामान्य घटना से एक विशेष सिद्धान्त यह निकालते हैं कि "शठ-संगति बड़ी भयानक होती है।"

४—सूक्ष्म

जहाँ कोई बात इस प्रकार संकेतों द्वारा सूचित की जाय कि जिसमें कहना अभीष्ट है उसके अतिरिक्त और कोई न समझ सके। इसके लिये यह आवश्यक है कि कहने और समझने वाले दोनों में इशारे बँधे रहें। दलालों में इस अलंकार का प्रयोग बहुत होता है। उनके कुछ संकेत ऐसे होते हैं कि उनके अतिरिक्त कोई नहीं समझ सकता। प्राय भिन्न भिन्न व्यवसायियों में भिन्न भिन्न संकेत रहते हैं। जासूसी विभाग के कर्मचारियों का तो इस प्रकार के संकेतों के बिना कोई काम ही नहीं चल सकता। लड़ाई के समय झंडियों द्वारा बातचीत करने में भी एक प्रकार से सूक्ष्म अलंकार का ही प्रयोग है, दीनदयाल जी का भी दृष्टांत देख लीजिये—

कासों हनिए कोप को कापै पेए ज्ञान।
गुरू मौन में नहिं कह्यो छिति छ्वै कै धरि कान॥
छिति छ्वै के धरि कान दसन रवि फेरि लखाए।
देखि केस की ओर सुनैन कपाट लगाए॥

वरनै दीनदयाल सिख्य गुरु की करुना सों।
समुझि लई सब सैन वैन तिन कह्यो न कासो ॥

इसका विश्लेषण यथास्थान टीका मे किया जा चुका है। यह अलकार "क्रिया-विदग्धता" का अच्छा नमूना है।

५–मुद्रा

जहाँ प्रस्तुत अर्थ के कथन करने के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिनसे कुछ ऐसे शब्द भी निकलें जिनकी एक जातीयता हो वहाँ "मुद्रा" अलकार होता है। जैसे—

सो नाहीं नर सुघर है जो न भजै श्रीरग।
पारावार अपार जग बूडत भौर कुसग ॥
बूड़त भौर कुसग ठोर तामहिं नहि पावै।
सीसहु देत डुवाय भलो हाथहु न उठावै ॥
वरनै दीनदयाल रूप हरि कौ तिहि माहीं।
ध्यान धरे दृढ़ नाव जानि बूड़त सो नाहीं ॥

यहाँ शब्द-सगठन ऐसा विचित्र है कि प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त सोना, रागा, पारा, सग, ताम्र, शीशा, लोहा, चांदी आदि धातुओं के नाम भी आगए हैं।

दीनदयाल जी के ग्रथो मे स्थान स्थान पर अनुप्रासादि शब्दालकारो की भी कमी नहीं है। कहीं उनको अनुप्रास यमक आदि के लिये शब्दो को तोड़ना मरोड़ना भी पड़ा है। अस्तु अब हम पुन प्रस्तुत विषय "अन्योक्ति" पर लौटते हैं।

"अन्योक्ति" अलकार जैसा कि हम कह चुके हैं "व्यग्यात्मक" है। जिससे कोई बात कहनी हो सीधे उससे ही न कह कर दूसरे व्यक्ति को लक्ष्य कर वह बात उसे 'सुनाई' जाय, यही "अन्योक्ति" है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि ऐसे द्राविड़-प्राणायाम की आवश्यकता ही क्या है। जिससे कहना हो उससे

स्पष्ट शब्दो मे ही कह दिया जाय तो यह मामला साफ हो जायगा। पर नहो, यह बात नहीं है। स्पष्ट-वक्तव्य स्तुत्य तो अवश्य है, किंतु सर्वत्र स्पष्ट कथन का निर्वाह नहीं हो सकता। कई बातें ऐसी भी होती हैं जिनको लोग मुह पर सुनना पसद नहीं करते। कम से कम अपने सामने अपनी निंदा या अपने असत्कर्मों की आलोचना स्पष्ट शब्दो मे सुनना कोई नहीं चाहता। अतएव ऐसे ही अवसरो के लिये 'अन्योक्ति' की सृष्टि हुई है। इस अलकार द्वारा उपदेश या उपालभ बड़े ही सुदर ढग से दिया जा सकता है। किसी को बुरा लगने का मौका ही नहीं दिया जाता। देखिए—

कोलाहल सुनि खगन के जनि सरवर! अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा दुरदिन दैहैं त्यागि॥
दुरदिन दैहैं त्यागि तोय तेरो जब जैहै।
दूरहि ते तजि आस पास कोऊ नहि ऐहै॥
बरनै दीनदयाल तोहि मथि करिहैं काहल।
ये चल छल के मूल भूल मनि सुनि कोलाहल॥

प्राय यह देखा जाता है कि धनवानो को 'खुशामदी' लोग घेरे रहते हैं, और उनके द्वारा अपनी नीच वासनाएं पूर्ण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर उनको विपत्ति मे छोड दूर हो जाते हैं। पर धन के मद से अधे धनिकों को तब तक यह नही सूझता जब तक उनको ठोकर नहीं लगती। किसी का समझाना भी उनको अच्छा नहीं लगता। समझना तो दूर रहा वे उलटे बिगड़ बैठते हैं। उक्त कुडलिया में कवि ने सरोवर को लक्ष्य करके यही बात कही है। धनी व्यक्ति मे कुछ भी समझ होगी तो वह अपना भला बुरा समझ कर सभल जायगा और खुशामदियों की सगति छोड़ देगा। न समझेगा तो कम से कम यह कह कर अपमान तो नहीं कर सकेगा कि "हम अपने धन से चाहे कुछ करें आपका तो कुछ

बनता बिगड़ता नहीं। हमें आपकी शिक्षा नहीं चाहिए ।" इत्यादि। यही नहीं ऐसे कथन द्वारा उपदेष्टा अदालती कार्रवाइयों से भी साफ बच सकता है। वह कह सकता है कि हमने आपसे नहीं कहा। हम तो तालाब या पक्षी या पशु से कहते थे।

३—अध्यात्मवाद

संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य अपने आत्मज्ञान के ही कारण सर्वोच्च समझा जाता है। इस कारण मनुष्य में आत्मज्ञान प्राप्त करने की भावना का उदय ही उसके लिये श्रेयस्कर है। वरन् मानव-जीवन का उद्देश्य ही आत्मज्ञान की प्राप्ति कहा जा सकता है। कितने ही प्राचीन दर्शनाचार्यों ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया भी है। सुतरां यदि मानव जीवन आत्मवाद का विशेष रूप से समर्थक हो तो आश्चर्य की बात नहीं। फिर जिनकी आंतरिक भावनाएँ संसार के साधारण प्राणियों से कुछ विशेषता रखती हैं यदि ऐसे आनंदी जीवों की रुचि आत्मवाद या अध्यात्मवाद की ओर हो तो यह और भी संगत है।

संसार में 'काव्यानंद' और 'ब्रह्मानंद' दो ही आनंद आध्यात्मिक आनंद माने गए हैं, अन्य आनंदों (जिन्हें 'सुख' या 'आराम' कहना चाहिए) शारीरिक होने से उतना अधिक महत्व नहीं रखते। 'काव्यानंद' ब्रह्मानंद-सहोदर कहा गया है, इसीलिये जिनके हृदय में 'काव्यानंद' का उद्रेक होता है 'ब्रह्मानंद' से भी उन्हें काम पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'काव्यानंदी' 'ब्रह्मानंदी' भी होता है। बिना 'ब्रह्मानंदी' बने वह 'काव्यानंद' का उतना अच्छा मज़ा नहीं ले सकता जितना उसे लेना चाहिए। यही

है कि चाहे कोई 'कवि' दार्शनिक भले ही न हो उसमे दार्शनिकना की गध अवश्य ही रहती है। वरन् यह कहना चाहिए कि जिस कवि मे इस प्रकार की दार्शनिकना की गध नहीं आती उसका हृदय 'उदार' नहीं हो सकना और 'उदार' हृदय हुए बिना 'सत्कवि' की पदवी पाना कठिन ही समझिए। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी हो सकनी है कि ससार के सभी बड़े-बड़े कवि दार्शनिक-हृदय के थे। इसलिये कविहृदय का अध्यात्मवाद से समवाय-सबध है।

अध्यात्मवाद के उदय के बारे मे यही कहा जा सकता है कि यह मनुष्य को अपनी अल्पज्ञता के अनुभव होने का परिणाम है और शरीर की नश्वरता एव शरीर मे रहने वाले किसी अलक्ष्य की चैतन्यता इसकी विधायिका है। जिस ब्रह्मांड में मनुष्य रहता है वह अनत है उसका पूरा-पूरा पता कोई भी नहीं पा सका। ब्रह्मांड की बात जाने दीजिए मनुष्य जिस पृथ्वी का निवासी है उसी की सपूर्ण बातें उससे अज्ञात हैं। यही क्यो वह अपने शरीर के भीतर की बातो से भी अनभिज्ञ है, यद्यपि शरीर सदा उसके नेत्रो के समक्ष अपने कार्य कलापो का नृत्य किया करता है। मनुष्य की इस अल्पज्ञता ने ही उसे अध्यात्मवाद की ओर बरबस झुका दिया है और अब त्रिकाल में भी यह अध्यात्मवाद मानव जीवन से भिन्न नहीं किया जा सकना। पाश्चात्य देशो में इसकी चर्चा कम हो जाय तो हो जाय पर अध्यात्मवाद के अनुरागी आर्यावर्त्त से इसकी उपेक्षा की आशा करना आकाशकुसुमवत् असत्य है। उक्त मानवाल्पज्ञता ने पाश्चात्य देश के अनीश्वरवादी वैज्ञानिको मे भी जब ईश्वरवादिता की आस्था उत्पन्न कर दी, तब इस देश की आस्तिक आत्माए भला इसके विरुद्ध कब हो सकनी हैं। आकाश के अनत आलोकमय तारा मडल तथा अन्य ग्रह आदि जब प्रत्यक्ष

रूप मे किसी शक्ति द्वारा सचालित न होते हुए भी परोक्ष रूप से किसी अज्ञेय, अजेय, अपरिमेय शक्ति द्वारा नियमपूर्वक सचालित होते आरहे हैं तो भला ससार आस्तिकवादी और तदुपरांत अध्यात्मवादी क्यो न हो ?

आत्मा का सबध किसी अलक्ष्य शक्तिसे क्यो बताया जाता है ? इसका सीधा-सादा उत्तर तो यह है कि जिस प्रकार अखिल ब्रह्मांडो को नियमपूर्वक सचालित करनेवाली कोई शक्ति होते हुए भी ससारी के लिये अदृश्य है उसी प्रकार शरीर मे चैतन्यता उत्पन्न करनेवाली शक्ति होते हुए भी वह अदृष्ट है। अस्तु, अवश्य ही इन अलक्ष्य युग्मो का कोई न कोई नाता होगा। सभव है प्राणी मे निवास करनेवाली छोटी अलक्ष्य-शक्ति उस अपरिमेय शक्ति का ही कोई न कोई अंश हो। अधिकाश दार्शनिको के मत से शरीर के भीतर बसनेवाली अज्ञेया-शक्तियाँ उस अतर्यां शक्ति की अश भूता हैं जो कल्पनासाध्य भी नहीं। पर वस्तुत रहस्य क्या है ? इसका ठीक-ठीक उत्तर आजतक न किसी से बन पड़ा है और न भविष्य मे ही बन पडने की आशा है। फिर भी मानव-समाज ने दार्शनिको के मनन किए हुए इस सिद्धात को भलीभाँति ग्रहण कर लिया है कि प्राणी मात्र के अभ्यतर मे वास करने वाली अलक्ष्य-शक्ति (जिसे 'आत्मा' कहते हैं) किसी सर्वशक्तिसपन्न शक्ति—परमात्मा—की अंगभूता है और किसी विशेष कार्य के लिये उससे वियुक्त हो गई है। यही कारण है 'आत्मा' और 'परमात्मा' के बीच प्रेमी और प्रिय की कल्पना करके 'अध्यात्मवाद' की अनोखी उक्तियाँ कवि कहा करते हैं। इसी का दूसरा नाम 'रहस्यवाद' भी है क्योंकि इस प्रकार रहस्य (भेद) की बातें कही जाती हैं। लोगों को ससार का रहस्य बताया या समझाया जाता है। यह 'रहस्य' इसी लिए है कि यह अज्ञेय है।

ईश्वर (परमात्मा) अनत है और ससारी सांत । इसलिए ससारी की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई है कि वह अनत बने, यही नियम है, जब 'अनत' को "एकोऽह बहुस्याम्" के अनुसार सांत होने की अभिलाषा हुई थी तो सांत में अनत बनने की वाछा उचित ही है। बस इसी अभिलाषा ने मानव हृदय के चतुरवेत्ता कवियो मे ईश्वर की ओर ससारी को ले जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है। जिन कवियों ने अनत की ओर ससार को ले जाने का उद्योग नहीं किया वे ससार को उसके विनाश की ओर ले जा रहे हैं। यद्यपि सात का अनत होना भी अपना अस्तित्व मिटा कर नष्ट होना ही है, पर यह 'लयता' शान्तिप्रद है और वह 'नाश' विभीषिका पूर्ण। इसी लिए पहले का नाम 'निर्वाण' है और दूसरे का 'नाश'।

अध्यात्मवाद दार्शनिक विषय है इसलिये ससार की रसिकता के समक्ष यह 'वाद' रस-लोलुपो को नीरस लगता है। भला रागा त्मक ससारी इन विराग भरी बातो मे आनद कैसे पा सकता है। पर कवियों की करतूत ने बेचारा अध्यात्मवाद भी 'सरस' बना दिया गया है। इसका कारण है कवि-हृदय की विशेषता। कवि सभी स्थानो में सौंदर्य का ही प्रत्यक्षीकरण करता है और शुष्क विषयो मे भी सरसता उत्पन्न करता है। जिसमे यह शक्ति नहीं वह स्वाभाविक कवि नहीं है। बस इन आनदी जीवो ने अध्यात्मवाद मे भी अपनी सरसता का रग चढ़ा दिया है। अभिप्राय यह है कि सासारिक बातो के वर्णनो द्वारा परोक्ष रूप से अध्यात्मवाद का व्यग्य करके उसे मानव हृदय-ग्राह्य कर दिया गया है। मनुष्य काव्य का, एव सांसारिक बातों के वर्णन का मजा भी लेता है और पारलौकिक बातो को भी हृदयगम करता है।

कवि यदि अपने कथन मे दर्शन के स्थूल या सूक्ष्म विषयो का प्रतिपादन करने बैठे और उसमें किसी प्रकार की रोचकता न लावे

तो स्वभावत' ससारी की उससे अनिच्छा हो जायगी। वह कवि के वर्णनो को चाव से न पढ़ेगा किंतु सिद्धहस्त कवियो में यही तो कौशल होता है कि वे 'अपावन ठौर में भी कचन' को ही ढूँढ़ निकालते हैं। इस प्रकार के वर्णनो मे पारलौकिक विषयो का सनिवेश दो रूपो में मिलता है। एक तो वह जहाँ पर पारलौकिक विषय प्रस्तुत और कथित विषय अप्रस्तुत होता है और दूसरा वह जहाँ कथित विषय तो प्रस्तुत रहता है पर अप्रस्तुत रूप मे पार-लौकिक या आध्यात्मिक विषय की ओर भी सकेत होता है। एक तीसरी अवस्था की भी कष्ट कल्पना की जा सकती है। जहाँ दोनो मे प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्णय कर लेना सन्देहात्मक हो। सच्चा अध्यात्मवाद तो पहले प्रकार में ही है। क्योकि वैसी अवस्था में कवि का अभिप्रेत ही आध्यात्मिक-विषय का व्यग्य होता है।

आजकल के नवयुवको ने इसी 'अध्यात्मवाद' का कल्पित और अशुद्ध नाम 'छायावाद' रख लिया है, जो अंग्रेज़ी के Mysticism या Mystic poetry का अनुवाद करने के प्रयत्न का परि-णाम है। अंग्रेजी साहित्य मे इसका उदय जल-यान-यात्रा में अथाह समुद्र के बीच किसी प्रदेश के गगन मडल मे पड़ते हुए प्रतिबिंब के देखने से हुआ है। अनत सागर के मध्य से यह कल्पित छाया बड़ी मनोहर दिखती है। कवियो ने इसी प्रकार सांसारिक कवि-ताओ मे ईश्वरी छाया के भावो को गर्भित करके कविता को मनोहर बनाने का उद्योग करना आरभ किया और उसका नाम Mystic poetry रखा। पर अंग्रेजी-साहित्य के विद्वानो को यह भाव बहुत पीछे सूझा और वह भी छाया ही-धुधला (इगलिश मे Mist का अर्थ कोहरा—धधला—है)। भारत के लिये यह भाव बहुत प्राचीन है। आदि ग्रंथ वेद ससार की सबसे प्राचीन पुस्तक हैं। उनमें अध्यात्मवाद और काव्य दोनो का सम्मिश्रण है। सस्कृत के भक्त

कवियो ने भी इसका पल्ला पकड़ा है। पर प्राचीन अध्यात्मवाद छायावाद की भाँति ऊटपटाँग नहीं है। जो मन में आवे बक देना और उसे छायावाद की कविता कह कर पुकारने लगना नितात अनुचित है । आधुनिक हिंदी साहित्य के सभी छायावादी कवि हमारे इस कथन मे नहीं आते। उनमे कुछ कवि वस्तुत अध्यात्मवाद की कविता करते हैं। उनकी कविता मे धाँधली नही मिलती, आत्मानुभूति के दर्शन होते हैं, किंतु बहुत से नवयुवक ऐसे भी हैं जिनका दार्शनिक विषयो से कुछ भी सपर्क नहीं जिनका अनुभव बहुत ही थोड़ा है और फिर भी वे अपनी कविता मे इस प्रकार का कोई 'परलोकवादत्व' लाने की असफल चेष्टा करते हैं।

अध्यात्मवाद की कविता दो प्रकार के कवि करसकते है। प्रथम वे जो स्वय मन तन से अध्यात्मवादी हो और दूसरे वे जो अपने अनुभव के बल पर अध्यात्मवाद की कविता करने का साहस करें और अपने कवित्व के बल से उसमे सत्याश ला सकें । आजकल प्रथम प्रकार का एक भी कवि देखने मे नही आता। दूसरे प्रकार के ही अध्यात्मवादी विशेष हैं। यहाँ तक कि आधुनिक छायावादियो के आचार्य कविसम्राट् रवींद्रनाथ ठाकुर महोदय भी द्वितीय श्रेणी के ही अंतर्गत आते हैं। श्री रवींद्र बाबू मनसा वाचा कर्मणा सब प्रकार अध्यात्मवादी नहीं कहे जा सकते पर उनका अनुभव इतना प्रबल है कि वे अपनी आत्मानुभूति के बल पर अपने वचनो मे अध्यात्मवाद की छाया ला सकते हैं जो मूल से सत्य न होने पर भी सत्य भासित होती है । नियमानुकूल तो वही कवि सच्चा अध्यात्मवादी कहा जा सकता है जो बाह्य और आभ्यतर दोनों रूपों मे अध्यात्मवादी हो, नहीं तो जिस सुग्गे ने 'अध्यात्मवाद' की बातें रट ली हैं वह भी उनकी आवृत्ति करते हुए अध्यात्मवादी कहा जा सकता है । गाँव के अपढ़ भी किसी की मृत्यु पर दूसरो को

उपदेश देते फिरते हैं 'ससार असत्य है' 'यहाँ कोई, किसी का नहीं' 'हाथ पसारे आया है हाथ पसारे जायगा' आदि। तो ऐसे लक्षणो को शुद्ध मानने पर वह अपढ़—पूरा विलासी ही क्यो न हो—'अध्यात्मवादी' कहा जा सकेगा। यद्यपि 'अध्यात्मवाद' का सीधा सबध आत्मा से है पर जब तक मनुष्य का शरीर और उसके व्यवहार भी उससे प्रभावित नही हो लेते तब तक उसमे व्यापकता नहीं आ सकती। जो 'आत्मा' शरीर पर भी अपना प्रभाव न उत्पन्न कर सकी वह किसी अलक्ष्य शक्ति पर अपना प्रभाव किस बिरते पर उत्पन्न कर सकेगी यह बात विचारने की है? ऐसी आत्मा का यह स्वर निर्जीव वाद्यों के स्वरो से अधिक मेल खा सकता है।

उक्त कथन का यह अभिप्राय नही है कि 'अध्यात्मवादी' साँचे मे पूर्णत ढले बिना 'अध्यात्मवाद, की कविता करना ढोंग है वरन्, इसका तात्पर्य यह है कि यदि कवि भी 'अध्यात्मवादी' बन गया हो तो उसकी कविता मे सच्ची सजीवनी शक्ति होगी। इस विचार को भी भुलाकर यदि दूसरे प्रकार के कवियो को भी कुछ वैसा ही पद देने का साहस किया जाय तो भी अनुभव की उपेक्षा तो त्रिकाल में भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति यों तो कविता मे भी पूर्ण रूपेण अपेक्षित है पर अध्यात्मवाद मे तो उसका पौने सोलहआना होना भी खटकनेवाला ही होगा।

इस कारण अध्यात्मवाद की सफल कविता करने के लिये आवश्यक है कि उसके रचयिता प्रौढ़ावस्था के सांसारिक अनुभव प्राप्त 'बूढे जन' हो। यौवनावस्था मे ही आत्मानुभूति की पराकाष्ठा हो जाना न तो कभी देखा ही गया है और न मनोविज्ञान से ही यह बात सिद्ध है। सभी लोग मानते हैं कि इस अवस्था मे रागात्मिका वृत्ति का जोर होता है और वह आत्मानुभूति को अपने कस में किये रहती है। यदि एकाध अपवाद कहीं से टपक पड़े तो यह

सिद्धांत काट कर फेंका नहीं जा सकता। पर अपवाद को भी सिद्धांत बना देना कुछ ऊटपटाँग ही है। आधुनिक हिंदी के नवयुवक छायावादियों को अल्पावस्था में ही सर्वज्ञता का दम भरने के दंभ ने जितना असन्मार्ग दिखाया उससे अधिक उन्हें 'छायावादी' बनने के शौक ने चौपट किया है।

हिंदी में भी इस प्रकार की कविता के प्रादुर्भाव का मूल-कारण बँगला और अंगरेज़ी साहित्य का अनुकरण है और उसमें सहायक होनेवाली बात है कविवर रवींद्र की ख्याति-सी प्रसिद्धि पाने की लालसा। यदि द्वेष आदि कुभावों से प्रेरित न होकर इसके लेखक ठंढे दिमाग से विचार करें तो वे स्वयं समझ लेंगे कि वे जो कुछ कविता करते हैं अपने 'स्वांतः सुखाय' न कर किसी प्रकार के लोभ से करते हैं। 'छायावाद' का नाम तो इस लोभ के चरितार्थ करने का आवरण मात्र है। हम यहाँ पर फिर कह देना चाहते हैं कि यह कथन सभी कवियों पर लागू नहीं हो सकता। जिन नवयुवकों ने सांसारिक अनुभव की कमी के होते हुए भी इस अलौकिक क्षेत्र में प्रवेश करने का दुस्साहस किया है उन्हीं की कविता में यह दोष पाया जाता है और कृत्रिम 'स्वर-ताल' के शिकंजे में कस कर व्यर्थ ही उसकी असिद्ध सार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। जो हमारे कथन को नहीं मानते उन्हें मम्मटाचार्य के निम्नलिखित कथन का मनन करना चाहिये। वे देखें उनके बताये ये तीन कारण कविता के लिये आवश्यक हैं या नहीं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

अवश्य ही इसमें कवि शक्ति मुख्य है फिर भी 'निपुणता' (अनुभव) और 'अभ्यास' की उपेक्षा सरासर की ही नहीं जा सकती। यदि अतुल 'शक्ति'-सम्पन्न मनुष्य भी निपुणता और अभ्यास न करे

तो उसकी शक्ति का स्फुरण नहीं हो सकता। इन दोनों में 'निपुणता' (अनुभव) अत्यतावश्यक है। क्योंकि "काव्यज्ञशिक्षाभ्यास-हीन" व्यक्तियों में भी वैसी प्रतिभा कभी-कभी देखी गयी है जैसे कबीर साहब, पर निपुणताहीन मे यह बात न तो देखी ही गई है, और न देखी ही जा सकती है। अस्तु हमारे होनहार नवयुवकों को अन्य साहित्यो का अन्धानुकरण न कर अपने साहित्य के अटल सिद्धांतों की ओर भी देखना चाहिए। अन्यथा उनकी कविता मे स्थायित्व न आ सकेगा और अनुभवहीन छायावादी कविता तो पुस्तक के पन्नों या मासिक पत्रिकाओं के पृष्ठों मे पड़ी-पड़ी भविष्य मे उनके उतावलेपन का एक चिह्न-मात्र रह जायगी। साहित्य को उससे कोई गौरव न प्राप्त हो सकेगा।

यहाँ पर हम हिंदी के प्राचीन अध्यात्मवाद पर कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं। संस्कृत-साहित्य तथा अन्य साहित्यो से इस कविता के इतिहास की पड़ताल करने बैठना हमारी इस पुस्तक के अनुपयुक्त होगा। उसका विवेचन और विश्लेषण किसी स्वतत्र लेख मे करना ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यों तो हिंदी के सभी भक्त कवियो ने कुछ न कुछ अध्यात्मवाद की बातें कही हैं पर वस्तुत अध्यात्मवादी कवि कबीर, जायसी, मीराबाई, दादू दयाल, दीनदयालु गिरि आदि कहे जा सकते हैं। इनमे कबीर साहब को हम हिंदी के अध्यात्मवादी कवियों का सम्राट् मानते हैं और जितनी भाषाओं से हमारा सपर्क है उनको देखते हुए तो हम कबीर साहब को ससार के अध्यात्मवादी कवियो मे सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। महाकवि रवीद्र भी इस विषय मे कबीरसाहब के ऋणी हैं, और की तो बात ही क्या? कबीर साहब के पाश्चात् दूसरे स्थान मे 'जायसी' का नाम लिया जा सकता है। कबीर साहब यद्यपि अध्यात्मवाद के जबर्दस्त लेखक हैं पर उनके अध्यात्मवाद मे

काव्यकला को कोई स्थान प्राप्त नहीं है पर जायसी का अध्यात्म-वाद शुष्क न होकर काव्यकला से पूरा-पूरा सामंजस्य रखता है।

कुछ समालोचक जायसी को प्राचीन हिंदी साहित्य का सर्व श्रेष्ठ अध्यात्मवादी कवि मानते हैं पर हमें इस बात में कुछ आपत्ति है। हम जायसी को इस विषय का एक जबर्दस्त कवि तो अवश्य स्वीकार करते हैं पर सर्वश्रेष्ठ नहीं। हमारे विचार में बाबा दीन-दयाल गिरि जी ने उनसे कम आध्यात्मवाद का स्पष्टीकरण नहीं किया है वरन् वे कुछ बढ़े हुए हैं। जायसी का रहस्यवाद चाहें कतिपय स्थानों पर स्पष्ट न हो पर इनका अध्यात्मवाद सर्वत्र सुस्पष्ट है। इस कारण हम इन्हें जायसी के पीछे मानने को तैयार नहीं हैं। हमने ऊपर अध्यात्मवादी कवियों की जो दो श्रेणियां की हैं, बाबा दीनदयाल गिरिजी उनमें पहली श्रेणी के ही अध्यात्मवादी हैं। उन्होंने जितनी बातें कही हैं वैसा आचरण भी किया है। उनका 'वाद' व्यापक था संकीर्ण नहीं। उनका हृदय इतना असांसारिक था कि उन्होंने अपने ग्रंथों में शृंगार को स्थान ही नहीं दिया वरन् स्थान स्थान पर शृंगारियों को फटकारा है। केवल शुद्ध प्रेम की व्यंजना के लिये गोपियों के विरह आदि का वर्णन किया है। साहित्य के रसज्ञों की रसशाला की परीक्षा द्वारा ये विरह के छंद भले ही शृंगार के अंग मान लिये जायें पर वे केवल शुद्ध प्रेम के भावों का दिग्दर्शन कराने के ही लिये लिखे गए हैं। उनका सांसारिक शृंगार से सीधे संबंध नहीं है। पर जायसी ने 'पदमावत' के 'समागमखंड' में जो वर्णन किया है उसमें साहित्यिक दृष्टि से अश्लीलता स्पष्ट है और उसके परिहार का कोई 'सूत्र' नहीं मिल सकता। भले ही जायसी के भाव ऐसे न रहे हों पर समाज के सामने इस प्रकार के वर्णनों का रखना स्तुत्य तो नहीं है। 'पदमावत' के अंत में जायसी ने अपनी पूरी पुस्तक को 'व्यंग्य' (अन्योक्ति) कहा है

अर्थात् उसका लक्ष्य ईश्वर संबंधी प्रेम बताया है। हो सकता है, पर सर्वांश में उसे अन्योक्ति मान लेना तो न्यायतः ठीक नहीं है। इसी प्रकार उर्दू के 'शायर' भी आशिक और माशूक के दर्दभरे दास्तानों को ईश्वर प्रेम का व्यंग्य कहते हैं। यदि ऐसी बात मानी जा सकती है तो जो लोग हिंदी साहित्य के 'नायिका भेद' को 'कड़ी-दृष्टि' से देखते हैं उन्हें इसे भी ईश्वर-प्रेम को 'अन्योक्ति' मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर प्रेम का व्यंग्य सभी प्रकार के *वर्णनों से नहीं किया जा सकता। हम यह मानते हैं कि ईश्वर* को 'परम पुरुष' और आत्मा को 'विरहिणी' मान कर ही अधिकांश में ईश्वर-प्रेम का व्यंग्य किया गया है और किया जाता है। पर स्मरण रखना चाहिए इसमें 'प्रेम मार्ग' के वासना-लोलुप हृदयों के 'चोचलों' का वर्णन न होकर सीधी-सादी बातें होती हैं। इसके लिये महात्मा कबीरदास और मीराबाई के एतद्विषयक पद उदाहरण स्वरूप उपस्थित किए जा सकते हैं, उर्दू के 'दस्ताने इश्क' नहीं।

ईश्वर का रूप 'सत्य शिव सुन्दरम्' कहा जाता है। कौन जानता है ईश्वर का यही रूप होगा? पर जिनके भाव उदार हैं, जिनकी भावना में अलौकिकता का समावेश हो चुका है वे ईश्वर के उक्त स्वरूप की भावना संसार की सभी सत्य,कल्याणकारी एवं सुन्दर वस्तुओं में करते हैं। यही कारण है अध्यात्मवादी कवि संसार में जहाँ कहीं चमत्कार देखता है वहाँ उसी ईश्वर की भावना करके गद्गद हो जाता है। इसी तन्मयता में वह ईश्वर का चित्र खींचने लगता है और अपनी वाणी द्वारा वह उसे संसार के सामने रखता है। संसार इसी में 'अध्यात्मवाद' का रूप लखता है। कहा जा सकता है कि क्या ईश्वर का रूप उक्त तीन ही गुण संपन्न

पदार्थों मे दृष्टिगोचर हो सकता है तो हो सकता है अन्यत्र नहीं ? पर यह एक शुष्क तर्क मात्र है, क्योकि इसका अर्थ व्यापक ही लेना उचित है न कि परिमित, क्योंकि ऐसी दशा मे स्वय ईश्वर को ही परिमित मान लिया जाता है। ईश्वर के विराट् रूप मे लता-पत्र, घास-पात उसके रोम कहे गये हैं, इन सबने ईश्वरीय भावना अध्यात्मवाद है। कवि हृदय और अध्यात्मवादी कविहृदय बड़ा उदार, बड़ा विस्तीर्ण और कारुणिक होता है। उसकी दृष्टि मे ससार की समस्त वस्तुए ईश्वरमय हैं और उसकी सत्यता का भास भी उस परब्रह्म की सत्यता का ही प्रमाण है। यही सच्चा अध्यात्मवाद है। इसका प्रत्यक्षीकरण जिन जिन कवियो ने किया है उन्होने ससार को सत्पथ दिखाया है और इस सासारिक अशाति मे भी उसे शाति प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया है। क्योकि ससार मे पारलौकिक कल्पना ही शाति दे सकती है।

ऊपर हमने अध्यात्मवादी कवियो की दो श्रेणियाँ स्थिर की हैं, एक सच्चा अध्यात्मवादी और दूसरा अध्यात्मवाद का लेखक—अंत करण से अध्यात्मवादी नहीं। बाबा दीनदयाल गिरि जी प्रथम श्रेणी के ही कवि है उनका हृदय भी अध्यात्मवादी था, इसके प्रमाण मे उनके ग्रथ उपस्थित किए जा सकते है। अध्यात्मवाद के भी तीन रूप हैं। एक वह जिसमे केवल दार्शनिक बातो का ही खोपड़ा खाया गया हो। दूसरा वह जिसमे दार्शनिकता और काव्यत्व दोनों बराबर मात्रा मे हो और तीसरा वह जिसमे काव्य की चकाचौंध मे दार्शनिकता उड गई हो। कहना नहीं होगा कि इनमे कविता के लिये दूसरा अध्यात्मवाद ही श्रेयस्कर कहा जा सकता है। क्योंकि कविता से साहित्यज्ञता का पल्ला छूट जाने से कोरी दार्शनिकता रोचक नहीं हो सकती और केवल काव्यत्व के शिकजे मे दबकर भी उसका रूप बिगड जाता है। प्रथम प्रकार की अधि-

कांश कविता महात्मा कबीर के ग्रथो मे मिलती है । दूसरे कैंड़े की कविता के दर्शन जायसी और बाबा दीनदयाल गिरि के ग्रथो मे पाई जाती हैं, तीसरे ढग की कविता 'केशव' ऐसे काव्याचार्यों के ग्रन्थो में मिल सकती है ।

अध्यात्मवाद के लेखक ईश्वर का वर्णन करते हुए समाज का ही आश्रय लेते हैं और प्रधानत प्रेम की पद्धति को ग्रहण कर ईश्वर सबधी प्रेम की व्यजना मे सलग्न होते हैं। ससार मे सबसे अधिक दृढ सबध पुरुप और स्त्री का ही समझा जाता है, बस इसी के आलबन से अध्यात्मवाद की अधिकाश कविताएं कही गई हैं। यो तो और भी अनेक सबधो के लगाव मे कविता का प्रणयन होता है, फिर भी यही मुख्य है और होना भी चाहिए। साहित्य के रसज्ञो का मत है कि और प्रकार के प्रेम 'रसता' को प्राप्त नहो होते वे केवल भाव मात्र हैं,—रसाभास है, केवल स्त्री पुरुप का प्रेम ही 'रसता' को प्राप्त हो सकता है। जो कुछ भी हो ससार मे अब भी स्त्री पुरुप के सच्चे प्रेम की बड़ी महिमा है और उसका स्थान दृढता के विचार से सब प्रकार के प्रेमो मे बढ़कर है। अस्तु इस कैंडे के कवि ईश्वर को नायक और जीवात्मा को नायिका मान कर कविता करते हैं और जीवात्मा को विरहिणी के रूप मे दिखाते हैं। वैष्णव सप्रदायो मे भी इस प्रकार का अध्यात्मवादी सप्रदाय मौजूद है पर उसमे व्यापकता के स्थान पर कुछ सीमित रूपता आ गई है। इसी प्रकार के सप्रदाय क्यो प्राय सभी सप्रदायो मे व्यापकता का वह रूप नहीं रह गया है। कवि-हृदय सदा व्यापकता का ही दर्शन कराता है। बाबा दीनदयाल जी की कविता से कुछ उदाहरण लीजिये —

> पिय तें बिछुरे तोहि री चिते बहुत है रोज ।
> पिय पिय पपिहा जड़ रटै तू न करै पिय-खोज ॥

तू न करे पिय खोज किते दुरमति मे भूली।
होन लगे सित केस कौन मद मे अब फूली॥
बरनै दीनदयाल सुमिरि अजहूँ तेहि हिय तें।
है सब तेरी चूक नहीं कछु तेरे पिय तें॥

उक्त छंद में आत्मा को उत्तेजित करने के लिये पपीहा के 'पी पी' कहने की बात कह कर ज्ञानहीन पक्षियो मे भी प्रियतम के प्रेम-विरह की व्यंजना दिखाई गई है। उस परम-पुरुष के पाने के लिये सारा ससार विरह-व्याकुल है, इस कथन मे कितनी मार्मिकता है। पक्षियों में 'प्रिय-प्रेमी' की कल्पना काव्यत्व के ही सहारे की गई है, पर उसमे कितनी स्वाभाविकता है यह विरह-व्यथा के अनुभवी समझ सकते हैं। प्रियवियुक्त व्यक्ति ससार मे इसी बात को देखता है। कोई पक्षी कुछ बोला कि उसे प्रियतम के सबंध मे ही उसकी ध्वनि निकलती ज्ञात होगी। यह प्रेम की अत्यत उच्च और पवित्र कल्पना है। बंग।साहित्य के उद्भट लेखक माइकेल मधुसूदन-दत्त महोदय ने भी इसी प्रकार की अनुभूति से प्रेरित होकर एक 'मोरिनी' को लक्ष्य करके किसी विरह-विदग्धा से कहलाया है—

"शिखिन विरस वदना हो बैठी तरु शाखा पर तू कैसे।
तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे॥
तू भी है दुखिया क्या आहा! उन पर कौन नहीं मरता?
किसे नहीं शशि शीतल लगता किसका हृदय नहीं हरता।

—('मधुप' कृत हिन्दी अनुवाद से)

सच्चा प्रेम तो वही है जब प्रियतम के विरह मे व्याकुल होकर मनुष्य ससार मे उसी की भावना मे मस्त होकर पेड़-पत्ती और पशुओ पक्षियो से भी उसी प्रेम गाथा की चर्चा चलाने लगे। जिसमे इतने ऊँचे दर्जे का प्रेम नहीं है उन्हे 'प्रेम-पाठशाला' मे अपना नाम कटवा लेना चाहिए। ठीक इसी प्रकार जिस आत्मा मे शरीर

की वृद्धता के आने पर भी सांसारिकता का चस्का लगा है उसको कैसे शांति मिल सकती है। आत्मा को 'पनिहारिन' बनाकर देखिए संसार के आवागमन का प्रसिद्ध सिद्धांत किस खूबी से प्रतिपादित किया गया है।

पनिहारी इहि सर परे लरति रही सब पाँह।
रीतो घट लै घर चली उतै मारिहै नाह॥
उतै मारिहै नाह काह तिहि ऊतर दै है।
रोय रोय पति खोय फेरि सर पै फिरि ऐहै॥
बरनै दीन दयाल इतै हँसिहैं सब नारी।
ख्वारी दुहुँ दिसि परी अरी ग्वारी पनिहारी॥

संसार मे आत्माएँ किसी विशेष कार्य के लिये ही अवतरित होती हैं फिर भी वे अपने कार्य को सपन्न न कर सासारिक विलासिता को आलिंगन करने मे लग जाती हैं, यह उनके लिये खेद की बात है। पर होता विपरीत ही है कितनों का 'घट' खाली जाता है और उसी के भरने के लिये फिर आना पड़ता है। यदि घड़ा भर जाय, ईश्वर की तल्लीनता प्राप्त हो जाय और आत्मज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हो उठे तो फिर 'घड़ा' भरने आने की आवश्यकता नहीं। 'पिय' और 'तिय' का अखंड संयोग हो जाय।

इसी संबंध मे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अध्यात्मवाद की कविताओं मे प्राय अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया गया है। ईश्वर से आत्मा की जो भिन्नता दिखाई जाती है उसे विशिष्टाद्वैत न मान कर अद्वैतवाद का ही रूप समझना चाहिए। विशिष्टाद्वैत तो वहाँ पर माना जा सकता है जहाँ ईश्वर की एकात्मता लक्ष्य न होकर उससे भिन्नता ही लक्ष्य हो। वैष्णव संप्रदाय के बहुत से भक्तों का यही लक्ष्य होता है, वे ईश्वर में अपने को लय नहीं करना चाहते, वे ईश्वर का प्रेम भर

चाहते हैं। बारबार उन्हें जन्म लेना प्रिय है, केवल ईश्वर से अप्रेम ही उनके लिये खटकने वाली बात होती है। तुलसीदास जी ने भरत जी के निम्नलिखित कथन द्वारा इस बात का लक्ष्य कराया है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

बाबा दीनदयाल गिरि जी ने भी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है उसमे जहाँ कहीं विशिष्टता का लक्ष्य होता है वहाँ आत्मा का ईश्वर से विप्रयोग ही इसका कारण समझना चाहिए, 'विशिष्ट वाद' नहीं। क्योंकि विशिष्टाद्वैतवादी 'सेवक सेव्य भाव' को मानते हैं और अद्वैतवादी 'प्रेम-भाव' को। निम्नलिखित छंद मे यही बात है।

चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस सदोह॥
सुहृद हंस सदोंह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥

सच्चा अध्यात्मवाद यही है।

अधिक उदाहरणो की आवश्यकता नहीं पुस्तक मे अधिकांश उक्तियाँ अध्यात्मवाद की ही हैं। हाँ दीनदयाल जी के इस अध्यात्म-वाद की कुछ समालोचना कर देना भी उपयुक्त होगा। यद्यपि बाबा दीनदयाल गिरि जी की अधिकाश उक्तियाँ इसी ढग की हैं जिनमे काव्य और अध्यात्मवाद दोनों का सामजस्य है पर फिर भी जहाँ बरबश काव्यत्व का प्रयोग किया गया है वहाँ दार्शनिकता की व्यंजना में अड़चन पड़ती है। जहाँ जहाँ इन्होंने अपना कवित्व दिखाने का प्रयत्न किया है वहाँ वहाँ यह बात स्पष्ट देखने मे आती

है। यद्यपि इन्होने अपने पाडित्य से उसमे वास्तविकता लाने का उद्योग किया है पर फिर भी हम उसे प्रशसनीय प्रयत्न कदापि नहीं कह सकते। बाबा दीनदयाल गिरि जी अध्यात्मवाद के उद्भट लेखक हैं इसमे सदेह नही, पर कबीर साहब के अतिरिक्त सर्व-श्रेष्ठता का सेहरा दूसरे के सिर नहीं बाँधा जा सकता। हमारे विचार से आजकल के छायावादी कवियो को अन्य भाषा के कवियो के अतिरिक्त अपनी भाषा के इन कवियों का अनुकरण कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा। अधिक न लिख कर कभी महात्मा कबीरदास के सबध मे लिखते समय इस बात का अधिक विवेचन उपयुक्त होगा।

४—आलोचना

काव्य के दो मुख्य भेद होते हैं। दृश्य काव्य और श्रव्य-काव्य। दोनो के नाम से ही उनका लक्षण स्पष्ट है। अत उनके विस्तृत विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं। दृश्यकाव्य के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं जिन्हें हम नाटक, रूपक आदि कहते हैं। यद्यपि ये श्रव्य-काव्य भी कहे जा सकते हैं, पर सुनने की अपेक्षा उनका रगमच पर प्रत्यक्ष अभिनय देख कर और भी अधिक आनद होता है, साथ ही श्रव्य-काव्य की अपेक्षा इनका प्रभाव भी तभी अधिक पड़ता है जब ये रगमच (Stage) पर खेले जायँ। श्रव्य-काव्य केवल कान के विषय हैं। इनको सुन कर या पढ़ कर ही हम अलौकिक आनद तथा महत्वपूर्ण उपदेश ग्रहण कर सकते हैं। प्रबन्ध भेद से श्रव्यकाव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं। प्रबध-काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबध-काव्य मे काव्य की वस्तु एक होती है। आदि मे लेकर अंत तक एक एक अध्याय, एक एक श्लोक

कथानक या वस्तु के सूत्र मे इस प्रकार गुथा रहता है कि हम उसको अलग नहीं कर सकते। समग्र काव्य से उसको निकाल देने से उसमें वह चमत्कार नहीं प्रतीत होता। साथ ही उसके अभाव मे काव्य के चमत्कार मे भी बहुत कुछ न्यूनता आजाती है। सारांश यह कि एक एक श्लोक प्रबंध के आश्रित रहता है। प्रबंध से भिन्न उसका कोई महत्व नहीं।

"मुक्तक काव्य" इसके ठीक विपरीत होता है। "मुक्तक-काव्य' का लक्षण है "अन्यै (श्लोकै) मुक्त इति मुक्तकम्*", अर्थात् जहाँ एक पद्य का अपने पूर्ववर्त्ती अथवा परवर्ती किसी भी पद्य से संबंध न हो, अपने अपने विषय को प्रकट करने मे प्रत्येक पद्य पृथक् पृथक् पर्याप्त हो, ऐसे पद्य को "मुक्तक' कहते हैं, इसी का नामांतर "उद्भट" या "स्फुट (फुटकर)" भी है। जिस ग्रंथ मे ऐसे "मुक्तक-काव्य" संगृहीत हो उसे "कोष" कहते हैं। "मुक्तक" स्वय एक काव्य है। पूर्वापर प्रसग के बिना ही उसमे पूर्ण भाव, पूर्ण चमत्कार लक्षित करना होता है। अत प्रबंध काव्य की अपेक्षा "मुक्तक-काव्य" रचने मे ही कवि-कौशल झलकता है। एक ही पद्य मे समस्त भावो का समावेश करना, रसो का पूर्ण परिपाक दिखलाना, सारे प्रबंध-काव्य की सामग्री को बंद करना वास्तव में "गागर मे सागर" भरना ही है। जहाँ प्रबंध-काव्य में कवि को विस्तृत-क्षेत्र मिल जाता है वहाँ 'मुक्तक' मे क्षेत्र अत्यन्त सकुचित होता है। अत मुक्तक-काव्य रचना भी कोई हँसी खेल नहीं है। इस सिद्धांत पर विचार करने से दीनदयाल जी का प्रस्तुत ग्रंथ भी "मुक्तक-काव्य" या "फुटकर-काव्य" ही कहा जा सकता है। अब हम मुक्तक-काव्य की कसौटी पर कसकर "अन्योक्ति-कल्पद्रुम'

* मुक्तमन्येन नालिंगित, तस्य सज्ञाया कन्। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्। —श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य।

के खरे खोटे होने का निर्णय करेंगे। मुक्तक काव्य मे दो ही प्रधान आलोच्य विषय हैं भाषा और भाव। पहिले हमें यह देखना होगा कि जिस भाषा मे काव्य रचना की गई है उस पर कवि का अधिकार कहाँ तक है। तब यह विवेचन करेंगे कि कवि उस भाषा मे अपने भावो को प्रकट करने मे कहाँ तक सफल हुआ है। तत्पश्चात् हम कह सकेंगे कि "दीनदयाल" जी सफल कवि थे या नहीं। अस्तु, पहले "भाषा" को ही लीजिए।

(अ) भाषा

कोई सुकवि अपने भावो को किसी भी भाषा मे व्यक्त कर सकता है। इसके लिये कोई विशेष बंधन नहीं हो सकता। तब भी हम देखते हैं कि हिंदी के प्राय सभी कवियो एव महाकवियो ने ब्रजभाषा को ही अपनी कविता के लिये उपयुक्त माना है। इसका कारण ब्रजभाषा की स्वाभाविक लोच एव नैसर्गिक माधुर्य ही है। हिंदी जगत् ब्रजभाषा के लालित्य से खूब परिचित है। किसी भी रस की कविता उत्तमता से करने के लिये ब्रजभाषा मे अद्भुत शक्ति है। आवश्यकतानुसार हम रस के अनुकूल बनाने के लिये ब्रजभाषा को अपने ढाँचे मे ढाल सकते हैं। सभी प्रकार के भावो को व्यक्त करने के लिये ब्रजभाषा मे शब्दो की कमी नहीं। कमी पड़ भी जाय तो ब्रजभाषा की पाचन-शक्ति इतनी प्रबल है कि वह किसी भी विदेशी भाषा के शब्द को बड़ी आसानी से "ब्रजभाषात्व" देकर हजम कर जाती है—अपना लेती है। एक ही शब्द के अनेक रूप ब्रजभाषा मे प्रयुक्त होते हैं। अतएव छद-रचना करने एव 'तुक' मिलाने के लिये भी ब्रजभाषा मे सुगमता होती है। कवि को भाषा के खड़ेपन का दास न बनकर भावो को सुरक्षित रखने की शक्ति होती है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण

अधिकांश कवियों तथा महाकवियों ने व्रजभाषा को ही अपनी रचना का आधार बना कर उसे गौरवान्वित किया है। यही कारण है कि व्रजभाषा आज दिन अन्य भाषाओं के सामने अभिमान एवं गौरव से सिर ऊँचा किए है। व्रजभाषा का अतीत उज्वल रहा है, और जब तक सूर, तुलसी, विहारी आदि कविवरों का साहित्य हिंदी संसार में आदर पाएगा भविष्य में भी इसकी कीर्ति अविचल एवं अक्षुण्ण रहेगी।

दीनदयाल जी की भाषा भी व्रजभाषा ही है, और यह उनके भावों को व्यक्त करने के लिये है भी उपयोगी। एक सुकवि होने के कारण इनकी भाषा प्रसाद-गुण-परिपूर्ण है। अन्योक्ति-कल्पद्रुम की कविता शांत-रस की होने के कारण माधुर्य-गुण से संपन्न है। भाषा का सबसे प्रधान गुण तो यह है कि भाव स्पष्ट हो जाय, भाषा के चक्रव्यूह में भाव-भटक न जायें। दीनदयाल जी की भाषा में यह गुण पर्याप्त-मात्रा में है। भाषा के बाहरी आडंबर से भावों की हत्या करना इनको अच्छा नहीं लगता था। कविता में स्वाभाविकता लाने के लिये जन-साधारण में प्रचलित मुहावरों और ठेठ शब्दों का प्रयोग आवश्यक है। सुकवि को उनके प्रयोग के लिये कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। वे तो सर्व साधारण बोलचाल के होने के कारण कवि जिह्वा पर चढ़े रहते हैं, और जब तक कवि स्वयं जान बूझ कर उनसे बचने की चेष्टा न करे स्वतः आ ही जाते हैं। एक बात और भी है। कवि प्रातीयता से अलग नहीं हो सकता। अपनी जन्मभूमि की बोलचाल के मुहावरों या शब्दों का प्रयोग उसके लिये स्वाभाविक ही है। दीनदयाल जी बनारस के रहनेवाले थे। अतः उनकी कविता में ऐसे प्रयोग बहुत अधिक परिमाण में दिखलाई देते हैं जो केवल बनारस में ही बोले जाते हैं। भाषा 'व्रजभाषा' होते हुए भी उसमें स्थान स्थान पर

'बनारसी" भाषा का पुट दिखलाई पड़ता है। बनारसी मुहावरों का प्रयोग देखिए—

मारि डारिहैं बार भजो ये फिरैं "अनेरैं"।

यहाँ "अनेरैं" शब्द "अनयरत" का विकृत रूप है। काशी में अब भी ऐसे ही अर्थ मे बोला जाता है, "क्या अनेरै घूम रहे हो ?" और भी देखिए—

(१) मन को खेद न करिए तरु पच्छिन को "भरु पाय"।

(२) नाहीं कछु फल फूल तो "बज्यो नाम" मदार।

कहीं कहीं दीनदयाल जी मुहावरे गढ़ भी लेते हैं जैसे—

(१) परावार अपार धार सिर "कीट करे" हो।

यहाँ "कीट करना" कोई अच्छा मुहावरा नहीं जँचता। हमें तो यह गिरिजी की गढ़ंत ही जान पड़ती है। इस मुहावरे का प्रयोग उन्होंने एक दूसरे स्थान पर भी किया है—

(२) बरनै दीनदयाल तिनै नृप "कीटन कीनै"।

कहीं कहीं इनके मुहावरे गढ़ने का ढंग भी बड़ा विचित्र है। जैसे—

(१) सोरें कोस करैं महा किलकारैं इत कोल॥

यहां "शोर करना" मे "शोर" शब्द को अलग करके उसके बहुवचनांत प्रयोग के साथ क्रिया पद को मिलाया है। इसी प्रकार—

(२) समक लोमरी आदि स्वतंत्र करैं सब राजैं॥

यहाँ भी "राज करना" के "राज" शब्द के बहुवचनांत प्रयोग के साथ क्रिया-पद जोड़ा है। हमे तो ये प्रयोग अनुचित जान पड़ते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी ये अशुद्ध हैं। इनसे कवि की रचना मे शिथिलता प्रकट होती है।

ठेठ बनारसी शब्दों का प्रयोग तो इन्होंने बहुत अधिक मात्रा में किया है—

(१) तूल "कुवतियाँ" त्यागि भए सतसोभा भाजन।
(२) बरनै दीनदयाल तोहि मथि करिहैं "काहल"।
(३) "फोकट" नाम सुनाय नहीं कछु काम सरै है।
(४) तजि "कुटिहया" को मोह यही बंधन है तोको।
(५) ऐसी "धोनी" धोइ जो मैलो होइ न फेरि।

"धोनी" शब्द ठेठ बनारसी है। इस का प्रयोग कबीर साहब ने भी किया हैं, "ऐसी धोनी धोव तू ।"

(६) बरनै दीनदयाल सबै श्रम जैहैं "खाली"।
(७) बरनै दीनदयाल कौन यह तेरी "चाली"।

"चाली" का प्रयोग ब्रजवासी या बुंदेलखंडी भी करते हैं। 'पद्माकर' ने लिखा है—

"दाहन तें दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन तें
चिल्लिन तें चौगुनी चलांक चक्र "चाली तें"।

(८) बरनै दीनदयाल "जटै" इन "जटी" सुकाही॥

ठगने के अर्थ में जटना बनारस में प्रतिदिन काम आता है। (शायद बनारस में ही इसका प्रयोग होता हो)।

(९) दुख दीनता मलीन उलूक रहैं ढिग "ढूके"।

दीनदयाल जी संस्कृत के प्रखर विद्वान थे। तब भी इनकी कविता में 'केशवदास' जी की तरह संस्कृत शब्दों की भरमार नहीं है। संस्कृत के वे ही शब्द इनकी भाषा में आए हैं जो साधारण बोलचाल में प्रसिद्ध हैं। किंतु संस्कृत के अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से वे अपने को सर्वथा बचा नहीं सके। जैसे—

(१) ता छिन तें बरसन लगे अमृत को तजि 'ग्राव'॥

'ग्राव' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'पत्थर' होता है। पत्थर 'ओलों'

को भी कहते हैं। इसी कारण दीनदयाल जी ने भी ओले के अर्थ मे 'ग्राव' शब्द का प्रयोग कर ही दिया। सस्कृत में 'ग्राव' शब्द भले ही परिचित हो पर हिंदी मे इसका प्रयोग कुछ क्लिष्ट अवश्य जान पडता है। इसी प्रकार "देवन" शब्द को लीजिए—

(२) वरनै दीनदयाल सेइ कै सोभित "देवन"।

यह शब्द शुद्ध सस्कृत शब्द है जिसका अर्थ "बगीचा" होता है। हिंदी में "देवन" शब्द देवताओ के ही अर्थ मे प्रयुक्त होता है। "बगीचे" के अर्थ मे इसका प्रयोग भ्रमात्मक है। अत यह "अप्रयुक्त" दोष माना जायगा। एक और भी उदाहरण लीजिए—

(३) "सानुमान" कहि अचल कहि सब जग करैं बखान।

यहाँ "सानुमान्" शब्द भी शुद्ध सस्कृत है, जिसका अर्थ पर्वत होता है। पर हिंदी मे यह शब्द अप्रयुक्त है। श्लेष से इसका अर्थ "शान वाला" लेने से और भी क्लिष्टता आगई है।

अन्य कवियों की भाँति दीनदयाल जी भी विदेशी भाषा के शब्दो का व्यवहार करने मे मुक्त-हस्त रहे हैं। पर हाँ, उनको भी अपने ही ढाँचे में ढाल लिया है। कई शब्द तो ऐसे हैं जो विदेशी होते हुए भी सर्व साधारण मे बोले जाते हैं अत उनको विदेशी न कहकर स्वकीय ही मान लेने मे कुछ भी अनौचित्य नहीं है। उदाहरण लीजिये—

(१) गिरा नचाव सुरोन सिद्धिदायक सब "लायक"।
(२) महा छली है मधुप यह कहा करै "इतबार"।
(३) छाँडि "ऐब" दै हाथ को पछितहु जनि ठान।

उक्त तीनो शब्द "अरबी" भाषा के हैं जिनका प्रयोग दैनिक बोलचाल मे बहुत पाया जाता है।

(१) हरे "दरद" है सरद हिय करे मोद सदोह।
(२) हैं छलमय पज के असद ए "कागद" के फूल।
(३) तोहि "सराय" समाज छूटि साथी सब जैहैं।

(४) पियतें बिछुरे तोहि री बिते बहुत हें "राज" ।

ये चारो "फारसी" शब्द भी अति प्रयुक्त व्यावहारिक शब्दो मे मे हैं ।

'अरबी' 'फारसी' के कई ऐसे शब्दो का भी इन्होने प्रयोग किया है जो हिंदी मे प्रचलित हैं । कुछ घोर 'फारसी' 'अरबी' शब्दो के भी उदाहरण लीजिए—

(१) भोगत सुख 'अवोह' मोह दुख होय न ताके ।

(२) बोलन लगे 'नकीब' इक अब तो तिहुँ बाजे ।

(३) 'जामा' जीरन भयो कहा अब सोवै दरजी ।

(४) तोरें मति तरु मूल तें फूल सहित हित 'नूर' ।

इन चारो शुद्ध 'फारसी' के शब्दो में से प्रथम तो एक दम अप्रचलित है अंतिम तीन "अल्प प्रचलित" हैं ।

(५) करटन की "मिरियासि" रहैं या को सठ घेरे ।

यह शब्द 'अरबी' का है । इसका शुद्ध रूप "मीरास" है जिसका अर्थ "पिता की संपत्ति (बपौती)" है ।

दीनदयाल जी आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओ से शब्द उधार लेना अनुचित नहीं समझते थे । इसी कारण उनकी ब्रजभाषा मे 'खड़ी बोली' के भी अनेक प्रयोग हैं । अथवा यह भी कह सकते हैं कि सामयिक होने के कारण वे अपने को खड़ी बोली के प्रयोगो से बचा नही सके ।

(१) बरनै दीनदयाल "रहैगि" न है यह सचला ।

(२) या ठौर मजाहिका सुर सुनि "मोहैगी न" ।

(३) द्वै वन विनै प्रपच कहो को क्रूर "कहै है" ।

तीसरा प्रयोग मेरठ के आसपास के प्रांत का है । कुछ लोग इन्हे शुद्ध ब्रजभाषा भी कहते हैं ।

(५) कियो कृपालु महीस मुकुट "क्या" है चिंतामनि ।

यहाँ 'क्या' के स्थान मे 'का' बड़ी आसानी से हो सकता था। मात्रा की कमी बेशी भी बाधक नहीं हो सकती थी। इससे मालूम पडता है कि इनको खड़ी बोली का प्रयोग केवल आवश्यकतानुसार ही नहीं करना पड़ता था। ब्रजभाषा मे खड़ीबोली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

कवि लोग निरकुश माने जाते हैं। दीनदयाल जी ने अपने इसी अधिकार का कम लाभ नहीं उठाया। पहला अधिकार कवियो को आवश्यकतानुसार शब्दो को विकृत करना है। कवि मात्रा या तुक अथवा गति के लिये शब्दों का रूप बदलने मे स्वतत्र है। पर इसका यह आशय नहीं कि कवि अउबड जैसा मन मानै वैसा ही रूप बिगाड़ दे। इतनी स्वतत्रता भी कवि को नहीं है। शब्दो को विकृत करने में भी कवि स्वाभाविकता का सीमोल्लघन नहीं कर सकता।

"अन्यदुच्छृङ्खल सत्वमीयच्छास्त्रनियन्त्रितम्"।

दीनदयाल जी ने भी शब्दो का रूप बदल दिया है। कहीं मात्रा के लिये रूप बिगाड़ा है तो कही तुक के लिये।

(१) या मे फोकट नाम "अडबर" सुनियत एकै।

यह शब्द केवल मात्रा कम करने के लिये विकृत किया गया। और भी देखिए—

(२) कहा भयो अलि मलिन हिय जो नहि आदर "कीय"।

(३) बरनै दीनदयाल छाँह मुद देति "अनेकै"।

(४) महा समर या ठाँव चलै सर कुत "कृपानै"।

यहाँ 'कमनीय', 'एकै', और 'आनैं' के तुक के लिये उक्त शब्दो का रूप विकृत करना पड़ा है।

तुकात के लिये पुलिंग स्त्रीलिंग का भेद भी इन्होंने छोड़ दिया—

(५) कूर न कोमल होहि कला जो कीजे "केतो"।

'चेतो' के तुक के लिये 'केती' का 'केतो' कर दिया। 'कला' स्त्री लिंग है। अत इसका विशेषण भी स्त्री लिंग ही होना चाहिए था।

(६) बरनै दीनदयाल यथा मजनू मन "लैली"।

कह नहीं सकते कि यह परिवर्तन दीनदयाल जी ने क्यों किया? वे फारसी के भी जानकार थे। अत॰ हमारी समझ मे लैला को "लैली" "थैली" के तुकात के लिये ही लिखा गया है। और 'ई' कार स्त्रीलिंगत्व के अत्यंत सन्निकट है भी।

(७) "भौंरा !" अंत वसंत के है गुलाब इहि रागि।

'भौंरा' शब्द का संबोधन में "भौरे" होता है। पर 'तुकात' के लिए भौरा ही रहने दिया गया है। ऐसा तो इन्होने अत्यधिक किया है और लोग भी करते हैं।

महात्मा सूरदास जी की भाति इन्होने भी बड़े बड़े विचित्र प्रयोग किए है। जैसे—

(१) बरनै दीनदयाल सरल को कछू न "देवत"।

(२) आछी भाति सुधारि कै खेत किसान "बिजोय"

यहाँ 'बीज बोना" के अर्थ मे 'बिजोना' एक विचित्र क्रिया बनाली है।

(३) भखत कुब्याल कराल "चाल या नहीं भली में"।

कई प्रयोग तो इतने अस्पष्ट हैं कि उनके अर्थ में धोखा हो जाता है। सहसा उनका कुछ और ही अर्थ जान पड़ता है पर वह किसी और ही अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है।

(१) ग्वारी दुहुँ दिसि परी अरी "ग्वारी" पनिहारी।

यह शब्द 'गँवारी" के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। पर सहसा 'ग्वारी' शब्द से "ग्वालिन' का ही अर्थ ध्यान मे आता है।

(२) सोहै नहि "सज" सुमन ! तो आज ढिग नखरो नाज

यहाँ "सज" शब्द "सद्य." के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है, पर अस्पष्ट है। 'सज' का अर्थ सज्ज्' धातु से 'सुन्दर' या 'सुसज्जित' भी लिया जा सकता है। इस प्रकार के अस्पष्ट प्रयोग भी एक नहीं अनेक हैं—

(३) "दीने ही चोरत" अहो इन सम चोर न और।
(४) एकै नाम न भूलि अलि "इतो कथन मदार"।
(५) हा! किमि धारै धीर वीर 'या पीर कहूँ किस"।

कुछ अन्य भाषाओं के भी विलक्षण प्रयोग देखिए—

(१) "सरमै लगे है" अवसर हैं समुझि यह ।

यह "शरमाने लगे हैं" के अर्थ में उर्दू का बड़ा विचित्र प्रयोग है।

(२) "भयो कि" मूढ़ द्रयो न जो सुनिकै पचम नाद ॥

यह एक और विलक्षण प्रयोग है जो बगला से मिलता है। तुलसीदास जी ने भी एक स्थान पर ऐसा ही प्रयोग किया है—

"चेरि छाडि अब 'होब कि' रानी" ॥

इन दोनो मे "कि" का अर्थ "क्या" (और कैया) है। तुलसी और सूर की तरह सज्ञा शब्दो से क्रिया बनाना इन्होने भी नहीं छोड़ा। कहीं कहीं तो वे प्रयोग विलकुल स्वाभाविक हैं। वैसा करना कविता के लिये आवश्यक एव समुचित भी है। देखिए—

(१) वरनै दीनदयाल दरसि पदद्वद्ध "अनदौ"।
(२) तैसे ही "अनुरागि" त्यागि मति मैली थैली।
(३) इनहीं के मुख लखैं वैन इनके अभिलाखैं"।
(४) एक घोर वरजोर चोर "निर्दै" दुखदानी।

ये सब स्वाभाविक हैं। इनको क्रियापद मानने में कोई आपत्ति भी नहीं जान पड़ती। किंतु कुछ सज्ञाए तो जबर्दस्ती क्रिया बना दी

गयी हैं। ऐसी अवस्था मे "निरकुशा' कवय" के अधिकार का दुरुपयोग ही कहना पड़ता है।

(१) वरनें दीनदयाल कहा खटपद ये 'करमैं"।
(२) सुनै कौन या ठौर जिते ये खल के "सोरैं"।

यहाँ 'कर्म' का बहुवचन और 'शोर' का बहुवचन बना देने मे अनौचित्य है।

दीनदयाल जी ने 'सु' का प्रयोग भी बहुत किया है। "सु" आदि केवल पादपूरणार्थक ही नहीं होते। इनका समुचित प्रयोग भाषा मे विशेष अर्थ का द्योतक भी होता है। सस्कृत के कवि च, खलु, किल हि तु इत्यादि शब्दों को भी केवल पादपूरण के लिए प्रयोग करने मे दोष समझते हैं। कारण इससे कवि के शब्द-कोष मे कमी जान पड़ती है जिसके कारण कवि को अभीष्ट शब्द के अभाव मे सु' आदि का प्रयोग करना पड़ता है। दीनदयाल जी मे यह शैथिल्य भी कुछ न कुछ पाया जाता है। उदाहरण अनेक हैं—

(१) शिशिर 'सु' आप प्रसाद जगत सब ही सुख पावैं।
(२) जिन ससिन को सींच तुम करी 'सु' हरी बहार।
(३) कीजे गमन 'सु' मानसर।
(४) यह अन्योक्ति सु' कल्प द्रुम।
(५) वरनै दीनदयाल 'सु'-नाट्य कला सुर वाजा।

दीनदयाल जी की भाषा प्रौढ़ नहीं है। यह व्याकरण से तो अनेक स्थलों पर अशुद्ध है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि सस्कृत के धुरधर विद्वान होने के कारण इनकी भाषा प्रौढ़ नहीं हो पाई। अपवाद सभी मे होता है। किंतु यह सर्वतोभाव से मान्य है कि सस्कृत के विद्वान् प्राय शुद्ध शुद्ध हिंदी लिखना तो दूर रहा बोल भी नहीं सकते। अतएव दीनदयाल जी के ग्रथ में

(१) काक—कोकिला—'ज्ञान' जात नहिं 'जाने' तौ लो ।

'ज्ञान' के साथ पुन 'जानना' क्रिया का प्रयोग व्यर्थ प्रतीत होता है ।

(२) बरनै दीनदयाल नेह मे नचो "नटीवत" ॥

यहाँ जीव पुल्लिग की उपमा नटी स्त्रीलिंग से दी गई है जो अनुचित है ।

(३) रहे महा मुख वाय ग्रसन को भारी "ग्राहैं" ॥

'ग्राह' का बहुवचन 'ग्राहैं' लिखा है जिसमे ग्राह शब्द मे स्त्रीलिंगत्व झलकता है । पर यह शब्द पुल्लिग है ।

(४) किनै छप्यो तृन ओट मे 'ससे' खोलि दृग देखि ॥

'शश' शब्द के लिये 'शशे' संबोधन भी हिंदी मे कुछ खटकता-सा है और स्त्रीलिंगत्व द्योतक है ।

(५) जो नहिं हन्यो पखान बन्यो तौ रूप अजौ लो ॥

'आज लौं' के अनुकरण से 'अजौ' लो भी गढ़ लिया गया है । ऐसा होना स्वाभाविक भी कहा जा सकता है ।

कुछ शब्द और मुहावरे ऐसे भी हैं जो बोलचाल के होने पर भी कुछ खटकते से हैं—

(१) तोरै चोंच न कीर ! तू यह "पंजर है लोह" ।

(२) तब देखिहौ 'तरग तोय" यह ग्रीषम आए ॥

यदि 'लोह पजर' या 'तोय तरग' होता तो षष्ठी तत्पुरुष बनकर अर्थ स्पष्ट हो जाता । यहाँ 'लोहे का पिंजड़ा' या 'तोय की तरग' ये अर्थ लगाने मे खींचतान तो नहीं है पर हाँ 'भाषा की अनस्थिरता' अवश्य है ।

(१) कब ह्वैहौ हरि उदय "तुमै, बिन" लोक मलीने ॥
(२) "तुमै बीच" सुचि जानि आनि घनस्यामहु छाजैं ॥

ये बनारसी प्रयोग हैं। अग्रवाल समाज में इनका प्रयोग अब भी होता है। 'तुम्हारे' के स्थान पर 'तुमारे' का प्रयोग स्वर्गीय प० गोविंद नारायण मिश्र जी भी किया करते थे। 'तुम्हारे' की अपेक्षा 'तुमारे' जनता के उच्चारण के अधिक सन्निकट है भी।

दो एक उदाहरण अन्वय दोष के भी लीजिए। कहीं कहीं तो अन्वय के लिये व्यर्थ खींचातानी करनी पड़ती है।

(१) लेहु कलक न कद पालि दलि जिन ससिन को।

इसकी रचना मे बहुत शिथिलता है। तात्पर्य स्पष्ट होने पर भी शब्दों का ठीक ठीक पारस्परिक संबंध नहीं ज्ञात होता।

(२) बरनै दीनदयाल बकन हठि तू बरजो मैं।
सरसैं समुझि न हस कुसगति को सर ! तो में ॥

इन दो पंक्तियों का संगठन भी बड़ा विचित्र है। ठीक ठीक अन्वय किसी प्रकार भी नहीं बैठता, खींचतान भले ही करलें।

यति-भंग आदि दोष इनकी कविता में नहीं के बराबर पाए जाते हैं। एक आध स्थल पर होना नगण्य ही है—

पहो तोख धुलोभ तम को तो जो है बास।

दोहे के विषम चरणों की यति तेरहवीं मात्रा पर होती है। तदनुसार 'तम' शब्द में यति पड़ती है। पर 'तम' शब्द की 'को' विभक्ति दूसरे चरण में चली गई है। अतएव यहाँ 'यति भंग' दोष है।

(आ) भाव

हम ऊपर कह चुके हैं कि भाषा कविता का आधार मात्र है। कविता में मुख्य वस्तु "भाव" है। भाव ही कविता की जान है। भावहीन आडंबर-पूर्ण लच्छेदार भाषा को हम काव्य-संज्ञा ही नहीं दे सकते। भला प्राणहीन शरीर को मनुष्य कौन कह सकता है? हृदय कल्पनाओं का स्रोत है। अध्ययन एवं नाना प्रकार के अनुभवों के कारण हमारे हृदयों में विविध कल्पनाओं का उद्रेक होता है। हृदय की उन कल्पनाओं की अभिव्यक्ति को ही "भाव" कहते हैं। अनुभवी को इन सुंदर भावों के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। माथापच्ची करके सोचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। हृदय की अनुभूति होने के कारण स्वतः उनका आविर्भाव होता है। अतएव उनमें स्वाभाविकता रहती है। भावस्रोत सरितास्रोत की भाँति है। जैसे नदी सरस स्थल से स्वयं—बिना खोदे खादे—निकलती है वैसे ही "भाव" भी किसी "सरस-हृदय" से स्वतः निकल पड़ते हैं। उन्हें गढ़ने की जरूरत ही नहीं पड़ती। बड़े सोच विचार के बाद गढ़े हुए विचार अस्वाभाविक होने के कारण बड़े भद्दे होते हैं। उनमें चमत्कार का भी सर्वथा अभाव रहता है। बाज़ार के झूठे मोतियों की भाँति उनका कोई मूल्य नहीं होता और वे हृदय की सहज उपज के सामने ठहर नहीं सकते। जिस कविता में ऐसे भोंडे भाव भरे हों वह कविता निम्न श्रेणी की होती है। जहाँ स्वाभाविकता कविता का मुख्य अंग ही है वहाँ कृत्रिमता उसके लिये भार-स्वरूप है। जो कवि किसी सहृदय के हृदय में अपने भावों को प्रकट करने में समर्थ होता है वही "सुकवि" है।

दीनदयाल जी ऐसे ही सुकवियों में से हैं। इनका अध्ययन बहुत बढ़ा चढ़ा था ही, साथ ही इनका सांसारिक अनुभव भी

इनके पुस्तकीय ज्ञान से किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि जैसी स्वाभाविकता इनकी कविता में पाई जाती है वैसी बहुत कम कवियों में होती है। इसी अपेक्षित स्वाभाविकता के कारण इनका एक एक पद्य हिंदी साहित्य का एक अनूठा रत्न है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। बिना हृदय की सच्ची अनुभूति के अन्योक्तियाँ कही नहीं जा सकतीं। जब हम किसी व्यक्ति में कोई त्रुटि देखते हैं तभी उसको उपदेश दे सकते हैं। जब किसी व्यक्ति के क्षुद्र व्यवहार के कारण हमारे हृदय में मर्मांतक आघात पहुँचता है तभी हम उसको उपालंभ दे सकते हैं। अतएव अन्योक्तियों में स्वाभाविकता का न होना ही अस्वाभाविक है। दीनदयालजी की अन्योक्तियाँ स्वाभाविकता की साक्षात् मूर्ति ही हैं, इनके विस्तृत लोकानुभव की सजीव प्रतिकृति हैं। कतिपय उदाहरण देखिए—

संसार स्वार्थमय है। स्वार्थ साधन के लिये मनुष्य नीचातिनीच काम करने से भी नहीं चूकता। स्वार्थी व्यक्ति अंधा हो जाता है, स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ देखता ही नहीं। जिससे हमारा स्वार्थ सधता है उसके अपराधों पर दृष्टि ही नहीं पड़ती। अपने उपकारी की डाँट-डपट भी सहनी ही पड़ती है। दीनदयाल जी इसी सिद्धांत को "अग्नि" पर घटाकर कहते हैं—

भीखन दुसह सुभाव तुव सुनो अनल जग माहिं।
करत कोटि अपराध हो तऊ तजत कोउ नाहिं॥
तऊ तजत कोउ नाहिं नगर पुर नगर जराघत।
हित सो बल्लभ मानि तुमें हूँ ढन को जाघत॥
बरनै दीनदयाल तेज सब करैं निरीखन।
तुम बिन सरै न काज जदपि जग हौ अति भीखन॥

आग के विना हमारा कुछ भी काम नहीं चल सकता। फिर हमको उससे हानि ही क्यो न उठानी पड़े, हम उसे छोड़ नहीं सकते। ठीक भी है। गरज हमारी। विना आग के हमारी निभ भी तो नही सकती।

कृतघ्न जिस पत्तल मे खाता है, उसी मे छेद करता है। जिस व्यक्ति से उसको लाभ पहुँचता है उसीका सर्वनाश करने पर उतारू हो जाता है। पर कृतघ्नता का परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता। "बड़ी अदालत" से उसकी कृतघ्नता का दड मिल ही जाता है—

जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सब ठाँव।
तिन भजन करि आपनो लियो प्रभजन नाम॥

+ + +

बरनै दीनदयाल सेउ अब खल ! मरुथल को।
लै सुख सीतल छाँह तासु तोर्यो जिन तरु को॥

"वसंत मे जिन वृक्षो के पुष्पों के पराग के सस्पर्श से वायु को लोग 'मलयानिल' कहते थे ग्रीष्म मे उन्हीं वृक्षो का "भजन" करने के कारण उसी हवा का नाम "प्रभजन" पड गया। बदनामी तो उठानी ही पड़ी, साथ ही मरुस्थल मे भी रहना पडा"। दीनदयाल जी ने "विधि" अलकार द्वारा उक्त सिद्धात की वडी ही खूबी के साथ समझाया है। अलकारों की उपयोगिता का यह भी एक अति उत्तम दृष्टात है।

क्षुद्र व्यक्ति बडे लोगो का तो कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, किंतु उनके सबधियो या आश्रितों पर ही अत्याचार करने मे अपना पुरुषार्थ समझते हैं। इसके विपरीत उच्चाशय, उदार व्यक्ति अपने शत्रु के आश्रितो और सबधियो पर भी कृपा-दृष्टि रखते हैं। फल यह होता है कि महाशयों की बड़ाई होती है और नीच व्यक्ति पर कलक लगता है—

मित्र नाम को दीप लघु कहा करै रे नास।
वे वर तो अभिधान को अधिको करत प्रकास॥
अधिको करत प्रकास भलाई उनकी छाई।
त्रिभुवन भवन मँझार पूजि सब करैं बड़ाई॥
बरनै दीनदयाल करै तू कौन काम को।
रही कारिखी छाय जराय न मित्र नाम को॥

पतग' और 'दीप' के श्लेष से कवि ने यह बात बडी सुदरता से समझा दी है। दीये के लिये 'रे' और 'तू' एव सूर्य के लिये 'वे' और 'उनकी' के प्रयोग भी काव्य-कुशलता के परिचायक हैं। 'रे' और 'तू' के प्रयोग दीये के प्रति कवि की घृणा के द्योतक हैं, तथा 'वे' और 'उनकी' के प्रयोग सूर्य के लिये सम्मान सूचित करते हैं।

मालूम पड़ता है कि दीनदयाल जी के समय मे भी आधुनिक ' बड़ाबहादुरो " की कमी नही थी, अपने नाम के लिये बडी बडी सभा-सोसाइटियो मे चदा देने मे सभी मुकहस्त हो जाते थे, पर जिनको उनके दान की सबसे बडी आवश्यकता होती थी अथवा जो पूर्णतया उनके ही आश्रित रहते थे, उन्हीं पर निर्भर रहते थे, वे भूखो मरते थे। दीनदयाल जी ऐसी बात भला कब पसद कर सकते ? सन्यासी की भांति तटस्थ वृत्ति से ऐसे व्यक्ति को उपालभ दे ही तो दिया —

जग को घन तुम देत हो गजि कै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान॥

+ + +

उपदेश का उपदेश, उलहने का उलहना, किसी को बुरा भी नहीं लग सकता। यदि समझदार व्यक्ति होगा तो सँभल भी जायगा। "जीवन" शब्द ने इस पद्य मे और भी "जीवन" डाल दिया है।

दीनदयाल जी " नाम बडे दर्शन थोडे " ऐसे टाइटिल-धारियों से भी बहुत चिढ़ते थे। उनका यह सिद्धांत था कि नाम के साथ गुणों का होना भी परमावश्यक है—

एकै नाम न भूलि अलि इतो कथन मदार।
वह और मदार है करनी जासु उदार॥
करनी जासु उदार देत अभिमत फल वे तो।
याते ठगे सुकादि कला करि हारे केतो॥
बरनै दीनदयाल सुखद गुन उन्हें अनेकै।
यामें फोकट नाम अडवर सुनियत एकै॥

आजकल के टाइटिल-धारियों पर ये बातें स्पष्ट घटित होती हैं। नाम में 'ए' (A) से 'जेड' (Z) तक सभी अक्षर आजाने चाहिये चाहे गुण खाक भी न हो।

केवल नामसाम्य से ही कोई बड़ा नहीं हो सकता। बडा तो तब कहा जा सकता है जब बडों के योग्य गुण भी हो। केवल वेश-भूषा से ही अथवा नाम-समता से ही प्रत्येक का विश्वास न करना चाहिए—

रसना ए तो दसन हैं सुनि द्विज नाम न मोहि।
इन्हें न पडित मानिए खडित करिहैं तोहि॥

\+ \+ \+

ऊपर उज्ज्वल रूप देखि मति मोहै रसना॥

' द्विज ' कहने से ही दाँतो को ब्राह्मण या पडित मान लेना महा-मूर्खता है। सोना और धतूरा दोनों को ' कनक ' कहते हैं। पर क्या नाम-समता से धतूरा सोने का काम दे सकता है ? *

गुणों की ' कद्र ' गुणग्राही के अतिरिक्त कौन कर सकता

* " कनक धतूरे सों कहत गहनो गढ़ो न जाय "—बिहारी।

है ? गुणो की प्रशंसा करने के लिये सहृदयता एवं उदारता अत्यावश्यक हैं। नीरस एवं मत्सरता-पूर्ण हृदय गुणो को पहिचान नहीं सकते। हृदयहीन लोगो पर गुणो का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। ऐसे लोगो के सामने अपनी कला प्रकाश करना निपट निरर्थक है—

अहे बजन्त्री हरिन-भ्रम कहा बजावे बीन।
या ठठेर-मजारिका सुर सुनि मोहैगी न॥
सुर सुनि मोहैगी न सुने इन ठक ठक बाजैं।
कितो थको करि कला अजो नहिं आवत लाजैं॥
बरनै दीनदयाल कहा याके ढिग तन्त्री।
ह्याँ तें होय निरास जाय घर अहे बजन्त्री॥

ठठेरे की बिल्ली जो रात दिन 'ठक ठक' सुना करती है भला वह वीणा की क्या 'क़द्र' करेगी? वह 'मृग' नहीं है जो वीणा के नाद पर भूल कर अपने को ही निछावर करदे।

यह "कवि-प्रौढ़ोक्ति" है कि अशोक तब तक नही फूलता जब तक किसी तरुणी का पदस्पर्श न हो। * इसी बात को एक कवि बड़ी मार्मिकता से कहता है—

तिय बस होहि न चतुर नर, ते दुर्लभ तिहुँ लोक।
फूलत कामिनि पद परस आनद मगन असोक॥

इसी 'कवि-प्रसिद्धि' की आड़ में दीनदयाल जी भी अशोक को फटकारते हैं—

सेवत तुम्हें असोक यह, माली गयो बुढ़ाय।
अधिकै कियो ससोक तुम, फोकट नाम सुनाय॥

+ + +

* पादाघातादशोको विकसति बकुलो योषितामास्यमद्यैः॥

लगे "वाम-पद" अहो फूल अभिराम धरे है ॥

\+ + +

दिन सदा किसी के भी एक-से नहीं रहते। जो एक दिन राजा था वह आज रंक होकर दर-दर का भिखारी है और जो जन्म का दरिद्र था वह आज लक्ष्मी का कृपापात्र बनकर सुख से दिन काट रहा है। संसार का इतिहास इस सिद्धांत का साक्षी है—

सब दिन होत न एक समान।

दुख सुख जीवन भोगहि मानो दो दिन की गुजरान ॥

—तुलसी।

सदा सुखी या निरंतर दु खी कोई नहीं रह सकता। सुख के बाद दु ख, दु ख के पश्चात् सुख "चक्रवत्" परिवर्त्तित होते रहते हैं। यही इस दु खमय संसार का अटूट नियम है। दीनदयाल जी भी इस सिद्धांत के परिपोषक हैं। उनको दृष्टांत के लिये पुराण-इतिहासो की शरण न लेनी पडी। राजा हरिश्चंद्र, श्री रामचंद्र आदि के उदाहरण न देकर वे प्रकृति मे ही इस सिद्धांत को घटाते हैं—

जहँ धरि पीत पराग पट वर सम कियो विहार।
तिहि बन पवन जती भयो रमत रमाए छार ॥
रमत रमाए छार घोर ग्रीषम दव लागे।
दुख मे मधुकर सखा संग सबही तजि भागे ॥
बरनै दीनदयाल रही छवि कुसुमाकर भरि।
दूलह बन्यो समीर रम्यो पट पीरो जहँ धरि ॥

जो 'पवन' वसंत ऋतु में दूल्हा बना हुआ था वही आज समय के फेर से ग्रीष्म ऋतु में सन्यासी बनकर भटकता फिरता है। बलिहारी है इस कालचक्र की!

सर्वसम्मत से यही बात अधिक मान्य है कि "अनेक गुणों के समुदाय में एकाध अवगुण छिप जाते हैं।" यही बात हम प्रत्यक्ष देखते भी है। प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों ने खुले हृदय से इस सिद्धांत का समर्थन किया है—

(१) अनंतरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपिजातम्।
"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥"

—कालिदास (कुमारसंभव)

(२) एक दोष गुण पुंज में होत निमग्न 'मुरार'।
जैसे चंद मयूख में अंक कलंक निहार॥

मुरारदान।

इसी सिद्धांत का आधार लेकर इसके ठीक विपरीत मत का स्थापन करके दीनदयाल जी ने अपनी "मौलिकता" की सिद्ध-हस्तता दिखलाई है। वे कहते हैं कि "एक ही असाधारण दुर्गुण सब सद्गुणों को मिट्टी में मिला देता है।"

(१) जग में प्रगट, नसाहिं एक पेगुन तें बहुगुन॥
(२) ये सब गुन के जाल जाहिंगे अजस गली में॥

हमारी समझ में ये दोनों ही मत युक्तिसंगत हैं। बहुत सद्गुणों में एक साधारण दोष का छिप जाना जितना ही संभव और सत्य है उतना ही एक बड़े भारी अवगुण का गुणों पर विजय पाना भी।

+ + +

हम कह चुके हैं कि यह "मुक्तक" काव्य है। इसके एक एक पद्य में काव्य का सहज गुण रमणीयत्व होना ही चाहिए। अत किसी एक पद्य को विशेष चमत्कारयुक्त कहना दूसरे के साथ अन्याय करना है। तब भी लोगों की रुचि भिन्न भिन्न होती है। किसी को कुछ रुचता है, किसी को कुछ।

> दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरं तथा सितापि।
> तस्य तदेव हि मधुर यस्य मनो यत्र सलग्नम्॥

यही बात हम इस ग्रथ के विषय मे भी कह सकते हैं। किसी को कोई पद्य विशेष रमणीय जान पडता है तो किसी को कोई। तथापि कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो प्रत्येक सहृदय के हृदय को समान रूप से आकृष्ट करते हैं। "पथिक" सबधी कतिपय पद्य और "शांत शृंगार-सगम" ये दोनों प्रकरण ऐसे ही स्थल विशेष हैं। इस विषय मे कई लोगो से हमारा मतभेद हो सकता है। पर इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि अन्य प्रसग अरोचक हैं। अस्तु।

पथिक-प्रसग में साधारण यात्री पर घटा कर ससार-यात्रा के पथिक के लिये बड़े ही सुदर उपदेश भरे पड़े हैं, जो एक सन्यासी के हृदय के स्वाभाविक उद्गार हैं। इस बात को सभी खुले हृदय से स्वीकार करते हैं कि वासना ही दु खो का मूलस्रोत है। इसीलिये सन्यासी लोग सबसे पहले वासना-त्याग का उपदेश करते हैं। वासना ठगिनी है। यह मनुष्य को लालच देकर कुपथ मे ले जाती है और जब वह अच्छी तरह भूलभुलैया मे फँस जाता है तब उसको दु ख के कूप में ढकेल देती है। बिना वासना-विसर्जन किए सुखों की आशा "आकाश कुसम" है। दीनदयाल जी कहते हैं—

जैये गैल सुछैल बनि पथी सुपथ विचारि।
अमो न ठगिनी मारिहै तुमै ठगोरी डारि॥
तुमै ठगोरी डारि छीनि सब ही धन लैहै।
महा अंध बन कूप बीच या नीच ढपैहै॥
बरनै दीनदयाल लाल निज माल बचैये।
अहै ठगन के पुंज कुंज इत गुनिकै जैये॥

मरने पर कोई अपना साथ नहीं देता। इसी जन्म भर का साथ है, फिर सब अपनी अपनी राह नापेंगे। दूसरे जन्म में साथ होने की कोई आशा नहीं। इसलिये जबतक जीवन है तब तक एक दूसरे से मिलजुल कर रहना चाहिए। न जाने फिर भेंट हो या न हो—

कोई संगी नहिं उतै है इत ही को संग।
पथी लेहु मिलि ताहि तें सबसों सहित उमंग॥
सबसों सहित उमंग बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव सँजोग फेर यह मिलिहै नाहीं॥
बरनै दीनदयाल पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल पथी जैहैं सब कोई॥

दीनदयाल जी ऐसे वीतराग सन्यासी समय समय पर इसी प्रकार संसार की असारता का दिग्दर्शन कराते हुए हेल-मेल से रहने का उपदेश देते आए हैं। पर अभागा भारतवर्ष इस उपदेश की अवहेलना ही करता आया, जिसका फल भी उसको आजदिन भरपूर भोगना पड़ रहा है।

+ + +

"शांत-शृंगार संगम" में कवि ने दो विरोधी रसों का एकत्र समावेश करके कमाल कर दिया है, कविकौशल की पराकाष्ठा

दर्शाई है। हमें तो यही प्रसग सब से बढ़ कर जान पड़ता है। इसका एक एक पद्य निराला और हिंदी-साहित्य का स्थायी अमूल्य रत्न है। प्रत्यक्ष रूप मे कवि किसी कुलीन स्त्री को उपदेश करता है, अपने पति को रिझाने का उपाय बताता है। स्त्रियो के लिये ये उपदेश सर्वथा मान्य हैं। पर दीनदयाल जी का लक्ष्य केवल स्त्रियो को उपदेश देना तो था ही नहीं। वे थे सन्यासी। केवल स्त्रियों या पुरुषो का ही पक्ष लेने की उन्हें कोई आवश्यकता न थी। वे "एक पथ दो काज" के सिद्धांत पर चलते थे। उनका उपदेश मनुष्य-मात्र के लिये है, स्त्रियाँ केवल अपने ही लिये समझ कर लाभ उठालें तो अच्छी बात है। एकाध उदाहरण लीजिए—

इस ससार मे थोडे ही दिन रहना है, अत मे उसी परमेश्वर से मिलना है। इसलिये यौवन मद में न भूलो, और ऐसे २ सद्गुणो से अलकृत होओ जिससे परमेश्वर प्रसन्न होवे। इसी बात को दीन-दयाल जी नायिका पर घटाकर इस ढग से कहते हैं—

भूले जोबन के न मद अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन चार को अत कत सो काम॥
अंत कत सों काम तत सबहीं तजिदै री।
जातें रीझै नाह नेह नब तातें कै री॥
बरनै दीनदयाल भूप भूपन अनुकूलै।
चलि पिय गेह सनेह साजि लखि देह न भूलै॥

यह संसार गुड़ियो का खेल है। जन्म भर विषय वासनाओ मे फँसे रहे, समय का कुछ मूल्य न जाना। अब पिय (ईश्वर) के निकट जाने का—मरने का—समय निकट है। अब भी सँभल जा, परमेश्वर को रिझाने वाले गुण सीख ले, नहीं तो पछताने के सिवाय कुछ हाथ नहीं आएगा—

गौने को दिन निकट अब होन चहै पिय मेल।
अजहूँ छुटो न तोहि री गुड़ियन को यह खेल॥
गुड़ियन को यह खेल खेलि सब समै विगारे।
सिखे नहीं गुन कछू पिया मन मोहनवारे॥
बरनै दीनदयाल सीख पैहै पिय भौने।
ए री भूपन साजि भटू दिन आवत गौने॥

इस प्रकरण के सभी पद्यों में अध्यात्मवाद या रहस्यवाद भरा है। बुद्धि को स्त्री और परमेश्वर को पति मानकर मनुष्य मात्र को बड़े ही हृदयस्पर्शी उपदेश दिए गए हैं। इन उपदेशों में कृत्रिमता छू भी नहीं गई है। एक सन्यासी के लिये ऐसे उपदेश देना अत्यत स्वाभाविक है। शृंगार रस के वर्णन मे वैराग्य का उपदेश करने का ढग भी बड़ा ही सुंदर है। ऐसा केवल दीनदयाल जी ने ही नहीं किया, उनके प्रथम भी बहुत से महाकवि ऐसा कर गये हैं। कबीर साहब और मलिक मुहम्मद जायसी इनमे मे मुख्य हैं—

इस प्रकार के कथन मे दीनदयाल जी उक्त कवियों से किसी प्रकार घटकर नहीं हैं। जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं। इन दो प्रसगों के अतिरिक्त अन्य बहुत-से स्थलो में उन्होंने अध्यात्मवाद कहा है और सफल भी हुए हैं। सारांश यह कि दीनदयाल जी के भाव उनके हृदय के स्वाभाविक उद्गार हैं और उनके व्यापक ज्ञान एव विस्तृत लोकानुभव के पूर्ण परिचायक तथा मर्मस्पर्शी हैं।

(इ) तुलनात्मक

दो समान श्रेणी के पदार्थों में ही तुलना हो सकती है। प्रत्येक कवि का क्षेत्र अपने ढग का निराला होता है। अतएव विभिन्न

क्षेत्रवाले कवियों का मिलान करना नितांत असमीचीन है। तुलनात्मक समालोचना का प्रयोजन यही नहीं है कि हम किन्हीं दो कवियों को—चाहे उनका क्षेत्र भिन्न ही क्यो न हो—एक ही तुला में तौल कर उनके गुरुत्व या लघुत्व का अनुमान करके उनकी श्रेणी बाँध दें अथवा उनका स्थान नियत कर दें। दो समान श्रेणी के कवियों मे ही तुलना हो सकती है। इस सिद्धांत को दृष्टि कोण मे रखकर जब विचार करते हैं तो हमको हिंदी-साहित्य-ससार में कोई भी कवि या महाकवि ऐसा नजर नहीं आता जिससे दीनदयाल जी की तुलना की जा सके। कारण दीनदयाल जी का कविता-क्षेत्र अनोखा है और हिदी के अन्य कवियो से सर्वथा भिन्न है। अतएव दीनदयाल जी के ग्रथ की तुलनात्मक आलोचना नहीं हो सकती। हाँ, भावसाम्य अलबत्ता दिखाया जा सकता है।

भाव-साम्य के कई कारण हैं। एक ही विषय पर मनन करने से अनेक व्यक्तियो के मन मे एक ही प्रकार के भावो का उदय होना स्वाभाविक है। "सवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्" के अनुसार कवियो के भाव आपस मे स्वत—विना किसी प्रयत्न के—टकरा ही जाते हैं। काव्यो का अध्ययन करने से भी प्राचीन कवियो के भाव मन मे घर कर लेते हैं और कविता करते समय वे ही भाव अनजाने हृदय से निकल पड़ते हैं। एक कारण और भी है। कविलोग प्राय प्राचीन कवि की सूक्ति को अपनाकर उसमें कुछ उत्कृष्टता या नवीनता ले आते हैं। तब यह भाव परकीय नहीं रह जाता। कवि उसमे निजत्व की छाप लगा देता है। साराश यह कि उक्त तथा और भी कई कारणो से कवियो मे भावसाम्य होना अनिवार्य सा हो जाता है। इच्छा रखते हुए भी कवि अपने को भावसाम्य से बचा नहीं सकता। भावापहरण कई प्रकार से होता है। किसी कवि के भाव लेकर उसमे कुछ भी नूतनता लाए विना

केवल अपने शब्दों का आवरण मात्र दे देना या तो "अनुवाद" है या "भावों की चोरी"। इनमें से पूर्व में कुछ कौशल अवश्य होता है, उत्तर सदा गर्ह्य है। इसके विपरीत "छायापहरण" में बड़ी प्रतिभा की आवश्यकता है। अपने पूर्व कवियों के भावों की छायामात्र लेकर उसको अपने ढाँचे में ढालना "छायापहरण" कहलाता है। इस छायापहरण से तो किसी भी भाषा के महाकवि तक नहीं बचने पाए। इसी से कहते हैं कि "छायामपहरति कवि"। कवि अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के भावों की छाया लेते ही हैं।

१—दीनदयाल और संस्कृत कवि।

हम पहिले कह चुके हैं कि दीनदयाल जी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे। अतएव उनकी कविता में संस्कृत कवियों की छाया का होना स्वाभाविक ही है। उनकी अधिकांश अन्योक्तियाँ संस्कृत श्लोकों के आधार पर बनी हैं। नीचे हम कतिपय अन्योक्तियाँ उद्धृत करते हैं जिनका संस्कृत कवियों से "भाव प्रतिबिंब भाव" होगया है।

(१) ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैर्दिनकृता दग्धोऽपि यश्चातक ।
त्वां ध्यायन्घन वासरान् कथमपि द्राघीयसो नीतवान् ॥
दैवाल्लोचनगोचरेण भवता तस्मिन्निदानीं यदि।
स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा तत्कम्प्रति ब्रूमहे ॥

—पंडितराज जगन्नाथ।

पंडितराज जगन्नाथ जी ने जिस भाव को एक ही "शार्दूलविक्रीडित" में कह दिया है उसी भाव को स्पष्ट करने के लिये दीनदयाल जी को तीन अन्योक्तियाँ कहनी पड़ी हैं। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि उक्त श्लोक की छाया मात्र लेकर दीनदयाल जी ने तीन कुंडलियाँ कह डाली हैं। सब में नूतनता है।

तीखन ग्रीषम ताप तें भयो झाँवरो छीन।
है यह चातक रावरो अनुग रावरो दीन॥
अनुग रावरो दीन लीन आधीन तिहारे।
कहै नाम वसु जाम रहै घनस्याम निहारे॥
बरनै दीनदयाल पालिए लखि तप तीखन।
सरी सरोवर सिंधु काहु इन माँगी भीख न॥

इस कुडलिया मे श्लोक के पूर्वार्द्ध का ही भाव आ सका है। पर "ग्रीष्मे भीष्मतरैः करै ।" मे जो बात है वह "तीखन ग्रीषम ताप तें" में नहीं है। श्लोक का "दग्धोऽपि" शब्द कवि की विदग्धता का नमूना है। इससे प्रेमी का कष्ट-बाहुल्य व्यग्य है। इसी प्रकार "कथमपि" शब्द भी बडे कमाल का है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र से मिलने की आशा मे ही "कथमपि" अपने कष्टमय दिनों को घसीटता है, यही भाव व्यजित होता है। पर कुडलिया में इस चमत्कार का अभाव है। इसके बाद श्लोक के उत्तरार्द्ध मे "तत्कस्मति ब्रूमहे" से चातक को—अपने प्रेमी के प्रेम से वचित प्रेमपात्र की—नितांत निराशा प्रकट होती है। इसके विपरीत कुडलिया के अंतिम दो पदो मे कवि चातक के कष्टो पर सहानुभूति दर्शाते हुए बादल से अपनी ओर से उसपर कृपा-दृष्टि करने की सिफारिश करता है। श्लोक के "स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा" को ही लेकर दीनदयाल जी ने दो कुडलियो मे बादल को उसकी अविचारशीलता के कारण क्या ही सुदर उलहना दिया है—

(अ) जग को घन तुम देत हौ गॅजिकै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान॥
(अ) आयो चातक बूँद लगि सब सर सरित बिसारि।
चहियत जीवनदानि! तिहि निरदै पाहन मारि॥

+ + +

(२) अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरजमंडितम् ।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना ॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारम् ।

हितकारी मानस बिना नहीं हंस चित चैन ।
छिन छिन व्याकुल बिरहवस सोचत है दिन रैन ॥

× × ×

बरनै दीनदयाल मरालहि संकट भारी ।
मानस और न चहै बिना मानस हितकारी ॥

श्लोक में हंस का मानसरोवर के प्रति अकारण प्रेमातिशय व्यंजित है, पर कुंडलिया में मानसरोवर के प्रति हंस का प्रेम होने का कारण सविस्तर कहा गया है।

(३) अपसरणेव शरणं मौनं वा तत्र राजहंसस्य ।
कटुवदति निकटवर्त्ती टिट्टिभो यत्र ॥

—सु० र० भा० ।

कीजे गमन सु मानसर यह दुखदायक ताल ।
हंस बस अवतंस हौ मौन गहो इहि काल ॥
मौन गहो इहि काल काक बक खल या ठाये ।
अति कठोर बरजोर सोर चहुँओर मचावें ॥
बरनै दीनदयाल इन्हें तजि सुख सो जीजे ।
सठ संगति अति भीति भूलि तहँ गमन न कीजे ॥

भाव दोनों का एक ही है। कुंडलिया में क्षेत्र अधिक होने से वही बात खुलासा करके कही गई है। इसमें संदेह नहीं कि कुंडलिया लिखते समय दीनदयाल जी के ध्यान में उक्त श्लोक अवश्य ही रहा होगा।

(४) वातोल्लसित कल्लोल धिक् ते सागर गर्जितम् ।
यस्य तीरे तृषाक्रान्त पान्थः पृच्छति वापिकाम् ॥

—सु० र० भा० ।

गरजे बातन तें कहा धिक नीरधि गभीर ।
विकल बिलोकै कूप पथ तृषावत तो तीर ॥
तृषावत तो तीर फिरै तुहि लाज न आवै ।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै ॥
बरनै दीनदयाल सिंधु तोको को बरजै ।
तरल तरंगी ख्यात वृथा बातन तें गरजै ॥

कुंडलिया के दोहे में ही श्लोक का पूरा भाव स्पष्ट होगया है। रोला के अंतिम चार पद केवल कुंडलिया की पूर्ति के ही लिये हैं। "बातन" और "तरंगी" श्लिष्ट शब्दों से पद्य खिल सा गया है।

(५) रक्ताक्तवज्रखरकोटिनिभा दधानाम् ।
यूथा पलाशवनतोऽपि पलाय्य जग्मु ॥
सिंहस्य तस्य जरतो विषमा दशा यद् ।
गोमायवैरवयवैरपि नास्ति वृत्ति ॥

—जल्हण ।

टूटे नख रद केहरी वह बल गयो थकाय ।
हाय जरा अब आइकै यह दुख दियो बढ़ाय ॥
यह दुख दियो बढ़ाय चहूँ दिसि जंबुक गाजैं ।
ससक लोमरी आदि स्वतंत्र करैं सब राजैं ॥
बरनै दीनदयाल हरिन बिहरैं सुख लूटे ।
पंगु भयो मृगराज आज नख रद के टूटे ॥

दोनो का भाव एक ही है, किंतु कुंडलिया की शब्दावली बड़ी आकर्षक है। उसमे श्लोक की अपेक्षा सिंह की वृद्धावस्था का करुणापूर्ण दृश्य खींचने मे अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

(६) वीथीरंकुरिनि लताभिरदिने वल्लीभिरुज्जृम्भितम्।
कन्दै कन्दलितं जने प्रमुदितं धाराधरे वर्षति॥
भ्रातश्चातक पातक किमपि ते सम्यङ् न जानीमहे।
येनास्मिन्न पतन्ति चञ्चुपुटके द्वित्रा पयो बिन्दव॥
—सु० र० भा०।

बरषा भरि बरसत बरा धाराधर धरि धीर।
कहा दोस चातक तिनै तो मुख परयो न नीर॥

कुंडलिया से श्लोक मे भाव अधिक स्पष्ट और सुंदर है। "भ्रातश्चातक पातक किमपि ते" मे चातक के प्रति सहानुभूति दर्शाई है, और "द्वित्रा पयो बिन्दव" से उसकी दयनीय दशा का बड़ा ही अच्छा चित्रण किया है। यह बात कुंडलिया के 'कहा दोस चातक तिनै तो मुख परयो न नीर" में नहीं आने पाई है।

(७) पन्थाधार इति द्विजाश्रय इति श्लाघ्यस्तरूणामिति।
स्निग्धच्छाय इति प्रियो हर इति स्थान गुणानामिति॥
पर्यालोच्य महातरो तव वनच्छाया वय न्श्रिता
स्त्वत्कोटरवासिनो द्विरसना दूरी करिष्यन्ति न॥
—सु० र० भा०।

उपकारी हो द्रुम महा हम भाखत तुव पाहि।
राखहु नाहि दुजिह्न को हिय कोटर के माहि॥
हिय कोटर के माहि देत दुख तो पच्छिन को।
पथी न आवें पास त्रास उपजे लखि तिनको॥
बरनै दीनदयाल सकल गुन हैं तुव भारी।
यह कुसंग ततकाल त्यागिए जग उपकारी॥

यहाँ भी दोनो का भाव एक ही है। श्लोक मे जो बात ध्वनि से लक्षित होती है वही बात कुंडलिया के अंतिम पद मे स्पष्ट कर दी गई है।

(८) देखो पथी उघारि कै नीके नैन विवेक।
अचरजमय यहि बाग मे राजत है तरु एक ॥
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा।
है खग तहाँ अचाह एक इक बहुफल चाखा ॥
बरने दीनदयाल खाय सो निवल विसेखो।
जो न खाय सो पीन रहै अति अद्भुत देखो ॥

इस कुंडलिया का मसाला दीनदयाल जी ने गीता और मुंडकोपनिषद् से इकट्ठा किया है। पहिले तीन पदो का आधार-भूत यह श्लोक है।

(अ) ऊर्ध्वमूलमधः शाखा अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय १५)

कुंडलिया मे श्लोक के प्रथम चरण का ही भाव आसका है। शेषांश का भाव लाने की चेष्टा ही नही की गई है—जान बूझ कर छोड़ दिया गया है। गीता में रूपक बाँधा गया है, पर दीनदयाल जी को ऐसा करना अभीष्ट न था। "रूपक" के झमेले मे फँसने से "अचरजमय बाग" का "अचरज" ही गायब हो जाता।

कुंडलिया के शेष तीन पद निम्नलिखित ऋचा के आधार पर रचे गए हैं—

(आ) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

—बृहदारण्य मुण्डकोपनिषद्।

(९) "परमधाम" के विषय मे कहा जाता है कि वहाँ रात-दिन, पाप पुण्य, दु ख सुख, वियोग-सयोग आदि द्वन्द्वों का नाम नहीं होता। सर्वत्र अनत शाति और परम आनद का साम्राज्य रहता है, परम ज्योति का प्रकाश फैला रहता है। वहाँ पहुँचने पर "जीव" आवागमन के कष्ट से मुक्त हो जाता है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावक।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परम मम॥ *

—श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १५)

(अ) सोई देस विचारिकै चलिए पथी सुचेत॥
जाके जस आनद की कविवर उपमा देत॥
कविवर उपमा देत रक भूपति सम जामैं।
आवागैान न होय रहै मुद मगल तामैं॥
बरनै दीनदयाल जहाँ दुख सोक न होई।
पहो पथी प्रवीन देस की जैए सोई॥

(आ) चल चकई तिहि सर विषैजहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हस सदोह॥

× × ×

पिय मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई॥

(१०) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्ग जित्वा वा भोद्यसे महीम्॥

—श्रीमद्भगवद्गीता।

हतै हो जीते जसी मरे सुरलोकहि पैहो॥

---

* कहो उस देश की बतियाँ, जहाँ नहिं होत दिन रतियाँ।

—कबीर साहब।

गीता मे भगवान् ने अर्जुन को क्षत्रियोचित उपदेश दिया है। इसी के आधार पर दीनदयाल जी भी किसी 'क्षत्रिय' को "क्षात्र-धर्म" का उपदेश करते हैं।

(११) प्रीति ऐसे ही लोगों मे निभ सकती है जिनके शील स्वभाव मे, आचार विचार मे समानता हो। अपने से उच्च अथवा निम्नश्रेणी के लोगों के साथ आदर्श मित्रता नहीं हो सकती—

मृगा मृगै सगमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरगै ।
मूर्खाश्च मूर्खै सुधिय सुधीभि· समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥
—भर्तृहरि (नीतिशतक)

वरनै दीनदयाल रहो इनहीं तें हिल मिल।
प्रीति समान वखान करैं कविजन हे कोकिल॥

(१२) भर्तृहरि जी सत्सगति की प्रशसा मे कहते हैं—

जाड्य धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्।
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥
चेत प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिम्।
सत्सगति कथय किं न करोति पुसाम्॥
—भर्तृहरि (नी० श०)

दीनदयाल जी लोहे और पारस की सगति का सत्परिणाम दिखलाते हुए इस मत का समर्थन करते हैं—

वरनै दीनदयाल कौन सतसग न सोहा।
पैहैं रूप अनूप वढ़ैगी कीमति लोहा॥

(१३) अपनी उन्नति तो कोई भी कर सकता है, पर वास्तव में प्रशसनीय वही कहा जा सकता है जो अपने साथ औरों का भी उत्कर्ष बढ़ावे। इसी बात को भर्तृहरि जी चदन पर घटा कर कहते हैं—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा।
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव ॥
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण ।
कङ्कोल निम्ब कुटजा अपि चन्दनास्युः ॥

—भर्तृहरि (नी० श०)

दीनदयाल जी भी चदन की प्रशसा में कहते हैं—

चदन ! वदन जोग तुम धन्य द्रुमन में राय।
देत कुकुज ककोल लौं देवन सीस चढ़ाय॥

श्लोक का पूरा भाव कुडलिया में नहीं आने पाया है। श्लोक में कहते हैं कि—"हम उन सोने चांदी के पहाड़ों को—सुमेरु पर्वत, हिमालय आदि को—क्या करें जे। अपने आश्रित पेड़ों को अपने समान नहीं बना सकते। हां, 'मलयाचल' ही एक पर्वत कहे जाने योग्य है जिसके आश्रित सभी पेड़ चदन हो जाते हैं। कुडलिया में चदन के उक्त गुण का उल्लेख करते हुए उसके "सताप निकदनादि" गुणों का भी जिक्र कर दिया है।

(१४) पुण्य और पाप की व्याख्या व्यास जी ने समास रूप से यों स्पष्ट की है—

सक्षेपात् कथ्यते धर्मो जना किं विस्तरेण व।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम् * ॥

—श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास।

सचमुच 'पाप' 'पुण्य' कुछ भी नहीं है। जिस कार्य से दूसरे का हित हो वही 'पुण्य' है और जिससे किसी की हानि हो, किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचे वही 'पाप' है। दीनदयाल जी कहते हैं—

---

* पर हित सरिस धरमु नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
—तुलसी॥

बरनै दीनदयाल आप जग में जस लीजै।
परम धरम उपकार द्विजन को जीवन दीजै॥

× + +

यहाँ हमने सस्कृत के थोड़े से श्लोक उद्धृत किए हैं जिनसे दीनदयाल जी के भाव मिल जाते हैं। और भी ऐसे श्लोक हैं जिनका आधार दीनदयाल जी ने लिया है। कहीं कहीं तो ठीक अनुवाद ही जान पड़ता है, पर कहीं केवल छायामात्र लेकर दीनदयाल जी की प्रतिभा-प्रसूता कल्पना ने उसको सर्वथा नवीन रूप दे दिया है। सारांश यह कि सस्कृत काव्य के पूर्णज्ञाता होने के कारण संस्कृत कवियो की अन्योक्तियों और सिद्धातों ने दीनदयालजी के हृदय में घर कर लिया था, कविता रचते समय वे ही सूक्तियाँ अज्ञातभाव से उनके हृदय से उद्भावित हो उठीं। अत सस्कृत का आधारभूत होने पर भी उनकी कविता मे मौलिकता पूर्णरूप से विराजमान है। इनके और ग्रथ देखने से भी उनमे सस्कृत के भावो की विशेष छाप देख पड़ती है। दृष्टात तरङ्गिणी इसका उदाहरण है।

२—दीनदयाल और हिंदी कवि।

हिंदी के प्राय सभी सुकवि या महाकवि दीनदयाल जी के पूर्ववर्त्ती थे। अतएव दीनदयाल जी ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियो के काव्यो का अध्ययन किया होगा इसमे कोई आश्चर्य नहीं। कम से कम हिंदी-साहित्य का प्रेमी तुलसी और सूर के कवितामृत के आस्वादन से वंचित नहीं रह सकता। अत दीनदयाल जी की कविता मे तुलसी, सूर तथा अन्याय कवियो के व्यापक सिद्धांतो का आना अत्यत स्वाभाविक है। कतिपय उदाहरण लीजिए—

(१) लागे सर सरवर परयो करयो सोच घन ओर।
धनि धनि चातक प्रेम तव पन पाल्यो बरजोर॥
पन पाल्यो बरजोर प्रान परजत निवाहो।

कूप नदी नद ताल सिंधु जल एक न चाह्यो ॥
बरनै दीनदयाल स्वाति बिन सब ही त्यागे।
रही जन्म भरि बूँद आस अजहूँ सर लागे ॥
—(दीनदयाल)

बध्यो बधिक पर्‌यो पुण्यजल उलटि उठाई चोच।
तुलसी चातक प्रेम-पट मरतहु लगी न खोच ॥
—(तुलसी)

दोहा और कुंडलिया दोनों का भाव एक ही है। मरण-पर्यंत चातक के प्रेम-निर्वाह की प्रशंसा दोनों कवियों ने खुले दिल से की है। दीनदयाल जी के "कूप नदी नद ताल सिंधु जल" की अपेक्षा तुलसीदास जी के "पुण्यजल" का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। मरते समय जिस गंगाजल की एक बूँद पान करने की अभिलाषा प्रायः सबको रहती है, तुलसीदास जी का चातक अपने प्रिय स्वाती नक्षत्र के जल के सामने उसको तुच्छ गिनता है। बड़ी बड़ी चीजों के लिये बड़े बड़े संयमियों का मन भी हाथ से बाहर हो जाता है। पर तुच्छ पदार्थों के लिये नियत बिगाड़ना अत्यंत क्षुद्र हृदयों का ही काम है। इस दृष्टि से तुलसीदास जी के चातक का प्रेम-निर्वाह अधिक श्लाघ्य है। "रही जन्म भरि बूँद आस अजहूँ सर लागे"—से दीनदयाल जी ने चातक की निराशा का करुण-दृश्य अंकित कर दिया है।

(२) चाली हंसन की चले चरन चोंच करि लाल।
लखि परिहैं बक तब कला भ्रम भारत ततकाल ॥

+ + + +

बरनै दीनदयाल बैठि हंसन की आली।
मंद मंद पग देत अहो यह छल की चाली ॥
—(दीनदयाल)

चरन चोंच लोचन रंगो चलो मराली चाल।
छीर नीर विवरन समय बक उघरत ततकाल॥
—(तुलसी)

दोनों का कथन एक ही है। दीनदयाल जी को कुंडलिया में स्थान की अधिकता के कारण पाखंड का रूप अधिक स्पष्ट करने का अवसर मिला है। पर भंडाफोड़ होने का ढंग भिन्न है। कपटी लोग सज्जनों का वेशमात्र धारण कर सकते हैं। तुलसीदास जी उनमें गुणों का अनुकरण करने की अयोग्यता को उनकी पोल खुलने का कारण मानते हैं तो दीनदयाल जी कहते हैं कि वे (कपटी लोग) अपने दुर्गुणों को छोड़ नहीं सकते, इसी से उनका भेद खुल जाता है।

(३) सब तरु धरा धरे रहे, देख बड़े प्रिय कीस।
पके ही तुलसी जसी, लघु सरूप हरि सीस॥
—(दीनदयाल)

सहज अपावन नारि, पति सेवत सुभ गति लहै।
जस गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय॥
—(तुलसी)

" हरि " की " तुलसी प्रियता " को लेकर दोनों कवियों ने क्या ही सुंदर उक्तियाँ कही हैं।

(४) जग को घन तुम देत हो गॅजिकै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान॥
—(दीनदयाल)

जलद जनम भरि सुरत बिसारउ। जाचत जल पवि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥
—(तुलसी)

कुडलिया मे बादल को उसके अविचार के लिये उपालभ है। 'रटि मरे' से चातक की निराशा भी व्यजित होती है, पर चौपाई से केवल चातक का दृढ प्रेम ही सूचित होता है। बादल चाहे जल बरसावे अथवा जल न बरसा कर ओले और वज्र ही बरसा दे, चातक अपना प्रेम नहीं छोड़ सकता।

(५) अहो कुसग प्रचड काहि जग मे न बिगारे।
—(दीनदयाल)

को न कुसगति पाय नसाई। रहै न नीच मते गरुआई॥
—(तुलसी)

दोनो का तात्पर्य एक है।

(६) बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहि।
यह तो ऊसर भूमि है अकुर जमिहै नाहि॥
अंकुर जमिहैं नाहि बरष शत जो जल दैहै।
गरजे तरजे कहा वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्यां तू बरखै॥
—(दीनदयाल)

ऊसर बरषै तृन नहि जामा। सत हृदय जिमि उपज न कामा॥
—(तुलसी)

"ऊसर भूमि मे सींचने से घास भी पैदा नहीं हो सकती।" इसी दृष्टात को लेकर दोनो कवि विपरीत मतो का निर्णय करते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रलोभनो के बीच मे रहते हुए भी "सतो के हृदय मे कामादि विकार पैदा ही नहीं होते।" दीनदयाल जी कहते हैं कि "मूर्ख को कितना ही उपदेश क्यो न दो कुछ भी

असर न होगा।" एक स्थल पर तुलसीदास जी ने भी यही उक्ति इसी से मिलते जुलते ढग से कही है—

फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहि जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि बिरंचि सत॥
—(तुलसी)

(७) आए ग्रीषम देखिहौ लघु सर तेरी शान।
कहा करै एतो बड़ो पावस पाय गुमान॥
—(दीनदयाल)

छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरे धन खल इतराई॥
—(तुलसी)

थोड़े ही वैभव पर फूल जाने वाले ओछे मन के लोगों की उपमा तुलसीदास जी " छुद्र-नदी " से देते हैं और दीनदयाल जी "लघु सर " से। बात एक ही है, पर हमें तुलसीदास जी की उक्ति स्वाभाविकता के अधिक सन्निकट जान पड़ती है।

(८) बरनै दीनदयाल कोऊ परसै जो पायस।
तऊ तजै न मलीन मलहि खाये बिन बायस॥
—(दीनदयाल)

बायस पलिअहि अति अनुरागा। कबहुँ निरामिष होहि कि कागा॥
—(तुलसी)

दोनों का भाव एक ही है।

(९) जग में गुनमय करि तुमैं बरनै सकल महान।
कहा भयो जो नहि कियो चपल एक अलि मान॥
चपल एक अलि मान कियो नहि कछू नसायो।
है कपास सहि खेद धन्य परछेद दुरायो॥

वरनै दीनदयाल स्याम याको गनि ठगमैं।
मधुप मद किमि जान तुमैं बुध जानै जगमैं॥
—(दीनदयाल)

साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय जेइ जग जसु पावा॥
—(तुलसी)

दोनों कथनों में बहुत साम्य है। 'गुनमय', 'सहिखेद', 'पर-छिद्र' शब्दों से साफ "तुलसीत्व" झलकता है, पर 'तुलसी' का रूपक 'सांगोपांग' है, कोई भी तुलना छूटने नहीं पाई है। दीनदयाल जी का "रूपक" क्षेत्र काफी बड़ा होने पर भी अपूर्ण ही रह गया है। यद्यपि कपास सज्जन की समता के लिये गिरि जी तुलसी के आभारी हैं, पर उनका कथन तुलसी से सर्वथा भिन्न है। उसमें पूर्ण मौलिकता है।

(१०) समै न आए काम, काम कोने, भ्रमि भूले।
—(दीनदयाल)

का बर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछिताने॥
—(तुलसी)

दोनों का सिद्धांत एक ही है। दीनदयाल जी ने विस्तार से कहा है।

(११) भारी भार भर्‍यो बनिक तरिबो सिंधु अपार।
तरी जरजरो फँसि परी खेवनहार गँवार॥
खेवनहार गँवार ताहि पर पौन झकोरैं।
रुकी भँवर में आय उपाय चले न करोरैं॥

बरनै दीनदयाल सुमिर अब तू गिरधारी।
आरतजन के काज कला जिन निज सभारी॥
—(दीनदयाल)

नैया मेरी तनिकसी बोझी पाथर भार।
चहुँदिशि अति भँवरे उठत केवट है मतवार॥
केवट है मतवार नाव मँझधारहि आनी।
आँधी चलत उदड ताहु पर बरसत पानी॥
कह गिरिधर कविराय नाथ हो तुमहि खेवैया।
उठै दया को डांड घाट पर आवै नैया॥
—(गिरिधर कविराय)

दोनो कवियो का तात्पर्य एक ही है। शब्दावली भी प्रायः समानातर है। दीनदयाल जी भवसागर में फँसे हुए मनुष्य को भगवद्भजन का उपदेश करते हैं, गिरिधरदास जी की कुडलिया मे भवसागर मे फँसा हुआ व्यक्ति दीनदयाल जी के उपदेश का पालन कर रहा है।

(१२) तौलों है ऋतुराज नहि कोकिल काग विचार।
स्याम स्याम रग एक से सोहत एकै डार॥
—(दीनदयाल)

भले बुरे सब एक से जौलो बोलत नाहि।
जानि परत हैं काक पिक रितु बसत के माहि॥

जो बात दोहे मे सक्षेपत कथन है वही बात दीनदयाल जी ने सविस्तर कही है।

(१३) गरलहु को तरु लाय न चाहिय निज-कर छेदन॥
—(दीनदयाल)

तोरिये न कवौ विपद्द को रूप लायकै ॥

दोनो कथन सर्वव्यापी लोकमत के ही आधार पर हैं।

(१४) ऐरे मेरे धोबिया तोसो भाखत टेरि।
पैसी धोती धोइ जो मैलो होय न फेरि ॥
—(दीनदयाल)

ऐसी धोती धोउ तू फेरि न मैला होय।
—(कबीर)

(१५) बरनै दीनदयाल नहीं जिन प्रेम किए पल।
ते किमि जानें पीर वियोगी जन की हे जल॥
—(दीनदयाल)

(अ) विन आपने पॉय बेवाई गए कोउ पीर पराई का पावतु है।
—(ठाकुर)

(आ) जाके पाँव न भई बेवाई। सो क्या जानै पीर पराई ॥

(इ) बाँझ कि जान प्रसव की पीरा —(तुलसी)

(ई) पंडित जन को श्रम मरम जानत जे मतिधीर।
कबहूँ बाँझ न जानई तन प्रसूत की पीर ॥ *
—(वृंदकवि)

दृष्टांत पृथक् पृथक् हैं। पर सबके कथन का तात्पर्य यही है कि "जिसके ऊपर बीतती है वही जानता है"।

इनके अतिरिक्त हिंदी-साहित्य के अन्य कवियो से भी दीनदयाल जी का बहुत कुछ साम्य है। जितने कवियो से हमने दीनदयाल जी का मिलान किया है वे सब दीनदयाल जी के पूर्ववर्त्ती थे। अतएव उनके काव्यों का अध्ययन एवं मनन करने से अनेक स्थलों पर जो भाव-सादृश्य दिखलाई देता है वह

---

* विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वी प्रसववेदनाम् ॥

स्वाभाविक ही है। सुकवियों की सूक्तियों, सुंदर भावो तथा व्यापक सिद्धांतो को कौन नहीं अपनाता। सुकवि वह है जो किसी भी कथन को मौलिकता का आवरण पहना दे। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो यह मानना पड़ता है कि दीनदयाल जी ने अन्य कवियो की उक्तियो की छाया लेने पर भी उनको अपनाने मे सफलता पाई है। उनकी कविता मे पूर्वकवि की अपेक्षा नूतन चमत्कार है, पूर्ण मौलिकता है।

(ई) पिंगल*

कविता मे मुख्य वस्तु सुन्दर भावपूर्ण उक्ति है। छंद तो उन भावो का, सूक्तियो का, आवरणमात्र है। सुकवि छन्द-सपुट मे अपने भावो को सुरक्षित रख सकता है। केवल कहने का कौशल चाहिए। कवियो ने भिन्न भिन्न छंदो मे अन्योक्तियाँ कही हैं, और सुंदर कही है। किंतु यह कहना ही पड़ता है कि कुछ ऐसे भी छंद हैं जिनमे अन्योक्ति विशेष रमणीय जान पडती है। 'लाल' गुदड़ी मे छिपा होने पर भी अपनी वास्तविक शोभा मे किसी प्रकार कम नहीं हो सकता। पर वही सुंदर सोने या चाँदी के सपुट मे, रेशम की तह मे लपेट कर रख दिया जाय तो उसकी शोभा विशेष भव्य हो जाती है। अन्योक्ति के लिये सबसे उपयोगी छंद दोहा और कुडलिया हैं। इन दोनो मे भी अन्योक्ति की जो चमत्कृति दोहे में झलकती है वह कुडलिया मे नहीं। दोहा है भी एक अपूर्व छंद। इस छंद मे कोई भी उक्ति बड़ी खूबी के साथ कही जा सकती है। संस्कृत के प्रयुक्त छंदो मे अनुष्टुपछंद सबसे छोटा है। इस वृत्त का प्रयोग इतनी अधिकता से हुआ है कि काव्य ग्रंथों की तो बात ही जाने दीजिए, रीतिग्रंथ, शास्त्र, पुराण,

---

* पिंगल का प्रारंभिक संक्षिप्त परिचय परिशिष्ट में देखिए।

ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत आदि सभी विषयों की रचना इसी छंद में हुई है। जो महत्व या जो स्थान संस्कृत में अनुष्टुप् वृत्त को मिला है वही महत्व, वही स्थान हिंदी में दोहे का है। यह छंद भी अनुष्टुप् की ही भाँति बहुत छोटा, कुल ४८ मात्राओं का छंद है। दोहा ही एक ऐसा छंद है जो अनुष्टुप् की तरह व्यापक है।। दोहे में हिंदी की जितनी अधिक रचना हुई है उतनी और किसी छंद में नहीं। कविवर बिहारीलाल के दोहों ने तो 'दोहे' की महिमा और भी बढ़ा दी है। हिंदी साहित्य की अधिकांश सूक्तियाँ दोहों में ही हैं, क्षेत्र संकुचित होने के कारण ४८ ही मात्राओं में कवि को अपने भाव भरने पड़ते हैं। अतएव कवि का कौशल भी इसी में झलकता है। दोहे की प्रशंसा में 'रहीम' कवि ने यथार्थ कहा है—

दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोरे आहि॥
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिटि कूदि कढ़ि जाहि॥

वास्तव में दोहा है भी ऐसा ही छंद। इसमें एक विशेषता और है। वह है इसकी श्रुति सुखदता। इस कारण से, एवं रचना की सरलता से इस छंद का उपयोग भी सर्व साधारण में अधिक है, तुकबंदी करनेवाले भी सर्वप्रथम दोहे को ही अपनाते हैं। यहाँ तक कि विज्ञापन बाजी और नोटिस-बाजी में भी दोहे का प्रयोग प्रचुरता से होता है। अस्तु, दोहे में कविता करनेवालों में बिहारी का ही स्थान सबसे ऊँचा है। दोहों में इनकी अन्योक्तियाँ कमाल की हैं। दोहे के पश्चात् कुंडलिया ही ऐसा छंद है जिसमें अन्योक्तियाँ सुंदर कही जा सकती हैं। अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ दोहे में क्षेत्र संकीर्ण है वहाँ कुंडलिया में बहुत विस्तृत क्षेत्र है। जो बात दोहे में बहुत थोड़े शब्दों में कहनी होती है वही बात कुंडलिया में स्पष्ट की जा सकती है। कुंडलिया के आदि में

दोहा' रहता है। नीचे का रोला छंद ऊपर के दोहे की प्राय टीका ही होती है। दोहे के प्रधान आचार्य बिहारी के दोहो पर विद्वानो ने कुंडलियाँ रचकर टीका भी की है। गिरिधरदास जी की कुंडलियाँ सबसे प्रसिद्ध हैं। इसका कारण है उनकी कविता का बोलचाल की भाषा मे होना, तथा उनकी रचना का प्रसाद-गुण एवं व्यावहारिक विषय। दीनदयाल जी की सभी अन्योक्तियाँ— कुछ को छोडकर कुंडलिया मे ही हैं। इनकी कुंडलियाँ भी बड़ी मधुर एव प्रसाद-गुण पूर्ण हैं। दीनदयाल जी ने कुंडलिया के अतिरिक्त अन्योक्ति के लिये "मनहरण कवित्त", "दुर्मिल-सवैया" और "मालिनी-वृत्त" का भी प्रयोग किया है। पर उनमें अन्योक्ति फबी नहीं। यहाँ पर सक्षेप से इस ग्रंथ मे प्रयुक्त छंदो के लक्षण और उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

१ कुंडलिया

कुंडलिया मे २४—२४ मात्रा के छ पद होते हैं। इस प्रकार यह १४४ मात्राओ का "मात्रिक-विषम-छंद" है। आदि मे दो दलो का एक दोहा और उसके बाद चार पदो का एक रोला छंद जोड़कर कुंडलिया छंद बनता है। दोहे के प्रथम चरण के आदि के कुछ शब्दो का रोला के चतुर्थ चरण के अंतिम शब्दो के साथ, और दोहे के चतुर्थ चरण का रोला के आदि से सिंहावलोकन * होना आवश्यक है। कुंडलिया के पाँचवें चरण के पूर्वार्द्ध

* 'सिंहावलोकन' का अर्थ है 'सिंह की तरह देखना'। सिंह का स्वभाव होता है कि वह चलते चलते एक झलक पीछे की ओर देखता जाता है। जहाँ पहिले चरण के अत का शब्द दूसरे के आदि में, दूसरे के अत का तीसरे के आदि में, इस क्रम से आते जाते हैं उसे "सिंहावलोकन" या "मुक्त-पद-ग्राह्य-यमक" कहते हैं।

में प्राय कवि का नाम रहता है । यही कुंडलिया का साधारण नियम है ।

तो में वस ! न सार कछु बकिवोह अभिमान ।
ताते भले न तोहि को विरचे आप समान ॥
विरचे आप समान, न तो हिय सत निहारत ।
तेरे पास हुलास तासु तें तिनहु जारत ॥
बरनै दीनदयाल डोल तिनको न कहूँ मैं ।
गथसार का करै, सार है वस न तो मैं ॥

२—दोहा

दोहा चार चरणों का "मात्रिक-अर्द्ध-सम-वृत्त" है । इसके पहले और तीसरे चरणों मे १३, तथा दूसरे और चौथे चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं । विषम चरणों के आदि मे 'जगण (। ऽ ।)' वर्जित है, अंत में लघु (।) होता है । इस प्रकार दो दलों * का एक दोहा बनता है । दोहे की बनावट दो प्रकार की होती है—

(१) विषम-कलात्मक, और (२) सम-कलात्मक । (१) विषम-कला का (। ऽ) या (ऽ ।) अथवा (।।।) यह रूप होता है । अत एक दल का रूप होगा—३+३+२+३+२, ३+३+२+३ । अर्थात् विषम चरण में दो त्रिकल के पश्चात् एक द्विकल, फिर एक त्रिकल और एक द्विकल, तथा सम चरण में दो त्रिकल के पश्चात् एक द्विकल पुन एक त्रिकल । विषम चरण में द्विकल के पश्चात् जो त्रिकल होता है उसका रूप (। ऽ) नहीं होना चाहिए । सम चरण के अंतिम त्रिकल

* दोहा, सोरठा, बरवे आदि छंद दो पंक्तियों में लिखे जाते हैं । प्रत्येक पंक्ति को "दल" कहते हैं ।

का रूप (ऽ।) यही होना चाहिए, अर्थात् सम चरण के अंत में एक गुरु लघु (ऽ।) अवश्य होना चाहिए।

होत उजागर वन बगर, मधुप मलिन तव आस।
ऽ। ।ऽ।। ।।।।। ।।। ।।।।। ऽ।
३ +३+२+३+२, ३ + ३ + २ +२ ।

(२) सम-कल का (।।ऽ) या (ऽऽ) अथवा (।।।) या (ऽ॥) यह रूप होता है। समकलात्मक में एक दल का रूप होगा—

४+४+३+२, ४+४+३।

अर्थात् विषम चरण मे दो चौकल के बाद एक त्रिकल और द्विकल, तथा सम चरण मे दो चौकल के पश्चात् एक त्रिकल। विषम चरण के त्रिकल का रूप (।ऽ) न पडना चाहिए, और सम चरण के त्रिकल का रूप (ऽ।) अवश्य हो, अर्थात् सम चरण के अंत मे गुरु लघु (ऽ।) पड़ने चाहिए।

नाहीं मानस हस यह , नहि मुकुतन की रासि।
ऽ ऽ ऽ।।ऽ।।।, ।। ।।।। ऽ ऽ।
४+ ४+ ३+२, ४ + ४ + ३॥

साराश यह कि दोहे के आदि मे सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम-कल का प्रयोग होता है। विषम-चरणो के अंत मे सगण रगण अथवा नगण न पड़ें और सम के अंत में जगण अथवा सगण अर्थात् गुरु लघु (ऽ।) अवश्य हो। शब्द-योजना ठीक न होने के कारण नियमो का अपवाद भी हो सकता है। अतएव दोहे की लय या गति का ज्ञान होना परमापेक्ष्य है। वास्तव मे 'लय' या 'गति' की पहिचान ही किसी छंद का सच्चा और व्यापक लक्षण है। उदाहरण—

बारि बिलोवै डारि दधि, अरी आँधरी ग्वारि।
S I I S S S I I I, I S S I S S I
८ ५ ८ ३

ह्वै है श्रम तेरो वृथा, नहि पैहै घृत हारि॥
S S I I S S I S, I I S S I I S I
८ ५ ८ ३

दोहे के अनेक भेद होते हैं, विस्तारभय से उन सबके नाम और लक्षण न देकर केवल मुख्यों के ही नाम दिए जाते हैं—

(१) भ्रमर, (२) भ्रामर, (३) शरभ, (४), श्येन, (५) मण्डूक, (६) मर्कट, (७) करभ, (८) नर, (९) हंस, (१०) गयन्द, (११) पयोधर, (१२) बल या चल, (१३) वानर, (१४) त्रिकल, (१५) कच्छप, (१६) मच्छ (१७) शार्दूल (१८) अहिवर, (१९) व्याल, (२०) विडाल, (२१) श्वान, (२२) उदर और (२३) सर्प।

दोहे के विषम चरणों के आदि में ऐसा शब्द न आना चाहिए जिसमें जगण (I S I) हो। जिनमें जगण का प्रयोग होता है उनका नाम "चाण्डालिनी" है। चाडालिनी की स्वाभाविक लय में न्यूनता आजाती है। अतएव यह दूषित पद त्याज्य है।

३—रोला

रोला 'मात्रिक-सम छंद' है। इसके प्रत्येक चरण में ११ और १३ के विश्राम से २४ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार चारों चरणों में मिलाकर यह कुल ९६ मात्राओं का छंद है। (जिस रोला के चारों

चरणों में ११ वीं मात्रा लघु हो उसे "काव्य-छंद" कहते हैं।) इस लक्षण के अनुसार यह दोहे का उलटा अर्थात् सोरठे से मिलता जुलता ज्ञात पड़ता है। पर इसकी लय सोरठे से सर्वथा भिन्न है और इसके प्रत्येक चरण का पूर्वार्द्ध (११ मात्रा तक) बहुधा सोरठा का विषम (अथवा दोहे का सम चरण) है। लय अथवा लक्षण किसी में भी भेद नहीं है, पर ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। सोरठे से इसकी लय-विभिन्नता का कारण रोला के चरण का उत्तरार्द्धभाग है। सोरठे के समचरण का रूप ३+३+२+३+२ अथवा ४+४+३+२ होता है, अर्थात् दोहे की भाँति इसके आदि में विषम के पश्चात् विषम और सम के बाद सम-कल का प्रयोग होता है। रोला के चरण के उत्तरार्द्ध का क्रम इससे भिन्न है। रोला के चरण के उत्तरार्द्ध में पहले विषम-कल फिर सम-कल और अंत में एक चौकल (२+२) का होना आवश्यक है। बहुधा आदि का रूप ३+२ रहता है। अंत में दो गुरु (SS) या दो लघु एक गुरु (IIS) या एक गुरु दो लघु (SII) अवश्य होना चाहिए। बस, अब सोरठा और रोला की लय में अवश्य भेद पड़ जायगा। कुंडलिया और छप्पय के साथ तो इसका प्रयोग अनिवार्य है।

उदाहरण

जहाँ कला सब लीन कला सफला है सोई।
और कला जग चला जथा चपला घन होई॥
बरनै दीनदयाल भागि जनि आगि निहारत।
धरे सती को स्वाँग कहा पग पीछे धारत॥

इस रोले मे दूसरे चरण का पूर्वार्द्ध सोरठा के सम चरण से नहीं मिलता। इसमे अंत में लघु गुरु (IS) आजाने से लय खटकनी सी है।

४—कवित्त (मनहरण) या घनाक्षरी।

यह "वर्णिक-सम-दंडक" वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण मे ३१ वर्ण होते हैं, १६ और १५ पर विराम होता है, लघु गुरु का कोई विशेष नियम नहीं है। केवल अंत मे एक गुरु अवश्य होना चाहिए। यही इसका साधारण लक्षण है। इसमें 'लय' ही प्रधान है। कवित्तो मे सम प्रयोग कर्ण मधुर होते है। परंतु दो विषम प्रयोगो को एक साथ रखने में उनमें भी समता आ जाती है और वे श्रुतिप्रिय हो जाते हैं। प्राय वर्णो का क्रम ८+८, ८+७ यही रहता है। प्रत्येक अष्टकल का रूप "सम+सम+सम+सम" अथवा "विषम+विषम+सम" अथवा "सम+विषम+विषम" होना चाहिए। अन्यथा लय में बाधा होती है, यह छंद भी बड़ा व्यापक है। रीति ग्रंथो के उदाहरण बहुधा इसी छंद मे दिए गए हैं, लय का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसमें रचना करना बहुत आसान होता है, दूसरे इसमें भावो को प्रकट करने के लिये क्षेत्र भी खूब रहता है। अत आरंभ मे नौसिखुए कवि इसी छंद को अपनाते हैं। कवित्त 'पद्माकर' के सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। 'पद्माकर' के कवित्तो की गति प्रावाहिक और कर्ण-मधुर है। दीनदयाल जी ने इस ग्रंथ मे दो ही कवित्त कहे हैं। इस ग्रंथ मे तो नहीं पर इनके अन्य ग्रन्थो मे कितने ही कवित्त आए हैं उनमें प्रवाह बहुत ही सुंदर है। वर्णो का संगठन भी बहुत ही मनोहर है।

कवित्त का उदाहरण

सुनो अरविंद हे मलिंद बिन सजै नाहिं,
केलि मल कीटन की रावरे बितान मे।

जानें कहा मंद ये सुगंध मकरंद गुन,
गावें दीनदयाल तव माधुरी जहान में॥

तेऊ यह कला लखि भलो नहिं कहैं अब,
　　मूँदि लेहु मुख गिने जाहुगे मलान मैं।
हेरि इस ओर फेरि खोलिहो भए तें भोर,
　　कीजिए सुजान बात भली जो महान मैं॥

५—मालिनी

यह "वर्णिक-सम-वृत्त" है। इसके प्रत्येक चरण मे १५ वर्ण होते हैं, ८ और ७ पर यति होती है। वर्ण-क्रम इस प्रकार होता है—

नगण + नगण + मग,ण + यगण + यगण
।।।　　।।।　　ऽऽ,ऽ　　।ऽऽ　　।ऽऽ

प्रस्तुत ग्रथ मे पाँच मालिनी वृत्त आए है (देखिए चतुर्थ शाखा छंद सख्या ११ से १५ तक)। पाँचो बड़े मधुर हैं, लय या पिंगल की दृष्टि से उनमे कोई दोष भी नहीं है। उदाहरण—

अभिनव घनस्यामै, ध्याउ आभा सु जामै।
विसद वकुल माला, सोभती है विसाला॥
द्विजगन हरखावै, ध्यान कै मोद पावै।
पथिक नयन दीजे, ताप को सात कीजे॥

६—सवैया (दुर्मिल)

प्रस्तुत ग्र थ मे पाँच दुर्मिल—सवैयाओ का भी प्रयोग किया गया है। सवैया "वर्णिक-समवृत्त" है, २२ से लेकर २६ वर्ण तक के छंद सवैया के नाम से प्रख्यात हैं। एक गुरु के बाद दो लघु (ऽ।।) या दो लघु के बाद एक गुरु (।।ऽ) को कई वार रख देने से सवैया की लय बन जाती है। फिर चाहे जितनी वार उनको रखकर अत मे आवश्यकतानुसार लघु गुरु बढ़ा

कर अपनी संख्या पूरी कर लीजिए । छंद तैयार हो जायगा। यह (ऽ।।) रूप "भगण" और यह (।।ऽ) रूप "सगण" कहलाता है । अत सवैया मे प्राय 'भगण' या 'सगण' का प्रयोग होता है । इसमे अपवाद भी हो सकता है । "दुर्मिल सवैया" आठ सगण (।।ऽ) का होता है। चार सगण का "त्रोटक" छंद होता है । जैसे—

जय रा म सदा सुख धा म हरे ।

।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ ।।ऽ

अत 'त्रोटक' का ठीक दूना 'दुर्मिल-सवैया' होता है । प्रत्येक चरण मे २४ वर्णों के हिसाब से कुल मिलाकर ९६ वर्ण होते हैं । सवैयाओ मे बहुधा लघु गुरु का क्रम ठीक न होने से भ्रम हो जाता है कि यथार्थ में यह सवैया है या कोई विशेष मात्रिक छंद । ऐसी अवस्था मे लय का और दो लघु के बाद एक गुरु का ध्यान रखने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है । देखिए—

विष नीर की पीर कै धीर सहै चढ़ि चीर सरीरहि दाहिनो है ।

।। ऽ ।ऽ ऽ । ऽ ऽ।।ऽ ।। ऽ। ।ऽ।। ऽ ।ऽ ऽ

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

इसमे दूसरे, तीसरे और आठवें गण का रूप सगण न होकर यगण है, पर है यह सवैया ही । पढ़ने मे इसका रूप यो होगा—

विष नी र कि पीर क धीर स है चढ़ि चीर सरीर हि दाहिन है

। ।ऽ ।। ऽ। । ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।।ऽ।। ऽ।।ऽ

इसी प्रकार और भी समझना चाहिए ।

सवैया छंदो के—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं—अनेक भेद हैं । किंतु हिंदी-साहित्य मे दुर्मिल, मत्तगयद, मदिरा, किरीट,

बरसात और सुंदरी बहुत प्रचलित हैं, इनके अतिरिक्त चकोर, मुधुरी, वाम, अरविंद, लवगलता, सुरा और मुक्तहरा नाम के सवैया वृत्त भी होते हैं।

५—अंत

अब हम दीनदयाल जी की कविता की संक्षिप्त समालोचना करके इस विषय की समाप्ति करते हैं। दीनदयाल जी की भाषा "ब्रजभाषा" है। पर यह मंजी हुई नहीं है। स्थान स्थान पर व्याकरण संबंधी अनेक त्रुटियाँ हैं, पर इसमें दीनदयाल जी का दोष नहीं है। प्रायः संस्कृत के विद्वान् हिंदी की उपेक्षा करते आए हैं, इसी से वे हिंदी की ओर से लापरवाह से रहते है। इससे उनकी भाषा अशुद्ध रहती ही है। संस्कृत के धुरंधर विद्वान् होने के कारण इनका यह दोष क्षम्य कहा जा सकता है। कुछ भी हो इनकी भाषा ललित एवं प्रसाद गुण-पूर्ण है। कहीं कहीं शब्दों का संगठन क्लिष्ट है और अर्थ समझने मे कठिनता भी अवश्य पड़ती है, पर भाव सरलता से समझ मे आजाता है। अब रहे भाव। दीनदयाल जी का अध्ययन और अनुभव खूब बढ़ा चढ़ा था। अत इनके भाव इनके अंतस्तल की नैसर्गिक प्रसूति होने के कारण पूर्णत हृदय-स्पर्शी हैं। उनकी कथनशैली ऐसी मनोमोहक और प्रभावोत्पादक है कि भाव पाठको के हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं और असर किये बिना नहीं रहते। अध्यात्मवादियो मे दीनदयाल जी का स्थान ऊँचा है। आजकल के "छायावाद" नाम से कविता करनेवालो को विदेशी कवियो की जूठन न खाकर दीनदयाल और उनके समकक्ष अन्य अध्यात्मवादियो का अध्ययन एवं मनन कर उनका प्रसाद पाना चाहिए। 'आध्यात्मिक" ज्ञान में

भारतवर्ष की समता न तो कोई देश कर सका, न कर सकता है। पर भारत के होनहार नवयुवक "छायावादी" कवि अपने प्राचीन "अध्यात्म-साहित्य" को देखते तक नहीं। उसपर, अपने स्वत्त्व पर, अधिकार न कर विदेशी साहित्य से उधार ले रहे हैं। निस्सन्देह उनका यह कार्य स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। अस्तु, ऐसे लोगों से हमारा अनुरोध है कि पहले अपने खजाने का उपयोग करें और तब बाहर से कर उगाह कर अपने खजाने की वृद्धि करें। कविता आरंभ करने के पूर्व अपने यहाँ के अध्यात्म साहित्य को पढ़ें और तब अन्य देशों के 'Mysticism" (मिस्टिसिज्म) का अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करें।

दीनदयाल जी की कविता में पिंगल संबंधी त्रुटियाँ नहीं के बराबर हैं। धारा प्रवाहिकता और सरसता उनका सहज-गुण है। पढ़ते समय जिह्वा स्वतः फिसलती जाती है। काव्य-शास्त्र का ज्ञान दीनदयाल जी को कहाँ तक था उसका परिचय देने के लिये इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ध्वनि-व्यंग्य आदि से इनका एक भी पद्य खाली नहीं है। फिर अलंकारों का तो पूछना ही क्या? यदि "ध्वनि काव्य" ही श्रेष्ठ काव्य कहा जाय तो यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति न होगी कि—

"दीनदयाल जी का काव्य व्यंग्यमय है, अतएव उनकी कविता उच्चकोटि की कविता है और दीनदयाल जी अपने समय के एक उच्चकोटि के 'सुकवि' हैं।"

"अन्योक्ति कल्पद्रुम" के इतने संस्करणों के होते हुए भी हमने यह ग्रंथ क्यों लिखा? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर है—हमारा व्यसन प्रत्येक व्यक्ति को प्रायः किसी न किसी बात का चसका लग ही जाता है। हमें भी प्राचीन काव्यों की टीका-टिप्पणी करने की एक धुन सवार होगई है। यह ऐसा भयंकर व्यसन होगया है कि

अपने कई हितैषी समालोचकों के बार-बार मना करने पर भी हम अपने इस कार्य से हाथ नहीं खींच सके। हमारे इस संस्करण में कौन सी विशेषता या नूतनता है, यह अच्छा हुआ या नहीं इत्यादि बातें कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यह काम तो समालोचकों का है। हम उन सभी विद्वान् समालोचक महोदयों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने समय समय पर परामर्श देने और गुण दोष सुझा देने का कष्ट किया है। भूल करना मानव शरीर का धर्म है। समालोचकों का काम उन्हीं त्रुटियों को सुझा देना है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि आजकल हिंदी साहित्य में ऐसे निष्पक्ष समालोचकों का अभाव है। अस्तु, जहाँ तक हमारी बुद्धि पहुँच सकती थी हमने यथाशक्ति अत्यंत विवेचनापूर्ण दृष्टि से इस ग्रंथ का संपादन किया है। संसार में निर्दोष कोई भी नहीं है, अतएव हम भी दोषों या भ्रमों से बच नहीं सकते। विद्वान् सत्समालोचकों से एक बार पुनः अनुरोध है कि इस ग्रंथ की निष्पक्ष आलोचना करके हमारे गुण-दोष सुझाने एवं समुचित परामर्श देने का कष्ट करें जिससे अगले संस्करण में उचित सुधार किया जा सके।

जिन ग्रंथों से हमने इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली है उनके लेखकों को भी धन्यवाद देना हमारा परम कर्तव्य है। इस संस्करण के पाठ-संशोधन करने में हमें दीनदयालु जी की स्वहस्तलिखित प्रति से सहायता मिली जो हमें हिन्दू विश्व विद्यालय के प्रोफेसर पंडित बटुकनाथ शर्मा उपाध्याय एम० ए० से प्राप्त हुई थी एतदर्थ हम उनके अत्यंत कृतज्ञ हैं।

हमारे प्रिय पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र साहित्यशास्त्री, ग्रंथ में इति तक अपनी अमूल्य सम्मतियों और परामर्शों द्वारा सहायता न करते और इसकी लिखित प्रति के संशोधन का

कष्ट न करते तो हम पुस्तक को प्रस्तुत रूप में ला सकते या नहीं इसमें संदेह है। अतएव उनको धन्यवाद देना कोरा शिष्टाचार मात्र है। हम उनकी सहायता के अत्यन्त आभारी हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि उनकी चिर उन्नति हो और वे हिंदी-संसार में अमर-कीर्ति लाभ करें।

गंगा दशहरा
संवत् १९८४ विक्रमाब्द

भगवानदीन 'दीन'
मोहनवल्लभ पंत

अन्योक्ति कल्पद्रुम

प्रथम-शाखा

दोहा

मूल—यह कल्पद्रुम* बुध सुखद, अरथ अनूप उदार।
विरच्यो दीनदयाल गिरि, अभिमत-फल-दातार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कल्पद्रुम=(स० कल्पना+द्रुम) वह वृक्ष जो कल्पना किए हुए पदार्थ दे। स्वर्ग में पाँच वृक्ष ऐसे हैं जिनके नीचे जाने से सभी कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। वे पाँच वृक्ष ये हैं —

(१) मन्दार, (२) पारिजात, (३) सतान, (४) कल्प-वृक्ष और (५) हरिचन्दन †। देवताओं और दैत्यों ने समुद्र

---

* कल्पस्य वृक्ष कल्प-वृक्ष जन्य जनक भावे षष्ठी। कल्प' सङ्कल्पितोऽर्थं तस्य वृक्ष। कल्पो विकल्पे कल्पद्रौ संवर्त्ते ब्रह्मवासरे। शास्त्रे न्याये विधौ इति हेमचन्द्र।

† पञ्चैते देवतरवो मन्दार पारिजातक।
सन्तान "कल्पवृक्षश्च" पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥
—अमरकोश।

मथकर चौदह रत्न निकाले थे। उन्हीं १४ रत्नों में एक कल्पवृक्ष भी है।*

अनूप=(स०) अनुपम। उदार=(स०) विस्तृत, व्यापक। अभिमत=अभीष्ट, मन-इच्छित। दातार=(स० दातृ) देने वाला।

भावार्थ—सरल ही है।

मंगलाचरण

(कुंडलिया)

मूल—बंदौ मंगलमय विमल, व्रज-सेवक सुख-दैन।
जो करि-बर-मुख मूक हो, गिरा नचावै सुखैन॥
गिरा नचावै सुखैन, सिद्धिदायक सब लायक।
पसुपति प्रिय हिय-बोधकरन निर्जर-गन-नायक॥
बरनै दीनदयाल दरसि पदद्वंद अनंदौ।
लंबोदर मुकुंद देव दामोदर बंदौ॥ २॥

प्रकरण—इस छंद मे श्लेष से लंबोदर और दामोदर दोनो की स्तुति की गई है।

शब्दार्थ—(गणेश पक्ष)—विमल=मल रहित, विकारहीन। व्रज (स० 'व्रज्' गमने धातु से)=मार्ग। व्रजसेवक=पथिक, यात्री। करिवर-मुख=श्रेष्ठ हाथी के समान मुखवाले (गणेश)।

---

* उन १४ रत्नों के नाम ये हैं—

श्री, मणि, रंभा, वारुणी, अमिय, शंख, गजराज।
'कल्पद्रुम,' शशि, धेनु, धनु, धन्वंतरि, विष, बाज॥

मूक=(स०) गूगा, जो बोल नहीं सकता। सुखैन=(स०सुखेन) सुखपूर्वक, सहज ही। सिद्धि=आठ सिद्धियाँ।†

अथवा कार्यो की सफलता। लायक=(अरबी) योग्य। पसुपति-प्रिय=पशुपति (महादेव जी) के प्यारे (षष्ठीतत्पुरुषसमास)। हिय=(स० हृदय)। बोध=ज्ञान। निरजर=(स० निर्जर) (निर्) नहीं है जरा (वृद्धावस्था) जिसको अर्थात् देवता (बहुव्रीहि)। गन=(गण) महादेव जी के सेवक—भूत प्रेतादि। गननायक=श्रीगणेश जी महादेव जी के गणों के अधिपति हैं, इसी से उनका नाम 'गणेश' है। दरसि=देखकर। पदद्वन्द्व=पदों का द्वन्द्व (जोड़ा) दोनों चरण। अनदो=('आनद' भाववाचक सज्ञा से 'आनदना' क्रिया बना ली है) प्रसन्न होता हूँ। लबोदर=लबा है उदर जिसका अर्थात् श्रीगणेश जी (बहुव्रीहि)। मुद=(स०) आनद। कद=(स० क=जल+द=देनेवाला) बादल।

(श्रीकृष्ण पक्ष)–व्रज=देश विशेष, जहाँ वृन्दावन, गोकुल, बरसाना आदि नगर बसते हैं। व्रजसेवक=ग्वाले, व्रजवासी। जो करिवर-मुख मूक ही गिरा नचाव सुखैन=जो हाथी के मुखवाले अतएव गूगे श्रीगणेश जी के मुख मे भी सहज ही वाणी का सचार करते हैं (अन्यथा हाथी का मुख नर-वाणी बोले यह असम्भव है)। इसका अर्थ यो भी समीचीन है, "जो मूक ही वर मुख करि ।" अर्थात् गूगे को भी श्रेष्ठ मुखवाला बना कर । पशुपतिप्रिय=(तत्पुरुषद्वारा) शिव के प्यारे (बहुव्रीहि द्वारा) शिव जिनको प्यारे हैं अर्थात् श्रीकृष्ण। निरजर-गन-नायक=सब देवताओं में श्रेष्ठ। दामोदर=दाम (रस्सी) है उदर में जिसके अर्थात्

---

† अणिमा, महिमा, चैव, गरिमा लघिमा, तथा।
प्राप्ति, प्राकाम्य मीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धय ॥—(अमरकोश)

श्रीकृष्ण (बहुव्रीहि), (यशोदा ने श्रीकृष्ण जी को रस्सी द्वारा ऊखल मे बाँधा था)। 'दाम' का अर्थ 'इंद्रिय निग्रह' भी होता है। अत 'दामोदर' का अर्थ वही हो सकता है जो 'हृषीकेश' का अर्थात् 'इंद्रियो का दमन करनेवाले'। यहाँ 'उदर' का अर्थ 'पेट' न लेकर लक्षणा से 'चित्त' लेना होगा।

विशेष—ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रंथकार दीनदयाल-गिरि जी सर्वसिद्धिदायक विघ्नविनाशक श्रीगणेशजी की वंदना करते है। पर एक छंद में श्रीगणेश जी के साथ श्रीकृष्ण जी की भी वंदना करने मे कवि ने 'श्लेष' से जो काम लिया है वह वास्तव मे सराहनीय है। श्लिष्ट शब्दो के दो दो अर्थ करने में तोड़ मरोड़ या खींचातानी करने की भी जरूरत नही पड़ती।

भावार्थ—(श्री गणेशजी)—कवि दीनदयाल गिरि कहते है—मंगलकारी, निर्मल (निर्विकार), यात्रियो को सुख देनेवाले (यात्रा के आरंभ मे गणेश जी का स्मरण करने से यात्री के मार्ग मे कोई विघ्न नही पड़ता और वह सुखपूर्वक अपनी यात्रा समाप्त करता है), स्वय गजानन होते हुए भी गूंगे मे सहज ही वाणी का सचार करनेवाले (अर्थात् जिनके प्रसाद से गूंगा भी बोलने लगता है), प्रत्येक कार्य में सफलता देनेवाले, सर्व सद्गुण सपन्न, महादेव जी के प्यारे (पुत्र), हृदय में ज्ञान पैदा करनेवाले, निर्जर (सदा बाल-स्वरूप), शिवजी के गणो (भूत प्रेतादिकों) के अधिपति, ऐसे आनद को बरसाने वाले देवता श्रीलंबोदर (गणेश) जी की वदना करता हूँ और उनके चरण युगल को देख कर आनदित होता हूँ।

(श्रीकृष्ण जी)—दीनदयाल कवि कहते हैं—मगलमय, निर्विकार, व्रजवासी गोपगणो को सुख देनेवाले, हाथी के मुख वाले अतएव गूंगे श्री गणेशजी मे भी सहज ही वाणी का सचार

करनेवाले, अष्टसिद्धि के दाता, सब प्रकार से योग्य, महादेवजी को प्यार करनेवाले (अथवा महादेव जी के प्यारे), सब देवगणों के स्वामी, ऐसे आनंद के देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जी की वंदना करता हूँ और दोनों चरणों को देख कर प्रसन्न होता हूँ।

अलंकार—अर्थ श्लेष।

कल्पद्रुम

मूल—दानी हो सब जगत मे एकै तुम मंदार।
दारन दुख दुखियान के अभिमत-फल-दातार॥
अभिमत-फल-दातार देवगन सेवे हित सो।
सकल संपदा सोहे छोह किन राखत चित सो॥
बरनै दीनदयाल छाह तव सुखद बखानी।
ताहि सेइ जो दीन रहै दुख तौ कस दानी॥ ३॥

शब्दार्थ—एकै=(सं० एकैव) एक ही, एकमात्र। मंदार= पाँच देववृक्षों में से एक वृक्ष, इन पाँचों वृक्षों को 'कल्पवृक्ष' कहते हैं। दारन दुख=(दुःख-दारण) दुःखों का नाश करनेवाले। छोह=दया। संपदा=ऐश्वर्य। बखानी=कही गई है।

भावार्थ—हे कल्पवृक्ष, संसार में दानी केवल तुम्हीं हो, क्योंकि तुम दुखियों के दुःख दूर करते हो और मन इच्छित पदार्थ देते हो। इसी से देवता बड़े प्रेम से तुम्हारी सेवा करते हैं। तुममें सभी संपत्ति शोभती है, अतएव लोग जी-जान से क्यों न तुमको प्यार करें? तुम्हारी छाया तक सुख देनेवाली कही जाती है। किंतु तुम्हारी उस छाया की सेवा करने पर भी कोई दीन मनुष्य यदि दुःखी ही रहे (उसका दुःख दूर न हो) तो तुम दानी कैसे?

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी उदारचेता धनी पुरुष की ओर लक्ष्य करके कही गई है। उदार मनुष्य का काम ही दीन दुखियों

की सहायता करना और यथासाध्य उनकी आवश्यकताएँ पूरी करना है। ऐसे मनुष्यों का सम्मान करने को बड़े-बडे लोग उत्सुक रहते हैं। ससार की यह रीति ही है कि जिसके पास धन सपत्ति होती है उसे सभी मानते हैं। फिर अगर वह उदार (दानी) भी हो तो कहना ही क्या ? उसकी छाया के निकट रहना तक—उसके पड़ोस पास मे रहना तक—सुखद माना जाता है। ऐसे दानी के निकट रहने पर भी अगर कोई दीन-दुखी रह जावे तो उस की उदारता मे धट्टा लगता है। कारण कि उदारचेता धनी मनुष्य की सेवा निष्फल हो नही सकती।

षट्ऋतु—वर्णन

वसत

मूल—हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आसा भरो दलहिं करो अभिराम॥
दलहिं करौ अभिराम कामप्रद द्विज गुन गावै।
लहि सुवास सुखधाम बात बर ताप नसावै॥
बरनै दीनदयाल हिये माधव धुनि प्यारी।
श्रवन सुखद सुकवैन विमल बिलसै हितकारी॥ ४॥

प्रकरण—यह अन्योक्ति वसत और किसी हितकारी पुरुष को लक्ष्य करके कही गई है।

शब्दार्थ—(वसत-पक्ष)—हितकारी=(स०) दूसरे की भलाई करनेवाला, ऋतुराज=ऋतुओं मे श्रेष्ठ (वसत ऋतु)। साजत=सजाते हो। आराम=(स०) बाग, उपवन। सुमन (स०)=फूल। आसा=(स० आशा) दिशा, दलहि=पत्तो को, पल्लवो को। अभिराम=सुदर। (वसत मे नवीन किसलय बड़े ही सुदर दिखलाई देते हैं।) कामप्रद=काम को उत्तेजित करनेवाला।

(वसत कामदेव का सखा और सहायक माना जाता है, क्योकि इस ऋतु मे कामोद्दीपन होना बहुत स्वाभाविक है।) द्विज=(स०) दो वार जिसका जन्म हो अर्थात् पक्षी (एक वार गर्भ से, दूसरी वार अंडे से)। लहि=(स० लभ्) पाकर। सुवास=सुगध। सुख-धाम=सुखद (सुवास का विशेषण है)। वातवर=सुदर (मद, सुगध शीतल) मलयाचल की वायु। ताप=गर्मी। हिये=हृदय मे। माधव=वैशाख के महीने का नाम 'माधव' है, यहाँपर लक्षणा से इसका अर्थ 'वसत' लिया जायगा। सुक=(स० शुक) सुग्गा, तोता। (शुक का अर्थ भी लक्षणा से वसत मे होनेवाले पक्षी लिया जायगा)। वैन=(स० वचन, प्रा० वअन), बोल।

(परोपकारी पक्ष)—आराम=(स०) सुख चैन। सुमन=अच्छे मन अर्थात् अच्छे अच्छे विचार। सहित=हित के सहित। दल=परिवार। अभिराम=आनदित। कामप्रद=सवकी कामनाओ को पूरा करनेवाला। द्विज=ब्राह्मण (जन्म से और सस्कार से)। सुवास=सुदर वस्त्र। धाम=घर। वात वर=मीठी मीठी (सहानुभूति पूर्ण) बातें। ताप=दु ख। माधव=(मा=लक्ष्मी + धव=पति) लक्ष्मी के पति भगवान् श्रीकृष्णजी। सुक=शुकदेव।

भावार्थ—(वसत—पक्ष)—हे वसत, तुम बड़े उपकारी हो क्योकि तुम सारे ससार रूपी उपवन को सुसज्जित कर देते हो, रग विरगे फूलो से दिशाओ को भर देते हो, पत्तो (किसलयो) को नूतन एव हरा भरा कर देते हो और कामोद्दीपक (काम के सखा) हो। इसी से पक्षी तुम्हारा गुणगान करते हैं। (वसत मे असख्य प्रकार की चिड़ियाँ गाती हैं)। मलयाचल की सुन्दर वायु तुमसे (वसत ऋतु के सुगधित पुष्पादि से) अत्यन्त सुखद सुगध पाकर गरमी का नाश करती है। दीनदयाल कवि कहते हैं कि—हे माधव (वसत) तुम्हारे हृदय मे कानो को प्रिय लगनेवाले सुग्गा, कोकिल

आदि वासंती पक्षियों के मधुर कूजन की प्यारी ध्वनि (कलरव) विराजमान है। (वसंत में पक्षियों का कलरव बड़ा ही मधुर जान पड़ता है) इसलिये तुम हितकारी की भाँति निष्कपट रूप से विलास करते हो। (वसंत की वायु बड़ी शुद्ध—निर्मल—होती है)।

(परोपकारी पक्ष)—हे परोपकारी, तुम वसंत ऋतु के समान सब लोगों को सुखी करते हो। तुम मनस्वी हो, क्योंकि दूसरों का हित-चिंतन ही तुम्हारे मन का काम है। तुम और लोगों की आशा (कामना) तो पूरी करते ही हो, साथ ही अपने परिवार वालों को भी संतुष्ट एवं सुखी रखते हो, इसी से ब्राह्मण तुम्हारा गुण गान करते हैं। दीन दुःखी भी तुमसे सुंदर कपड़े और सुख देनेवाले निवास स्थान पाकर, तुम्हारे सहानुभूति पूर्ण मधुरवचनों से अपने दुःखों को भूल जाते हैं। तुम्हारे हृदय में श्रीकृष्ण का मधुर उपदेश (दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम्—गीता) गूंज रहा है और कानों में शुकदेव जी के सुख देने वाले वचन सुनते हो अर्थात् नित्य श्रीमद्भागवत श्रवण करते हो, इसीलिये हे हितकारी तुम निष्कपट रूप से आनंद करते हो।"

अलंकार—श्लेष।

मूल—छूटे साखिन अपत करि, सिसिर सुसजे वसंत॥
दै दल सुमन सुफल किए, सो भल सुजस लसंत॥
सो भल सुजस लसंत सकल द्विजगन गुन गावैं॥
अमल कमल जल जीव हंस हरि वर सुख पावैं॥
वरने दीनदयाल दुसह दुख तें द्रुम छूटे॥
भे तुरत विकसंत अंत अतिसै जे लूटे॥ ५॥

शब्दार्थ—साखिन=(सं० शाखिन्) वृक्षों को। अपत=(१) पत्र हीन, पत्तों से रहित (२) पति (प्रतिष्ठा) हीन। सिसिर=(सं० शिशिर) माघ फाल्गुन का जाड़े का मौसम। दल=पत्ता।

लसत=शोभता है। द्विजगन=(१) पक्षी, (२) ब्राह्मण। हरि=शुक। अतिसै=(स० अतिशय) अत्यत।

भावार्थ—शिशिर ऋतु ने जिन पेड़ों को लूट लिया था और पत्ते झाड दिए थे, उन्हीं वृक्षों को वसत ने फिर से सुसज्जित कर दिया, नवीन पल्लव और पुष्प देकर उन्हे फलनेवाला बना दिया। वसत का यह सुयश भली भाँति शोभायमान है। सभी पक्षी उसका गुणगान कर रहे हैं। स्वच्छ कमल, जलजतु, हस, सुग्गे आदि (सुदर सुदर पक्षी) सुख पाते हैं। पेड़ तो मानो बड़े असह्य दुःख से छुटकारा पागए हैं। जो पेड़ पहले शिशिर मे (अपनी फूल पत्ती आदि सपत्ति से) बिलकुल लूटे गये थे, अंत में वे (वसत के आते ही) शीघ्र ही पल्लवित एव फलफूल सयुक्त होगए।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति से कवि का अभिप्राय दुर्जन की निंदा एव सज्जन की प्रशसा करने से है। दुर्जन के अधीन या उसके पड़ोस मे रहनेवाले को बड़ा भारी कष्ट होता है। बेचारे को धन-सपत्ति से तो हाथ धोना ही पड़ता है, साथ ही उसकी इज्जत भी उतारी जाती है। परतु सज्जन की सगति या अधीनता मे आते ही उसके दिन पलट जाते हैं। सज्जन स्वामी अथवा मित्र वही काम करता है जिससे उसके द्वारा पास पड़ोस के लोगों को सुख पहुँचे, किसी प्रकार का कष्ट न मालूम हो और सबकी कामनाए पूरी हों यदि दुर्जन के समय सर्वत्र हाहाकार ही मचा रहता था तो सज्जन के आते ही सभी सुखी और सपत्तिशाली हो जाते हैं, यहाँ तक कि प्रकृति (पशुपक्षी, लतापुष्प इत्यादि) भी प्रसन्न मालूम पड़ते हैं। यही सज्जन की महिमा है। अत यदि लोग सज्जन के गुण-गावें अथवा यदि सज्जन का यश ही फैले तो इसमें आश्चर्य ही क्या!

अलकार—श्लेष (अपत, सुमन, सुफल, द्विजगन शब्दों मे)।

मूल—तौ लौ है ऋतुराज नहि कोकिल काग विचार।
स्याम स्याम रग एक से सोहत एकै डार ॥
सोहत एकै डार काक कछु वाक न बोलै।
ऐंडो रहै निसक तासु हाँसी करि डोलै।
वरनै दीनदयाल नहीं गुन आवत जौ लौ।
काक कोकिला ज्ञान जात नहि जानो तौ लौ ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तौ लौ=तब तक। स्याम=(श्याम) काले। वाक=(स० वाक्) वाणी। ऐंडो=अभिमान से अकड़ा हुआ। निसक=(स० निश्शक) निडर, वेफिक्र। तासु=कोकिल की। डोलै=फिरता है। जो लौ=जब तक। काक कोकिला=निर्गुण और गुणी।

भावार्थ—(दीनदयाल गिरि वसत को सबोधन करते हुए कहते हैं) हे वसत, (जब तक तुम्हारा आगमन नहीं होता) तब तक कोकिल और कौवे की पहिचान नहीं हो सकती, रग मे दोनो एक से काले होते हैं और एक ही शाखा पर बैठे शोभते हैं। (कोकिल वसत के सिवा और किसी ऋतु मे कूकता नहीं, इस अनुभव से लाभ उठाकर लोगों के निकट अपने को कोकिल सिद्ध करने के लिये) कौवा (भी) कुछ नहीं बोलता (क्योंकि बोलते ही उसका भेद खुल जायगा) और अपने गुण के अभिमान मे ऐंठा रहता है, तथा निर्भय होकर कोकिल की हँसी करता फिरता है, पर यह बात बहुत दिनो तक रहने नहीं पाती। जब तक वसत (गुण-ग्राही) के अभाव मे कोकिल की कल काकली (गुण) प्रकट नहीं होती तभी तक 'कोकिल कौन है' और कौवा कौन है' इस बात की पहिचान करना कठिन है। (क्योंकि ज्यो ही कोकिल कूकती है त्यो ही यह साफ पहिचानी जाती है)।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति का अभिप्राय यह है कि गुणग्राही के अभाव में जब तक किसी के गुण जनता के सामने प्रत्यक्ष नहीं होते

तब तक भले बुरे सभी एक से होते हैं, सबका रूप रंग समान होता है। दुर्जन भी सज्जन का वेश धारणकर लोगो में अभिमान पूर्वक विचरण करते हैं और सज्जनो की हँसी करते फिरते हैं। पर ज्यो ही किसी गुणग्राही का आगमन होता है त्यो ही सज्जन के छिपे हुए गुण प्रकट होने लगते हैं, साथ ही दुर्जन का भी भंडाफोड़ हो जाता है और लोगो को भी अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि कौन सज्जन है और कौन दुर्जन है।

ग्रीष्म

मूल—ग्रीषम तुम ऋतुराज के पाले दीन सुसाखि।
तिनको दाहत हो कहा दावानल मे माखि॥
दावानल मे माखि जारि फिरि राख उड़ाई।
उन दीनन की दसा देखि नहिं दाया आई॥
बरनै दीनदयाल द्विजन तापत क्यो भीखम।
मित्रहु तुमरे संग चढ़े वृष दारुन ग्रीषम॥ ७॥

शब्दार्थ—पाले=पाले हुए। सुसाखि=सुदर हरी भरी शाखाओंवाले वृक्ष। दाहत हो=जलाते हो। दावानल=वन की आग (दँवारि)। माखि=(स० अमर्ष) क्रोध करके। राख उड़ाना =(मुहावरा) दुर्दशा करना। तापत=गर्मी पहुँचाते हो, झुलसाते हो या कष्ट देते हो। भीखम=(स० भीष्म) भयकर। मित्रहु=(१) सूर्य भी (२) सुहृद् भी। वृष=(१) वृष राशि (२) बैल। दारुन=कठिन, कठोर। मित्रहु ... ग्रीषम=(१) भयकर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य वृष राशि पर सक्रमण करते हैं, (२) अन्यायी राजा के राज्य मे मित्र भी बैल पर चढ़ जाते हैं, अर्थात् मूर्ख हो जाते हैं।

भावार्थ—हे ग्रीष्म, तुम बसत के पाले हुए दीन वृक्षो से क्रुद्ध होकर दावानल में क्यो जलाते हो? जलाकर छोड़ दो इतना ही नहीं, बरन् तुम उनकी राख तक को उड़ाकर उनका अस्तित्व ही

मिटा देते हो, उन बेचारो की दशा देखकर तुमको ज़रा भी दया नहीं आती। हे भयकर ग्रीष्म, तुम (निर्बल और असहाय) पत्तियो को क्यो अपनी गर्मी मे झुलसाते हो। हे ग्रीष्म, वास्तव में तुम इतने कठोर हो कि तुम्हारी सगति से सूर्य भी वृषराशि पर सक्रमण करके खूब तपने लगते हैं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी अन्यायी और ईर्षालु राजा के प्रति है। ऐसा राजा अपने पूर्व राजा के कृपापात्र दीन लोगो पर बहुत अत्याचार करता है। उसको बेचारे दीन दु खियो की विपत्ति देखकर कुछ भी दया नही आती। निष्ठुर बनाकर, उनकी धन-सपत्ति लूटकर, घर बार जलाकर, उनका सर्वनाश कर देता है। ब्राह्मणो (पडितो) पर तो और भी जलभुन कर खाक हो जाता है और उनको बहुत सताता है। ऐसे कठोर अन्यायी के राज्य मे मित्र भी बैल पर सवार हो जाते हैं (किकर्तव्य विमूढ़ बन जाते हैं)। दु ख छुडाने मे, राजा के कोप से बचाने में, मित्र सहायता करें तो उन्हें भी राजा के कोप का भाजन बनना पड़ता है, न करें तो 'मित्रधर्म' से च्युत होते हैं। बेचारे इसी सशय मे पडकर "न ययौ न तस्थौ" हो जाते हैं।

अलकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

मूल—सुखिया जे जे तव रहे लहि ऋतुराज उमग।
ते सब अब दुखिया भए हे ग्रीषम तुव सग॥
हे ग्रीषम तुव सग साखि सर सूखि गए हैं।
विकल कमल द्विजराज सकल छविहीन भए हैं॥
बरनै दीनदयाल रह्यो जगप्रान जु सुखिया।
सोऊ तपि दुखदानि भयो जो हो अति सुखिया॥ ८॥

शब्दार्थ—उमंग = उत्साह, आनन्द। द्विजराज=श्रेष्ठ पक्षी (कोकिल, हस, शुक आदि)। छीन=(स० क्षीण) रहित। जग-

प्रान=वायु, जो जीवमात्र का प्राण है। (वायु मे ही लोग श्वास प्रश्वास लेते हैं, इसके विना कोई जी नही सकता)। मुखिया=मुख्य तपि=सूर्य की किरणों से गर्म होकर। हो=था। सुखिया= सुखद।

भावार्थ—हे ग्रीष्म, वसत मे सुदर आनद पाकर जो जो सुखी थे वे सब तुम्हारी सगति पाकर अब दु खी होगए हैं। (जो वृक्ष लताएँ हरी भरी थीं, जो तालाब भरे पुरे थे वे) वृक्ष और तालाब सूख गए हैं। कमल (जो वसत में प्रफुल्लित थे) श्रीविहीन हो गए हैं और पक्षी (हस, शुक, कोकिल आदि जो वसत मे आनद से चह-चहाते थे) गर्मी के मारे व्याकुल होगए हैं। यहाँ तक कि जो वायु जगप्राण कहलाती थी, जो लोगो का मुख्य आश्रय थी, और जो तब (वसंत मे) अति सुखद थी, वह भी अब (ग्रीष्म ऋतु में) सूर्य किरणों से तपकर दु खदायी होगई है। (गर्मी मे 'लू' बहुत ही कष्ट-प्रद होती है)।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी अन्यायी और कठोर शासक को लक्ष्य करके कही गई है। न्यायी और उदार शासक के समय मे जो प्रजा सुखी रहती है, जिन विद्वानो और गुणवानो का आदर होता है अन्यायी और कठोर शासक के आते ही उसी प्रजा को अनेक कष्ट और अत्याचार सहने पड़ते हैं, उन्ही विद्वानो और गुणवानो की अप्रतिष्ठा होने लगती है। औरों की तो बात ही जाने दीजिए अपने मुख्य मित्र कहिए अथवा सगे भाई-बधु भी कुछ तो अधिकारी के दबाव मे पड़कर अथवा, 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धात के अनुसार दु खदायी हो जाते हैं।

पावस

मूल—पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहिं।
चपलाजुत घनस्याम नित विहरत हैं तव माहिं॥

विहरत हैं तव माहिं नीलकंठहु सुखदाई।
अंबर देत सुहाय द्विजन की करत सहाई॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तो सुखमा-बस।
एकै हंस उदास रहै काहे हे पावस॥६॥

शब्दार्थ—पावस=(सं० प्रावृट्) वर्षा ऋतु। चपला=(१) बिजली (२) राधा। घन-स्याम=(१) काले बादल, (२) श्रीकृष्ण। नीलकंठ=(१) मयूर, (२) शिव। अंबर=(सं०) (१) आकाश, (२) वस्त्र। द्विजन=(१) पक्षीगण, (२) ब्राह्मण। सुखमा=(सं० सुषमा) अति सुंदर शोभा। हंस=(१) मराल पक्षी, (२) विवेकी पुरुष।

भावार्थ—हे वर्षा ऋतु, संसार में तुम्हारे समान सुख देनेवाली और कोई ऋतु नहीं है, क्योंकि चंचल बिजली से युक्त बादल तुममें (वर्षा काल में) नित्य विहार करते हैं (घिरे रहते हैं) जिस से आकाश बड़ा सुहावना मालूम पड़ता है, और जो मोर को बड़ा ही आनंद देते है, (वर्षाकाल में आकाश में बादलों को देखकर मोर हर्षातिरेक से पंख फुला कर नाच उठते हैं)। तुम पक्षियो को भी बड़ी सहायता देते हो, (क्योंकि वर्षा काल में उनके लिये चारे की कमी नही रहती।) हे पावस, तुम्हारी सुंदरता का लाभ उठाकर सभी सुखी हैं, पर एक हंस ही उदास रहते हैं (पानी मैला हो जाने के कारण वर्षा काल मे हंस मानसरोवर मे चले जाते हैं) इस का कारण क्या है?

विशेष—श्लेष से दूसरे, तीसरे और चौथे पद का अर्थ निम्नलिखित होता है—

"वर्षाकाल मे श्रावण के महीने भर झूलनोत्सव मे राधिका के सहित श्रीकृष्ण और हरतालिका तीज के दिन महादेव जी विहार

करते हैं। (प्राय इस ऋतु मे सभी प्रकार के व्रत, उत्सव, यज्ञ, दानादि हुआ करते हैं, अत लोग ब्राह्मणो को सुन्दर वस्त्र आदि दान देकर उनकी सहायता करते हैं) "।

तात्पर्य—किसी परोपकारी और दानी के प्रति किसी निराश विवेकी पुरुष की उक्ति है।

अलंकार—समासोक्ति।

शरद

मूल—पाई छवि द्विजराज कवि गुरुवर अंबर सोह।
दरे दरद है सरद हिय करे मोद सदोह॥
करे मोद सदोह धरे गुन सज्जन केरे।
कुवलय खरे विकास मरे भासै चहुँ फेरे॥
बरनै दीनदयाल जगत के तुम सुखदाई।
करिए कहा प्रशंस हंस विलसैं छवि पाई॥ १०॥

शब्दार्थ—द्विजराज=चंद्रमा। कवि=शुक्र। गुरुवर=बृहस्पति। अंबर=आकाश। सोह=शोभते हैं। दरे=दले, नष्ट कर दिया। दरद=(फारसी) पीडा, मोद=आनंद। सदोह=समूह। केरे=के। कुवलय=(१) कमल (शरद ऋतु मे कुमुदिनी और कमल दोनों खिलते हैं), (२) भूमंडल। खरे=खासे, अच्छी तरह। खरे विकास=पूर्ण रूप से खिले हुए। भासैं=शोभायमान हैं। चहुँ फेरे=चारो ओर। विलसैं=विलास करते हैं आनंद करते हैं।

भावार्थ—शरद ऋतु में चंद्रमा की शोभा बढ जाती है और शुक्र एव बृहस्पति भी उदय होकर आकाश मे शोभा पाते हैं। इस ऋतु मे वर्षाकाल—जनित नाना प्रकार की रोग व्याधियाँ दूर हो जाती हैं (शरद ऋतु मे वात प्रकोप शांत हो जाता है और

खूब भूख लगती है)। सब लोगो के मन मे अति आनद और उत्साह भर जाता है। सर्वत्र पूर्ण रूप से खिले हुए कमल शोभा दे रहे हैं। कहाँ तक प्रशसा की जाय, शरद ऋतु ससार को सुख-दायी है, (जो निर्मल जल के अभाव मे वर्षा काल मे दुखित रहते थे वे) हस भी इस ऋतु की सुदर शोभा पाकर आनद करते हैं। शरद ऋतु ने ये उपर्युक्त गुण सज्जनो के योग्य ही धारण किए हैं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी परोपकारी और दानी सज्जन को लक्ष्य करके कही गई है। ऐसे ही सज्जनों के कारण ब्राह्मणो और कवियो की प्रतिष्ठा होती है, जिससे वे प्रसन्न रहते हैं। पूज्य विद्वज्जन उससे वस्त्रादि पाकर शोभा पाते हैं। ऐसे व्यक्ति के साथ रहने से सब दुख छूट जाते हैं और वास्तविक आनद मिलता है। उसके पास-पड़ोस मे सभी व्यक्ति प्रसन्न दिखलाई देते है। गुणिजन उससे आदर पाकर प्रफुल्लित रहते हैं। वास्तव मे ऐसे लोगों की प्रशसा करना कोई हँसी खेल नहीं है। सारा ससार उनके कारण सुखमय होजाता है।

अलकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

हेमत

मूल—आवत ही हेमत तो कपन लगो जहान।
कोक कोकनद भे दुखी अहित भए जगप्रान॥
अहित भए जगप्रान सग जबहीं तुव पाए।
दुखद भए द्विजराज मित्र निज तेज घटाए॥
बरनै दीनदयाल दीन द्विज-पाँति कँपावत।
कामिन को भो मोद एक ही तो जग आवत॥ ११॥

शब्दार्थ—तो=(स० तव) तेरे। जहान=(फा०) ससार। कोक=चकवा। कोकनद = कमल। अहित=अप्रिय। जगप्रान=

वायु। द्विजराज=(१) चंद्रमा (२) ब्राह्मण। मित्र=(१) सूर्य, (२) सखा। द्विजपाँति=(१) दाँतों की पंक्ति (२) ब्राह्मणों का समूह। कामिन=कामुक, विषयी। भो=हुआ। तो जग आवत=संसार में तेरे प्रकट होने से।

भावार्थ—हे हेमंत, तुम्हारे आते ही संसार (शीताधिक्य से) काँपने लगा है। चक्रवाक पक्षी और कमल दुःखी होगए हैं। (छोटा दिन और बड़ी रात के कारण लंबे वियोग से चकवाक व्याकुल रहते तथा पाले के कारण कमल मुरझा जाते हैं।) यहाँ तक कि तुम्हारे संसर्ग से अत्यंत शीतल हो जाने के कारण वायु भी (जो लोगों को प्राण के समान अतिप्रिय होती है) अप्रिय जान पड़ती है। चंद्रमा भी दुःखदाई हो गया है (जाड़ों में चंद्रमा की किरणें और भी शीतल जान पड़ती हैं,) और सूर्य ने भी अपना ताप घटा दिया है। जाड़े के मारे बेचारे दाँत भी कटकटाने लगते हैं। संसार में तुम्हारे आने से (तुम्हारा आविर्भाव होने से) आनंद केवल कामुक लोगों को होता है (और किसीको नहीं)।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी अन्यायी राजा पर कही गई है। अन्यायी और अत्याचारी राजा के आते ही प्रजा में एक प्रकार का आतंक छा जाता है। उसके अत्याचार से सारी प्रजा घबड़ा उठती है। सज्जन लोग दुःखी हो जाते हैं, यहाँ तक कि जो अपने हितकर थे वे भी उसके संसर्ग से बुराई पर कमर कसने लगते हैं। ब्राह्मण लोग भी दुःखदायी हो जाते हैं, और जो मित्र कुछ सहायता करना भी चाहते हैं उनका तेज ही घट जाता है, और भलाई करने की सामर्थ्य ही नहीं रह जाती, बेचारे दीन ब्राह्मण भी उसके डर के मारे थरथर काँपने लगते हैं। कहाँ तक कहा जाय उसके कारण कोई भी सज्जन सुखपूर्वक निश्चित नहीं रह सकता। हाँ, अलबत्ता विषयी जनों को जरूर प्रसन्नता होती है, क्योंकि अपने

अनुकूल राजा के पाने से उनके स्वार्थ साधन मे और भी सहायता मिलती है।

शिशिर

सूत्र—गाये सुजस समूह तो कविराजन अवदात।
फैली महिमा रावरी महिमंडल मे ख्यात॥
महिमंडल में ख्यात फाग रागन कौं गावैं।
शिशिर सुआप प्रसाद जगत सवही सुख पावे॥
वरने दीनदयाल कुद मिस तो जस छाये।
एक विचारे पात तिने उतपात लगाये॥ १२॥

शब्दार्थ—सुजस=(सं० सुयश) कीर्ति। अवदात=(सं०) उज्ज्वल, स्वच्छ। रावरी=आप की तुम्हारी। ख्यात=(सं०) प्रसिद्ध। फाग=राग का एक भेद जो होली के दिनों (फागुन, चैत्र) मे गाया जाता है। आप=आप के। प्रसाद=प्रसन्नता, अनुकूलता। उतपात=(सं० उत्पात) उपद्रव। उत्पात लगाना (मुहावरा)=कष्ट देना।

भावार्थ—हे शिशिर, कविवरो ने आपकी उज्ज्वल कीर्तियो को गाया है, आप सारी पृथ्वी में प्रसिद्ध हैं और आपकी महिमा भी सर्वत्र व्याप रही है। आपकी अनुकूलता के कारण ससार के सभी लोग सुख पाते हैं और (आनन्दवश) फाग रागो को गाते हैं। कुद के फूलों के व्याज (वहाने) से तुम्हारा यश फैला हुआ है। एक विचारे पत्ते ही ऐसे हैं जिनको तुम कष्ट देते हो।

विशेष—(१) कुद एक प्रकार का सफेद रग का फूल है जो माघ, फाल्गुन मे बहुतायत से होता है। (२) शिशिर ऋतु मे पेड़ों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे यशस्वी पुरुष की ओर लक्ष्य करके कही गई है जिसने अपने भले कामों से सभी को (अधिकांश जनता को) प्रसन्न करलिया हो और जिसकी प्रसन्नता से सभी सुख पाकर उसके गुण गावें, किन्तु जो अपने ही आश्रित दीन जनों के कष्ट का कारण हो। कवि के कथन का उद्देश्य यह है कि किसी न्यायी पुरुष को अपने आश्रित निर्बल, असहाय, दीन हीन जनों के साथ निष्ठुरता का व्यवहार करके अपने निर्मल यश को कलंकित न करना चाहिए।

पंचतत्वविषये अन्योक्तिः

(आकाश)

मूल—आपे व्यापक जगत के आप सरिस कोउ नाहिं।
सकल लोक रचना सजे है अकाश तुव माहिं॥
है अकाश तुव माहिं मित्र द्विजराज विराजैं।
तुमै बीच सुचि जानि आनि घनस्यामहु छाजैं॥
बरनै दीनदयाल जाय जस बरनो का पै।
गहो न संग उपाधि रहो अति निरमल आपे॥ १३॥

शब्दार्थ—पंचतत्व (१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश। यह समग्र सृष्टि इन्हीं पंचतत्वों के मेल से बनी हुई है। आपे=आप ही। सरिस=(सं० सदृश, प्रा० सरिस) समान। सजे=शोभित है। मित्र = सूर्य। द्विजराज = चन्द्रमा। विराजैं=शोभायमान हैं। तुमै बीच=तुम में, तुम्हारे बीच में। सुचि =(सं० शुचि) पवित्र। आनि छाजैं=आकर शोभा देते हैं। घनस्याम=काले बादल। का पै=किस से। उपाधि=विकार।

भावार्थ—हे आकाश, आप सारे संसार में व्याप्त हैं (फैले हुए हैं), आपकी समानता किसी से नहीं की जा सकती। आपमें

चौदहो भुवन रच कर सजाये गये हैं (समस्त ब्रह्माड आकाश मे ही हैं), सूर्य और चन्द्रमा भी आपमे ही शोभायमान हैं। आपको पवित्र जानकर काले बादल भी आपमे आ विराजे है। इतना सब होते हुए भी आपमें किसी प्रकार का विकार नहीं आने पाता, प्रत्युत आप अत्यत निर्मल (निर्विकार) रहते हैं, अतः आपका यश कौन वर्णन कर सकता है ?

तात्पर्य—यह अन्योक्ति ऐसे पुरुष पर घटित होती है जो ससार मे रहते हुए भी सासारिक झझटों (माया मोह, दुःख सुख आदि) से निर्लिप्त रहता है। ऐसा विवेकी पुरुष न किसी को अपने कार्य से दुःखित ही करता है, न उसपर किसी प्रकार के दबाव (रिशवत आदि का प्रभाव पडता है) इसलिये उसके मित्रो की सख्या बढ़ जाती है। ऐसे ही पवित्रात्मा के अतःकरण मे परमात्मा का निवास रहता है। न तो उसे सांसारिक दुःखो से ही कोई कष्ट मिलता है न वह ऐहिक सुखो पर ही आसक्त होता है। साराश यह कि ऐसे निर्विकार पुरुष की यशोगाथा अनिर्वचनीय है।

(पवन)

मूल—जहँ धरि पीत पराग पट वर सम कियो विहार।
तिहि वन पवन जती भयो रमत रमाए छार॥
रमत रमाए छार घोर ग्रीषम वध लागे।
दुख मे मधुकर सखा सग सबही तजि भागे॥
वरनै दीनदयाल रही छवि कुसुमाकर भरि।
दूलह बन्यो समीर रम्यो पट पीरो जहँ धरि॥१४॥

शब्दार्थ—पराग=पुष्परज, फूलों का पीले रग का सुगधित केसर। पट=वस्त्र। वर=दुलहा। जती=(यती) सन्यासी। रमत=रमण करता है, घूमता फिरता है। छार रमाना या विभूति

रमाना (मुहावरा)=शरीर में राख मलना। दव=दावाग्नि, वन की अग्नि। छवि=शोभा। कुसुमाकर=वसंत ऋतु (इस ऋतु में अनेक प्रकार के फूल बहुतायत से होते हैं)। समीर=वायु।

भावार्थ—जिस वन में पीली केसर रूपी पीत वस्त्र धारण कर पवन ने दुलहे की तरह आनंद किया था, उसी वन में आज वह ग्रीष्म ऋतु की भयंकर दावाग्नि में जले हुए वृक्षों की भस्म अपने शरीर में लगाए हुए सन्यासी बना इधर उधर भटक रहा है। ऐसे दुःख के समय भ्रमर आदि सभी मित्रवर्ग भी उसको छोड़ कर भाग गए हैं। उसकी छवि पुष्पमय वसंत ऋतु पर्यंत ही रही, जिस (ऋतु) में (पुष्परज की प्रचुरता के कारण) पीला वस्त्र धारण किए हुए पवन दुलहा बना हुआ रमण करता था।

तात्पर्य—दिन सदा सबके एक से नहीं रहते। धन सपत्ति संपन्न होने की दशा में लोग आनंद में इतने डूब जाते हैं कि भविष्य की उन्हें सुध ही नहीं रहती। ऐसे समय उनके बहुत से मित्र भी बन जाते हैं जिन पर उनको बहुत भरोसा रहता है। पर ज्यों ही समय के फेर से बुरे दिन आते हैं त्यों ही बेचारे धन दौलत से हाथ धोकर दाने दाने को तरसते हैं, और उनके सुख के समय के वे मित्र भी जो उन्हींकी संपत्ति की बदौलत मालामाल बन जाते हैं, उनकी सहायता करना तो दूर रहा, उनको छोड़ कर भग जाते हैं। सारांश यह कि काल का प्रभाव बड़ा प्रबल है, सुख दुःख सदा किसीको नहीं रहता, इसलिए न तो सुख के समय में अपने को भूल ही जाना चाहिये, न दुःख में ही धैर्य को छोड़ कर घबड़ाना चाहिए।

मूल—जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो कियो प्रभंजन नाम॥

कियो प्रभजन नाम वडो कृतघन वरजोरी।
जव जव लगी दवागि दियो तब झोकि झकोरी॥
वरनै दीनदयाल सेउ अव खल! थल मरु को।
लै सुख सीतल छाँह तासु तोरयो जिन तरु को॥१५॥

शब्दार्थ—परिमल=(स०) सुगध । परसि=(स० स्पर्श) छूकर। ठाम=(स० स्थान) जगह। भजन करना=तोड़ना, नाश करना। प्रभजन=(स० प्र उपसर्ग पूर्वक 'भज्' धातु से) महावात, आँधी (जिससे बडे बडे पेड़ जड सहित उखड़ जाते हैं।) नाम करना (मुहावरा)=नामकरण का कारण होना। कृतघन =(स० कृतघ्न) किये हुए उपकार को न माननेवाला, नमकहराम। बरजोरी=जबर्दस्ती। सेउ=(सेव) सेवा कर (रह)। खल=दुष्ट। मरुथल=(मरुस्थल) रेगिस्तान। (अन्वय—जिन तरु को तोरयो तासु सीतल छाँह सुख लै ।)

भावार्थ—हे पवन, जिन पेडो की सुगध को स्पर्श कर (वसन्त ऋतु में) तुमने सर्वत्र यश पाया था आज (ग्रीष्म में) तुमने उन्हीं वृक्षों को भजन कर अपना नाम ज़बर्दस्ती 'प्रभजन' रखाया। इतना ही नहीं, तुम बड़े कृतघ्न हो, जब जब वन मे दावाग्नि लगी तब तब तुमने (अपने उपकारी पेड़ों की रक्षा करने के बदले) उनको झकोर झकोर कर और भी आग मे झोक दिया। जिन वृक्षों की शीतल छाया मे तुमने सुख उठाया था उन्हींको तोड़ डाला। अरे दुष्ट, अब अपने किये का फल पा और वृक्षहीन इस मरुस्थल मे रह। (यही तुम्हारे लिये उपयुक्त दड है)।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी कृतघ्न के प्रति कही गई है। कृतघ्न मनुष्य अपने उपकारी का भी अपकार करने मे नहीं चूकता—चाहे उसको कितना ही अपयश क्यो न उठाना पड़े। ने पर अपने उपकारी की सहायता करना तो दूर

और भी विपत्ति मे डाल देता है, और उसका नाश ही करके छोड़ता है। पर ऐसे लोगो को अपने किये का फल हाथो हाथ मिल जाता है; उन्हे विपत्ति उठानी पड़ती है। फिर ऐसे कृतघ्नो को कोई ऐसा व्यक्ति नही मिलता जो उनको आई हुई विपत्ति से उबार सके। जो व्यक्ति जिस पत्तल मे खाता है उसीमे छेद कर देता है, उसको दूसरी बार वर्तन के अभाव मे भूखा ही रहना पड़ेगा।

अलकार—विधि अलकार (दूसरे पद मे)।

मूल—लागी भूति, अगेह नित, अलिगन सिख्य विसेख।
सरल साल भजत मरुत, करनी खल मुनि-बेख॥
करनी खल मुनि वेख फिरै भरमत सब जग को।
नही छमा मे रहै, अधर पथ गहै कुमग को॥
बरनै दीनदयाल बनो जगप्रान विरागी।
जम आसा तें रमै अहो विरही दुख लागी॥१६॥

शब्दार्थ—भूति=भस्म। अगेह=गृहहीन या गृहत्यागी। अलिगन=भौरो का समूह। सरल=(स०) (१) देवदारु का वृक्ष (२) सीधे सादे मनुष्य। साल=(१) शाल या साखू के वृक्ष (२) शाला या घर। मरुत=वायु। भरमत=(भ्रमत) (१) भटकता हुआ, (२) भ्रम मे डालता हुआ। छमा=(क्षमा) (१) पृथ्वी (२) सहनशक्ति, सहिष्णुता। अधर=(१) जो धरा (पृथ्वी) मे न हो, अर्थात् आकाश मे, (२) न धारण करने योग्य, अर्थात् नीच। पथ=मार्ग। कुमग=(स० कुमार्ग) (१) (कु=पृथ्वी) ससारी मार्ग (२) असन्मार्ग। विरागी=विरक्त, सासारिक विषय वासनाओ से रहित। जम आसा=(स० यम+आशा) (१) दक्षिण दिशा (यमराज दक्षिण दिशा के अधिपति हैं), (२) मौत की आशा। रमै=भटकता है। दुख लागी=दुःख के लिये, दुःख देने को।

भावार्थ—हे पवन ! तुम्हारा भेष तो मुनि का सा है, पर तुम्हारा काम खल का सा है। तुम राख लगाये हो, गृहहीन हो (रहने का कोई निश्चित स्थान नहीं है) और नित्य ही भौंरो के गणों को विशेष शिष्यों की भाँति साथ रखते हो (यह मुनिवेष हुआ), परतु सीधे शाल वृक्षो को तोड़ते हो (यह खल करणी हुई)। मुनिवेष किये, पर खल-करणी करते हुए समस्त जग मे भ्रमण करते फिरते हो। तुम पृथ्वी पर नहीं रहते, (वरन्) आकाश मे कुमार्ग (सीधे तिरछे) चलते हो। दीनदयाल कहते हैं कि हे पवन ! तुम वैरागी बने (मुनिवेष धारण किये) विरही लोगों को दु ख देने के लिये दक्षिण दिशा से चलते हो।

तात्पर्य—पवन पर घटित करके बनावटी वैरागियों पर सुंदर कटाक्ष है।

(अनल)

मूल—भीखन दुसह सुभाव तुव सुनो अनल जग माहि।
करत कोटि अपराध हो तऊ तजत कोउ नाहि॥
तऊ तजत कोउ नाहि बगर पुर नगर जरावत।
हित सों वल्लभ मानि तुमै ढूँढ़न को जावत॥
बरनै दीनदयाल तेज सब करे निरीखन।
तुम बिन सरे न काज जदपि जग हौ अति भीखन॥१७॥

शब्दार्थ—भीखन=(स० भीषण) भयकर, तुव=(तव) तुम्हारा। अनल=(स०) अग्नि। (विद्यार्थियों को 'अनल' और 'अनिल' का भेद ध्यान मे रखना चाहिए। 'अनिल' भी संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ 'पवन' है।) तऊ=(स० तथापि) तब भी, तिस पर भी। बगर=(स० प्रघण) बड़ा लबा चौड़ा घर। वल्लभ= (स०)प्रिय। निरीखन=(स० निरीक्षण) प्रत्यक्ष देखना।

काज सरना (मुहावरा)=काम पूरा होना। जदपि=(यद्यपि) तो भी, अगर चे।

भावार्थ—हे अनल, सुनो। तुम्हारी प्रकृति बड़ी भयंकर और असह्य है। यद्यपि तुम इस संसार में लोगों के करोड़ों अपराध करते हो, उनके घरों और नगरों को जला देते हो, तब भी तुम को कोई नहीं छोड़ता। (छोड़ना तो अलग रहा, जब अपने घर में आग नहीं रहती तो) लोग तुम्हें अपना प्रिय मान कर बड़े प्रेम से तुम्हारी खोज करने के लिए (आग लाने के लिए दूसरे के घर में) जाते हैं। तुम्हारा तेज सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। यद्यपि तुम बड़े भयंकर हो, किंतु संसार में तुम्हारे बिना कुछ भी काम नहीं चल सकता।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे प्रतापी किंतु कठोर स्वभाव-वाले व्यक्ति के लिये कही गई है जिसके बिना किसी का काम ही नहीं चल सकता। ऐसा उग्र स्वभाववाला व्यक्ति चाहे लोगों को कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावे पर वे उस को छोड़ नहीं सकते। छोड़ें भी तो कैसे उसके बिना तो उनके सारे काम रुक जाते हैं। उसके तेज के सामने लोगों को आँखें नीची करनी ही पड़ती हैं। यदि वह स्वयं भी उनकी आँखोंमें ओट होता है तो वे उसके द्वारा पाये हुए कष्टों को विस्मृत कर उसको खोज करके ही छोड़ते हैं। सारांश यह कि अपने स्वार्थसाधन के लिये दूसरे की खुशामद भी करनी ही पड़ती है, उसकी डाँट फटकार भी सहनी ही पड़ती है।

(जल)

मूल—हे जल वेग तरंग तें करे विलग मति मीन।
ये तो तेरे विरह ते ह्वै हैं प्रान विहीन॥

हहै प्रान विहीन देखि दसरथ को बानो।
प्रिय को देख्यो नाहि प्रान को कियो पयानो॥
बरनै दीनदयाल नहीं जिन प्रेम किये पल।
ते किमि जानै पीर वियोगीजन की हे जल॥ १८॥

शब्दार्थ—बिलग =(सं० विलग्न) अलग, दूर। मति =(मत) नहीं। (प्राय शब्दों में माधुर्य लाने के लिये पुरानी भाषा में इकार और उकार लगा लिये जाते हैं, जैसे–'तव' का 'तुव', 'मत' का 'मति' इत्यादि।) बाना =(सं० वर्ण)ढग, रीति। पयान =(सं० प्रयाण) प्रस्थान। पल = क्षण भर भी। किमि = कैसे। पीर =(सं० पीड़ा) दुःख।

भावार्थ—हे जल, अपनी तरगो के वेग से मछलियों को दूर मत करो। ये तुम्हारे वियोग में (तुमसे अलग होते ही) प्राणहीन हो जायेंगी (मर जायेंगी)। जरा दशरथ की रीति को तो देखो (विचारो), उन्होंने अपने प्रिय (पुत्र श्रीराम) को न देखा तो (श्रीराम से बिछुड़ते ही) अपने प्राणों को भी छोड़ दिया (अर्थात् मर गये)। हे जल, जिसने एक क्षण भी किसीसे प्रेम नहीं किया वह भला वियोगी की पीड़ा का अनुभव कैसे कर सकता है?

तात्पर्य—प्रेमी या आश्रित जनो का त्याग करना क्या है मानो उनकी हत्या करना है। राजा दशरथ के समान धीर पुरुष भी अपने प्रियपुत्र का वियोग क्षण भर भी न सह सके। अपने प्रिय के वियोग में या तो प्रेमी जन उस वेदना को न सह सकने के कारण तत्काल मर जाते हैं, अन्यथा अपने शरीर को सुखा सुखा कर नष्ट कर देते हैं। यही वियोगी जनो की रीति है—रीति नहीं, प्रकृति ही है। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर न तो कोई दे सकता है न कोई समझ ही सकता है। जिसने कभी प्रेम नहीं

किया, प्रेम का तत्व न जाना, प्रेमी की वियोगावस्था का अनुभव न किया, वह न तो स्वय समझ सकता है न दूसरे को समझा सकता है।

(भूतल)

भूतल—भूतल तो महिमा बड़ी फैल रही ससार।
क्षमासील को कहि सकै सहत सकल के भार॥
सहत सकल के भार धराधर धीर धरे हो।
पारावार-अपार धार सिर क्रीट करे हो॥
बरनै दीनदयाल जगो जग है जस ऊजल।
सब की क्षमत गुनाह नाह तुम सब के भूतल॥१६॥

शब्दार्थ—भूतल = पृथ्वी। क्षमासील = (क्षमाशील) सहनशील। धराधर = (स० धरा = पृथ्वी + धर) पहाड़। पारावार = (स०) समुद्र। अपार = जो पार नहीं किया जा सकता। धार = लहर। क्रीट = किरीट, मुकुट। जगो है = (स० जागृत) प्रकाशमान है। ऊजल = (स० उज्ज्वल) स्वच्छ। गुनाह = (फा०) अपराध। नाह = (प्रा० , स० नाथ) स्वामी।

भावार्थ—हे भूतल, तुम्हारी महिमा बहुत बड़ी है और सारे ससार में फैली हुई है। (पृथ्वी बहुत विस्तृत एव ससार-व्याप्य है ही)। तुम्हारी क्षमाशीलता (सहिष्णुता) को कौन कह सकता है। तुम ससार के समस्त पदार्थों का बोझ सहते हो, बड़े बड़े पहाड़ों को भी अत्यत धैर्य से सभाले हो, और अपार समुद्रों की तरगों को अपने सिर में मुकुट की तरह (बहुत हलका समझ कर) धारण किये हो। हे भूतल, तुम सबके दोषों को क्षमा करते हो और सबके स्वामी हो, इसीसे तुम्हारा निर्मल यश ससार में प्रकाशित है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी क्षमाशील और धैर्यवान् व्यक्ति पर है। सहनशील व्यक्ति सबके अपराधो को क्षमा कर देता है, और अपने ऊपर किये गये अत्याचारों को धैर्यपूर्वक सहन कर लेता है। यही उसकी महत्ता है जिसके कारण सारे ससार में उसका यश फैल जाता है।

(दिवाकर)

मूल—छीने आभा आपनी हे अंबक-आधार।
दीजे दरसन प्रगटि कै तम दुख दलो अपार॥
तम दुख दलो अपार निसाचर गाजि रहे हैं।
भूत-दीप खद्योत उलूक विराजि रहे हैं॥
बरनै दीनदयाल कोकनद कोकहु दीने।
कब ह्वैहो हरि उदय तुमै विन लोक मलीने॥२०॥

शब्दार्थ—आभा=(स०) प्रकाश, कान्ति, प्रभा। अंबक= नेत्र। अबक-आधार=सूर्य, सारे ससार को प्रकाशित करने का एकमात्र कारण सूर्य ही है, अतएव आंखो में ज्योति देनेवाला भी सूर्य है, इसी लिये सूर्य को नेत्रों का आधार कहा है। तम= अधकार। दलो=नाश करो। निसाचर=रात को घूमनेवाले (योगरूढ शब्द) राक्षस। गाजि रहे हैं=गरज रहे है (रात को राक्षस, उल्लू आदि आनद के मारे गरजते हैं)। भूतदीप=वनो मे दिखलाई पड़नेवाली अग्नि। यह वास्तव मे फास्फरस की चमक मात्र है। खद्योत=जुगनूँ। दीने=दीन हो रहे हैं, दुखी हैं। हरि=सूर्य, 'हरि' शब्द अनेकार्थक है।[१]

---

[१] इद्र, चद्र, अरविंद, अलि, कपि, केहरि, आनद।
कचन, काम, कुरग बस, धनुप, दद्द, नभ चद॥१॥

भावार्थ--हे नेत्रो के आधारभूत सूर्य, अपनी ज्योति को लिए हुए प्रकट होकर हमे दर्शन दीजिए, और हमारे अपार अंधकार-जनित दु खो को दूर कीजिए। अधकार के कारण राक्षसादि आनंदित होकर गरज रहे हैं, भूतदीपक, जुगुनू, और उल्लुओं की ही इस समय बन पडी है, (प्रकाश के अभाव मे) कमल, चक्रवाक आदि दु खी हैं। हे सूर्य (हरि), तुम्हारे विना सब लोक मलीन हैं, तुम कब उदय होओगे (कब उदित होकर लोगो के दुःख हरोगे)।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी उपकारी तेजस्वी शासक के प्रति कही गई है। प्रतापी शासक के अभाव मे दुर्जन लोगो की बन पडती है और उनके अत्याचारो से सज्जन लोग तग आजाते हैं।

(निसाकर)

मूल—मैलो मृग धारे जगत नाम कलकी जाग।
तऊ कियो न मयक तुम सरनागत को त्याग॥
सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहु के।
लिये हिये मे रहो तजो नहिं कहे काहु के॥
बरनै दीनदयाल जोति मिस सो जस फैलो।
है हरि को मन सही कहैं नर पामर मैलो॥ २१॥

पानी, पावक पवन पथ, गिरि, गज, नाग, नरिंद।
उ हरि इनके मुकुट मनि, हरि ईश्वर गोविंद ॥७॥
—नंददास।

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥
—अमरकोश।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी क्षमाशील और धैर्यवान् व्यक्ति पर है। सहनशील व्यक्ति सबके अपराधो को क्षमा कर देता है, और अपने ऊपर किये गये अत्याचारो को धैर्यपूर्वक सहन कर लेता है। यही उसकी महत्ता है जिसके कारण सारे ससार मे उसका यश फैल जाता है।

(दिवाकर)

मूल—जीने आभा आपनी हे अवक-आधार।
दीजै दरसन प्रगटि कै तम दुख दलो अपार॥
तम दुख दलो अपार निसाचर गाजि रहे हैं।
भूत-दीप खद्योत उलूक विराजि रहे हैं॥
बरनै दीनदयाल कोकनद कोकहु दीने।
कब हैहो हरि उदय तुमै विन लोक मलीने॥२०॥

शब्दार्थ—आभा=(स०) प्रकाश, कान्ति, प्रभा। अवक= नेत्र। अवक-आधार=सूर्य, सारे ससार को प्रकाशित करने का एकमात्र कारण सूर्य ही है, अतएव आँखो मे ज्योति देनेवाला भी सूर्य है, इसी लिये सूर्य को नेत्रो का आधार कहा है। तम= अधकार। दलो=नाश करो। निसाचर=रात को घूमनेवाले (योगरूढ़ शब्द) राक्षस। गाजि रहे हैं=गरज रहे है (रात को राक्षस, उल्लू आदि आनद के मारे गरजते हैं)। भूतदीप=वनो मे दिखलाई पड़नेवाली अग्नि। यह वास्तव मे फास्फरस की चमक मात्र है। खद्योत=जुगनूँ। दीने=दीन हो रहे है, दुखी हैं। हरि=सूर्य, 'हरि' शब्द अनेकार्थक है।*

* इद्र, चद, अरविंद, अलि, कपि, केहरि, आनद।
कचन, काम, कुरग बस, धनुप, दड, नम चद॥१॥

भावार्थ--हे नेत्रो के आधारभूत सूर्य, अपनी ज्योति को लिए हुए प्रकट होकर हमे दर्शन दीजिए, और हमारे अपार अंधकार-जनित दुःखो को दूर कीजिए। अंधकार के कारण राक्षसादि आनंदित होकर गरज रहे हैं, भूतदीपक, जुगुनू, और उल्लुओ की ही इस समय बन पड़ी है, (प्रकाश के अभाव में) कमल, चक्रवाक आदि दुःखी हैं। हे सूर्य (हरि), तुम्हारे विना सब लोक मलीन हैं, तुम कब उदय होओगे (कब उदित होकर लोगो के दुःख हरोगे)।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी उपकारी तेजस्वी शासक के प्रति कही गई है। प्रतापी शासक के अभाव मे दुर्जन लोगो की बन पड़ती है और उनके अत्याचारो से सज्जन लोग तंग आजाते हैं।

(निसाकर)

मूल—मैलो मृग धारे जगत नाम कलंकी जाग।
तऊ कियो न मयंक तुम सरनागत को त्याग॥
सरनागत को त्याग कियो नहि ग्रसे राहु के।
लिये हिये मे रहो तजो नहिं कहे काहु के॥
बरनै दीनदयाल जोति मिस सो जस फैलो।
हो हरि को मन सही कहैं नर पामर मैलो॥ २१॥

पानी, पावक पवन पथ, गिरि, गज, नाग, नरिंद।
ज हरि इनके मुकुट मनि, हरि ईश्वर गोविंद ॥२॥
—नंददास।

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥
—अमरकोश।

शब्दार्थ—मृग धारे=मृग को धारण करने से। जाग=प्रख्यात हैं। मयक (प्र०—स० मृगाक=मृग है अंक में जिसके)=चंद्रमा। हरि=परमेश्वर। पामर=नीच। मैलो=कलकी। सही=सचमुच, वास्तव में।

भावार्थ—हे चंद्र, यद्यपि मलिन मृग को धारण करने के कारण ससार में तुम्हारा नाम कलकी प्रसिद्ध हो गया तब भी तुमने अपनी शरण मे आए हुए (मृग) का त्याग नहीं किया। (खैर कलक की बात तो जाने दो) राहु के ग्रसने पर भी (अपने ऊपर आपत्ति पडने पर भी) तुमने उस शरणागत को नहीं छोडा। उसको तुम (बडे प्रेम से) हृदय मे लगाए रहते हो, और किसीके कहने पर भी नहीं छोडते। नीच लोग तुम्हें कलकी भले ही कहें, पर तुम तो सचमुच परमेश्वर के मन हो* (परमेश्वर का मन मैला हो नहीं सकता)। ज्योति (चाँदनी) के बहाने तुम्हारा यह यश (शरणागत प्रतिपालकत्व) ससार मे फैला हुआ है।

तात्पर्य—सज्जन लोग शरणागत की रक्षा के लिये अपने स्वार्थ की आहुति कर देते हैं। अपने को कलकी कहलाना तो कोई भी स्वीकार नही कर सकता, पर शरणागत प्रतिपालक सज्जन को अपने आश्रित के कारण कलक उठाना भी मजूर है। और तो और अपने ऊपर भयकर से भयकर आपत्ति भी क्यो न आ जाय, वे शरणागत को नहीं छोड़ेंगे। वास्तव मे सज्जन लोग ईश्वर के ही मन

---

* चन्द्रमा परमपुरुष के मन से तथा सूर्य आँखों से उत्पन्न हुए हैं, यथा—
"चद्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्यो बिजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्चप्राणश्चमुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥
माध्यदिनशाखीय पुरुषसूक्त ।

हैं, क्योंकि ईश्वर भी तो 'भक्तजन-प्रतिपालक' कहलाता है। यदि ऐसे सज्जन का यश संसारव्यापी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या!

मूल—दानी अमृत के सदा देव करें गुनगान।
सुनो चंद वंदैं तुमैं मोद-निधान जहान॥
मोद-निधान जहान संभु सिर ऊपर धारैं।
देखि सिंधु हरखाय निकाय चकोर निहारैं॥
बरनैं दीनदयाल सबै को तुम सुखखानी।
एक चोर बरजोर घोर निंदैं दुखदानी॥ २२॥

शब्दार्थ—मोदनिधान=आनंद के घर, आनंदप्रद। निकाय=समूह। निहारैं=देखते हैं। बरजोर=जबर्दस्त। निंदैं=निंदा करते हैं ('निंदा' भाववाचक से 'निंदना' क्रिया बना ली गई है)। दुखदानी=दुःख देने वाला।

भावार्थ—हे चंद्र, सुनो, तुम अमृत बरसाते हो, देवता लोग सदा तुम्हारा गुणगान किया करते हैं। संसार (मनुष्य) भी आनंद-दायक कह कर तुम्हारी वंदना करता है। महादेवजी भी तुमको अपने सिर में धारण करते हैं, तुम्हें देख कर समुद्र भी हर्षित होता है (चंद्रमा के आकर्षण के कारण समुद्र में बड़ी बड़ी तरंगें उठती हैं), और चकोरों के समूह तुम्हारी ओर एक टक देखा करते हैं। तुम ऐसे सुख की खानि (सब को सुख देने वाले) हो। एकमात्र बड़े जबर्दस्त चोर ही तुमको दुःखदानी कह कह कर तुम्हारी निंदा करते हैं (क्योंकि चाँदनी रात में उनको चोरी करने में बड़ी असुविधा होती है)।

तात्पर्य—गुणवान् सज्जन का आदर छोटे बड़े सभी करते हैं, और उनकी उन्नति को देख कर सभी को हार्दिक प्रसन्नता भी होती है, क्योंकि उनके अभ्युदय से सबको सुख मिलता है। पर अधम

प्रकृति के लोग उनका उत्कर्ष न सहकर निंदा ही किया करते हैं, क्योंकि उनके कारण नीच लोगो के कार्यों मे बाधा पहुँचती है। साराश यह कि सज्जन और समदर्शी लोगों की भी निंदा करने वाले लोग होते ही हैं।

मूल—केतौ सोम कला करौ करौ सुधा कौ दान।
नहीं चद्रमनि जो द्रवै यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल चद तुम ही चित चेतौ।
क्रूर न कोमल होहि कला जो कीजे केतौ॥२३॥

शब्दार्थ—केतौ=कितनी ही। सोम=चन्द्रमा। कला=उपाय। सुधा=अमृत,जल। चन्द्रमनि=चन्द्रकान्तमणि, चन्द्रमा की किरणों के ससर्ग मे द्रवने (पिघलने) वाला पत्थर विशेष। द्रवै=पिघलेगा। तेलिया पखान=एक प्रकार का कड़ा पत्थर। बहु बाँकी=बड़ी कड़ी। टाँकी=छैनी। चेतौ=सावधान हो जाओ। क्रूर =(क्रूर) कठोर।

भावार्थ—हे चद्र, तुम कितनी ही कला क्यों न करो (कितने ही उपाय क्यो न करो), कितना ही अमृत पिलाओ, यह चद्रकातमणि नहीं है, यह तो तेलिया-पखान है, पिघलेगा नहीं। (चाहे अपनी सोलहों कलाओं सहित क्यो न उदय होओ इस तेलिया पखान से अपनी किरणो द्वारा जल नही निकाल सकते) इस तेलिया पखान के ऊपर (इसको फोड़ने मे) न जाने कितनी ही बहुत बढ़िया टाँकियाँ टूट चुकी हैं (पर इस पर कुछ भी असर नहीं होता)। इसलिए, हे चद्र, तुम ही क्यो नहीं अपने मनमें विचार कर सँभल जाते। चाहे कितने ही उपाय क्यो न करो कठोर वस्तु कोमल हो नहीं सकती।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी महा अरसिक अथवा कंजूस व्यक्ति के प्रति है। लोग उपाय करते करते थक जावेंगे, पर न अरसिक व्यक्ति ही रसिक हो सकता है, न किसी कजूस व्यक्ति की गाँठ से एक कौडी ही निकल सकती है।

मूल—पूरे जदपि पियूख ते हरसेखर आसीन।
तदपि पराये बस परे रहो सुधाकर छीन॥
रहो सुधाकर छीन कहा है जो जग बदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनदत॥
बरनै दीनदयाल चद हौ हीन अधूरे।
जौ लगि नहि स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे॥२४॥

शब्दार्थ—पियूख=(पीयूष) अमृत। हरसेखर=महादेवजी के शिर मे। आसीन=(स०) बैठा हुआ। पराये=दूसरे के। छीन=(क्षीण),=बखान=वर्णन, यश। अधूरे=अपूर्ण।

भावार्थ—हे सुधाकर (चद्र), यद्यपि तुम अमृत से परिपूर्ण हो, और महादेवजी के ललाट पर बैठे हुए हो, किंतु पराधीन होने के कारण तुम क्षीण हो (शिवजी के मस्तक पर क्षीणकला द्वितीया का चद्रमा सुशोभित रहता है)। हे चद्र, अगर सारा ससार तुम्हारी वदना करता है तो क्या हुआ। चतुर लोग केवल लोक में कीर्त्ति पाकर ही आनद मे फूल नहीं जाते। हे चद्र, तुम अभी पराधीन (सूर्य के अधीन) रहने के कारण हीन एव अपूर्ण ही हो। जबतक स्वाधीन नहीं होते तबतक अमृत से परिपूर्ण होने से क्या लाभ ?

तात्पर्य—पराधीन मनुष्य की धन-संपत्ति, सुख-कीर्ति, इत्यादि स्वाधीन मनुष्य के सतोष-सुख के सामने नगण्य हैं। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही धनी क्यों न हो, कितने ही बड़े प्रतिष्ठित पद पर

क्यो न पहुँच गया हो ससार मे उसका नाम कितना ही क्यो न फैल गया हो, वह सुखी हो नही सकता। इतना सब होते हुए भी केवल स्वाधीनता के अभाव मे उसका सारा जीवन अपूर्ण है। वास्तव मे जिन पदार्थो को वह अपना समझता है वह उसके नहीं वरन् वह जिसके अधीन है उस व्यक्ति के हैं। मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्त करना है। पराधीनता मे रह कर भी जो मनुष्य धन-सपत्ति के बल से ऐशो-इशरत करता है वह मनुष्य नहीं, पशु है।

(दीपक)

मूल—मित्र-नाम को दीप लघु करै कहा रे नास।
वे वरु तो अभिधान को अधिकौ करत प्रकास॥
अधिको करत प्रकास भलाई उनकी छाई।
त्रिभुवन भवन मँझार पूजि सब करै बडाई॥
बरनै दीनदयाल करे तू कौन काम को।
रहो कारिखो छाय जराय न मित्र नाम को॥ २५॥

शब्दार्थ—मित्र=सूर्य मित्र-नाम=मित्र अर्थात् सूर्य के नाम वाला, सूर्य का एक नाम 'पतग' है, और 'पतग' 'फतगे' को भी कहते हैं, अत 'मित्र-नाम' का अर्थ हुआ "फतिंगा" या 'पतग', (पतग दीये की रोशनी पर मुग्ध होकर अपने को उसकी लौ (जोत) मे भस्म कर देता है)। वे=सूर्य। वरु=वल्कि। अभिधान=नाम। तो अभिधान=तुम्हारा (दीपक का) ही नाम-धारी अर्थात् 'द्वीप।' 'दीप' और 'द्वीप' दोनो का अर्थ 'टापू' होता है। 'दीप' 'द्वीप' का ही अपभ्रश (भाषा-विज्ञान के अनुसार विकसित) रूप है।

भावार्थ—हे छोटे दीये (दीपक), तू मित्र (सूर्य) के नामराशि 'पतग' को जलाकर उसका सर्वनाश क्यों करता है? (सूर्य भगवान् यदि चाहें तो इसका बदला तुझसे कौड़ी कौड़ी चुका सकते हैं) किंतु वे (ऐसा न कर के) तुम्हारे नामराशि द्वीपों और महाद्वीपों को अत्यत प्रकाशित करते हैं, (उनमें ऐसी सामर्थ्य थी कि वे सब द्वीपों को जला सकते थे पर उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा।) इससे ससार मे उनके उपकार की चर्चा फैली हुई है, तीनो लोकों मे घर घर उनकी पूजा होती है और सब उनकी बड़ाई करते हैं, पर तू कैसा नीच काम करता है जिसके कारण तुझ पर कालिख छाई हुई है? (दीपक की लौ में 'काजल' होता ही है)। अब भी सावधान हो जा, मित्र (सूर्य) के नामराशि को जलाया मत कर।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे अल्प सामर्थ्यवान् कृतघ्न व्यक्ति पर कही गई है जो अपनी शक्ति के घमड मे किसी शक्तिशाली अपने उपकारी पुरुष के आश्रित दीनजनो पर अत्याचार करता है। ऐसे लोग दर्प के कारण अथवा नासमझी से अपने उपकारी का विरोध करने पर उतारू तो हो जाते हैं पर इस बात का विचार नहीं करते कि वे कहां तक उचित काम कर रहे हैं और इसका परिणाम अंत मे क्या होगा? इसके विपरीत शक्तिशाली पुरुष अपने अपकारी और उसके आश्रितो पर उपकार ही करते हैं। यदि वे चाहें तो इसका प्रतीकार कर सकते हैं, उनमें इतनी सामर्थ्य रहती है। पर वे अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करते। अपकार का बदला अपकार से ही न देकर उपकार से देते हैं। इसीलिये ऐसे सज्जनों की प्रशसा और बड़ाई होती है और सभी उनका सम्मान करते हैं। इसके विरुद्ध कृतघ्न मनुष्यों को अपने उपकारी का अपकार करने के कारण निंदित होना पड़ता है।

साराश यह कि अपने उपकारी का अपकार करना भारी कृतघ्नता है।

(रत्नदीपक)

मूल—भाजन सहित सनेह की करत चाह तुम नाहिँ।
परहित देत प्रकास बर रतनदीप जग माहिँ॥
रतनदीप जग माहिँ तुमै चल-वात न परसै।
अविचल विमल सुभाव भाल कालिमा न दरसै॥
बरनै दीनदयाल लसै तानैं सिर राजन।
तूल कुवतियाँ त्यागि भए सत-सोभा-भाजन ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भाजन=बर्तन, पात्र। सनेह सहित भाजन की=(१) तेल युक्त दीये की, (२) प्रेमपात्र व्यक्ति की। सनेह=(स० स्नेह) (१) घी, तेल आदि, (२) प्रेम। चाह=इच्छा। परहित=(१) दूसरे के लिये, (२) परोपकार के लिये। प्रकास बर=(१) निर्मल ज्योति (२) सद्ज्ञान। रतनदीप=(१) मणिदीपक, (२) ज्ञानी नररत्न। तुमै=तुमको। चल वात न परसै=(१) हवा का चंचल झोका, स्पर्श नहीं करता, (२) चुगली की बातें (चवाव) तुमपर कुछ असर नहीं करतीं। अविचल=निश्चल, स्थिर (जो विचलित न हो)। विमल=पवित्र, निष्कपट। कालिमा=(१) कालिख, काजल, (२) कलंक। तूल=(१) रुई (२) लंबी चौड़ी। कुवतियाँ=(१) बुरी बत्तियाँ, (२) कटु वचन या अपशब्द। सतसोभा भाजन=अच्छी शोभा के पात्र।

प्रकरण—श्लेष अलंकार द्वारा यह अन्योक्ति [illegible] ज्ञानी नररत्न दोनो पर घटती है।

भावार्थ—(मणिदीपक पक्ष) [illegible] दीये की भाँति) तेल भरे हुए [illegible]

ससार मे दूसरों के लिये (अपने लिये नहीं) अपनी निर्मल ज्योति फैलाते हो, और चचल वायु का झोका तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकता, (मामूली दीये को तरह बुझा नही देता)। तुम निश्चल हो (साधारण दीपक की भांति चचल नहीं), स्वभावत पवित्र हो (तेल का दीपक अपवित्र माना जाता है), तुम्हारे प्रकाश मे (दीये की लौ की तरह) कालिख भी नहीं दिखाई देती। तुम रुई की बुरी बत्तियो (जो तेल के दीये मे जलाई जाती है) को छोड़ कर सुन्दर शोभा के पात्र हुए हो, इसी से (मुकुट मे रहने मे) राजाओ के सिरो मे सुशोभित होते हो।

तात्पर्य—(ज्ञानीपक्ष) ज्ञानी मनुष्य परोपकार के लिये अपने सदुपदेशों द्वारा लोगो में ज्ञान का प्रचार करते हैं। ज्ञान देते समय वे पात्रापात्र का विचार नही करते। वे यह बात आवश्यक नहीं समझते कि जिसको ज्ञान दिया जारहा है वह उनका स्नेहपात्र अथवा भक्त है या नहीं। साधारण लोगो की भांति चवाव का उनपर कुछ असर नहीं पड़ता। लोगो की कही सुनी बातो को सुनी अनसुनी करके वे लोग अपना काम करते जाते हैं। वे दृढ निश्चय एव पवित्र हृदय होते हैं, और उनके माथे पर (चरित्र में) कलक का नाम नहीं होता, अर्थात् उनका चरित्र निष्कलक होता है। वे लोग लबी चौड़ी गप्प मारने मे तथा दूसरो के साथ गाली गलौज करने मे अपना समय नष्ट नहीं करते। इन सब गुणो के कारण ऐसे लोग सज्जनो के समाज की शोभा बढ़ाते हैं, और राजाओं द्वारा सम्मान पाते हैं।

अलंकार—श्लेष।

(नीरद)

मूल—दीजे जीवन जलद जू दीन द्विजन को देखि।
इनको आसा रावरी लागी अहै विसेखि॥

लागी अहै विसेखि देहु कुल कीरति छैहै।
या चपला है चला लला धौ कित को जैहै॥
बरनै दीनदयाल आप जग में जस लीजै।
परम धरम उपकार द्विजन को जीवन दीजै॥ २७॥

शब्दार्थ—जीवन=(१) पानी (२) जीविका। जलद=बादल। द्विजन=(१) चातकादि पक्षियो को, (२) ब्राह्मणों को। अहै =(सं० अस्ति) है। विसेखि=विशेष। छैहै=छा जायगी। चपला= (१) बिजली, (२) लक्ष्मी, धन दौलत (जो क्षणभंगुर होती है)। चला=(१) चंचल, (२) नाशमान्। लला=प्यार का संबोधन, हे प्यारे। धौं=न जाने। किन=(कुत्र) किधर। जैहै= जायगी।

भावार्थ—हे बादल, इन दीन चातकादि पक्षियों को देखो, इन को खास तौर पर तुम्हारी ही आशा लगी है, इसलिये इन को पानी दो। (इस उपकार के कारण) तुम्हारे (बादल) कुल की कीर्ति फैल जायगी। हे प्यारे, (जिस के कारण तुम अपने आश्रितो को भूले हुए हो वह) बिजली चंचल है न जाने (तुम को छोड़ कर) कब कहाँ चली जाय। दूसरे की भलाई करना ही तो संसार का मुख्य धर्म है, इसलिये इन दीन पक्षियों को पानी दो और संसार में यश प्राप्त करो।

तात्पर्य—यह किसी धनवान् व्यक्ति के प्रति गरीब ब्राह्मणों की उक्ति है। दीन ब्राह्मणो को धनी लोगो से ही विशेष प्राप्ति की आशा रहती है। दूसरे लक्ष्मी चंचल है, धन दौलत सदा एक के पास नहीं रहती, न जाने कब नष्ट हो जाय। इसलिये जबतक पास में धन दौलत है तबतक उसका सदुपयोग क्यो न कर लिया जाय। परोपकार ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है। इसलिये दीन ब्राह्मणों की ... का उपाय कर संसार मे यश क्यो न प्राप्त किया जाय।

इससे केवल 'दाता' को ही यश हो सो बात नहीं उसके सारे कुल की कीर्ति फैल जाती है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति

मूल—करिये सीतल हृदय बन सुमन गयो मुरझाय।
सुनो विनय घनस्याम हे सोभा सघन सुहाय॥
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजे।
नीलकंठ प्रिय पालि सरस जग में जस लीजे॥
बरनै दीनदयाल तृषा द्विजगन की हरिये।
चपला सहित लखाय मधुर सुर कानन करिये॥२८॥

शब्दार्थ—सुमन=(१) फूल (२) अच्छा मन। घनश्याम=(१) काले बादल, (२) श्रीकृष्ण। नीलकंठ=(१) मयूर, (२) शिव। सरस=अधिक। द्विजगन=(१) पक्षी (चातक आदि), (२) ब्राह्मण लोग। चपला=(१) बिजली, (२) राधिका। सुर=(स्वर) (१) गर्जन (२) वंशी की तान। कान करना=सुनना।

प्रकरण—श्लेष द्वारा यह छंद, 'बादल' और 'श्रीकृष्ण' दोनों पर घटता है।

भावार्थ—(बादलपक्ष) हे अत्यंत शोभा से सुशोभित काले (जलपूर्ण) बादल, आप हमारी विनती सुनिये। इस वन के सब फूल मुरझा गये हैं, अतएव कृपा करके जल बरसा कर इनके हृदय को शीतल कीजिए, और अपने प्यारे मयूरों का पालन कर संसार में अत्यंत यश प्राप्त कीजिए तथा (स्वाती नक्षत्र का जल बरसा कर) चातकादि पक्षियों की प्यास बुझाइये। हे घनश्याम, दमकती हुई बिजली के सहित दर्शन दीजिए और अपना मधुर गर्जन सुनाइए।

(श्रीकृष्ण-पक्ष) हे अत्यत शोभा-सपन्न घनश्याम श्रीकृष्ण, हमारी प्रार्थना सुनिये। हमारा सुदर मन सकुचित होगया है अतएव कृपारूपी जलधारा से सींच कर हमारे हृदय रूपी वन को शीतल कीजिए। हे शिवजी के प्यारे श्रीकृष्ण, राधिका जी के सहित दर्शन देकर, तथा मुरली की मधुर तान सुना कर अपने भक्तों (ब्राह्मणों) को प्रेम-पिपासा शांत कीजिए और इनकी रक्षा कर ससार में अत्यत यश प्राप्त कीजिए।

मूल—भीषन ग्रीषम ताप तें भयो झाँवरो छीन ।
　　है यह चातक-डावरो अनुग रावरो दीन ॥
　　अनुग रावरो दीन लीन आधीन तिहारे ।
√　कहे नाम वसु जाम रहै घनस्याम निहारे ॥
　　बरनै दीनदयाल पालिये लखि तप तीखन ।
　　सरी सरोवर सिधु काहु इन माँगी भीख न ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—झाँवरो (स०श्यामल)=काला (अत्यन्त धूप के कारण चेहरा काला पड़जाता है)। छीन=(स०क्षीण) दुर्बल। डावरो=(फा० तवार) बच्चा। अनुग=(अनु=पीछे+ग=गमन करने वाला) अनुचर, सेवक, भक्त। लीन=तल्लीन, लवलीन प्रेम में निमग्न। आधीन=(अधीन)। मातहत, निर्भर। वसु=आठ, (देवताओं की एक योनि विशेष का नाम 'वसु' है, जो सख्या में आठ होते हैं)। जाम=(याम) प्रहर (३ घटे या ७॥ घड़ी का एक प्रहर होता है)। वसुजाम=आठो पहर, रातदिन। तप तीखन =(१) कठोर तप (२) तीक्ष्ण ताप, भयकर गर्मी। सरी= (स० सरित्) नदी। सिधु=समुद्र। काहु=किसी से। भीख= (स०भिक्षा)।

भावार्थ—यह चातक का बच्चा ग्रीष्म ऋतु की भयकर गर्मी ने झुलस कर काला पड़गया है, और अत्यन्त दुबला होगया है।

हे बादल, यह बेचारा आपका भक्त है, आपके ही प्रेम में मग्न रहता है, आप पर ही इसका जीवन निर्भर है, और रातदिन आप की (काले बादलों की) ओर एक टक देखकर आपका ही नाम रटता रहता है। (आपके अतिरिक्त) इसने नदी, तालाब या समुद्र किसी से भी भीख नहीं माँगी (चातक कितना ही प्यासा क्यों न हो यह स्वाती के जल के सिवाय और कोई जल पीता ही नहीं, ऐसी कवि प्रौढ़ोक्ति है) । अतः इसकी कठिन तपस्या को देख कर (अथवा, इस भयंकर गर्मी का विचार कर) इसका पालन कीजिए।

तात्पर्य—किसी धनी व्यक्ति के प्रति कोई आश्रित व्यक्ति कहता है कि मैं आपका अनन्य भक्त हूँ मुझे सब प्रकार से आप ही का भरोसा है, आपके सिवाय मैंने आज तक किसी दूसरे के सामने हाथ नहीं फैलाया, मैं इस समय बड़ी विपत्ति में हूँ, मेरे इस कष्ट को देखकर मेरी रक्षा कीजिए।

मूल—जग को घन तुम देत हो गजिकै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान॥
तापर परे पखान बानि यह कौन तिहारी।
सरित सरोवर सिंधु तजे इन तुमै निहारी॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिये यहि खग को।
रह्यो रावरी आस जन्मभरि तजि सब जग को॥२०॥

शब्दार्थ—गजिकै (मुहावरा)=ढेर का ढेर, गज का गज। जीवन=जल। पखान=(पाषाण) पत्थर, हिमोपल, ओले। बानि=आदत, स्वभाव। सरित=नदी। निहारी=देखकर। खग (ख=आकाश शून्यस्थल+ग=गमन करने वाला) पक्षी (योगरूढ़)।

भावार्थ—हे बादल, सारे ससार को तो तुम बहुत सा (गज का गज) पानी दे देते हो पर बेचारा प्यासा पपीहा (जिसको अधिक

नहीं, प्यास बुझाने मात्र को एक दो बूँदों की आवश्यकता है) "पानी, पानी" रटते रटते मर जाता है (उसको जल से तृप्त करना तो दूर रहा) उलटे उसके ऊपर ओले बरसाते हो । यह तुम्हारी कैसी आदत है ! इस बेचारे ने तुम्हें देख कर (तुम्हारा भरोसा करके) नदी, तालाब और समुद्र तक को छोड़ दिया । तुम्हारे अनन्य भक्त इस पक्षी को धन्य है जो (तुम्हारे विमुख होने पर भी तुम से प्रीति करना नहीं छोड़ता और) सारे संसार से नाता तोड़ कर जन्मभर तुम्हारे अनुग्रह की आशा में रहता है ।

तात्पर्य—(किसी धनी के प्रति कवि की उक्ति है ।) हे धनिक, तुम्हारी उदारता से सारा संसार लाभ उठाता है, पर जो तुम्हारे सेवक हैं, तुम्हारे अनन्य भक्त हैं, जिनको तुम्हारे अतिरिक्त और कोई आश्रय ही नहीं, और जिन्होंने तुम्हारे सिवाय किसी दूसरे के सामने कभी हाथ नहीं पसारा, ऐसे अपने आश्रित लोगों को पीड़ित क्यों करते हो ? उनकी सहायता करना तो दूर रहा उलटे उनको और भी कष्ट देते हो । यह तुम्हारा कैसा स्वभाव है ?

मूल—आयो चातक बूँद लगि सग सर सरित बिसारि ।
चहियत जीवन दानि ! तिहि निरदै पाहन मारि ?
निरदै पाहन मारि पख बिन ताहि न कीजे ।
याहि रावरी आस, प्यास हरि,जग जस लीजे ॥
बरनै दीनदयाल दुसह दुख आतप तायो ।
तृपावन्त हित-पुर दूर तें चातक आयो ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—लगि = लिये । बूँद = स्वाति नक्षत्र के जल की केवल एक बूँद । बिसारि = भुलाकर, छोड़कर । जीवनदानि = जलद, बादल । पाहन = (पाषाण) पत्थर, ओले । मारि = चोट । दुसह

=(दु:सह) जिसे सहने में कष्ट हो, अत्यन्त। आतप=धूप, गर्मी। तायो=तपाया हुआ, झुलसा हुआ। हितपूर=प्रेम से भरा हुआ, प्रेमयुक्त।

भावार्थ—यह चातक बेचारा सब तालाब और नदियों को छोड़ कर केवल एक (स्वाति नक्षत्र के जल की) बूँद की आशा से तुम्हारे पास आया है। हे निर्दय बादल, तुम जीवन देनेवाले (जल बरसानेवाले) कहे जाते हो, क्या तुम्हें उसको ओले बरसा कर मारना उचित है ? हे निष्ठुर, ओलों की मार से उसे पक्षहीन मत करो। यह तुम्हारा प्रेमी प्यासा चातक अत्यन्त दुःख और गर्मी से व्यथित होकर केवल तुम्हारी ही आशा के भरोसे बड़ी दूर से आया है, अतएव (इसे निराश मत करो), इसकी प्यास बुझाकर संसार में यश प्राप्त करो।

तात्पर्य—किसी आर्त्त भक्त का अपने इष्टदेव के प्रति उपालम्भ है। हे भगवन्, मैं अन्य सब देवी देवताओं को छोड़कर आपका अनन्य उपासक हूँ। आपके अनुग्रह की अभिलाषा से आपकी शरण आया हूँ। आप दीनबन्धु कहलाते हैं। क्या मुझ दीन की सुध न लेना आपको उचित है ? मुझे केवल आपका ही भरोसा है, अतएव आपके प्रेम में निमग्न हो आपकी भक्ति का अभिलाषी बन अनेक कष्ट सह कर आपका चरणाश्रित हुआ हूँ। मुझे इस प्रकार सांसारिक कष्टों से छुड़ाकर संसार में दीनबन्धुत्व का यश लीजिए।

मूल—जिन सखिन को सींचि तुम करी सुन्दरी बढ़ार।
तिनको दई न चाहिये हे घन ! पाहन मार॥
हे घन पाहन मार भली यह कही न जेहन।
गरलहु को तरु जाय न चहिये निज कर छेदन॥

बरनें दीनदयाल जगत बसिबो द्वै दिन को।
लेहु कलक न कद पालि दलि जिन ससिन को ॥३२॥

शब्दार्थ—सस्सिन=[स० शस्य+न (बहुवचन सूचक चिह्न)] अनाजों के पौधों को । पाहन=(पाषाण) ओले। गरलहु= विष का भी । लाय=लगाकर । कर=हाथ । छेदन=काटना । जगत=ससार । बसिबो=रहना । कद=(क=जल+द=देने वाला) बादल। दलि=दल कर, नाश करके।

भावार्थ—हे बादल, जिन अन्न के पौधों को तुमने जल मे सींच कर हरा भरा कर दिया था, उन्हीं को ओलों की मार देना उचित नहीं है। वेदों ने ऐसे कामों की सरासर निंदा की है। (और उनका विधान तो यह है कि) अपने लगाये हुए वृक्ष को—चाहे विष का ही क्यो न हो—अपने ही हाथों से काटना नितांत अनुचित है। हे बादल इस ससार मे दो चार दिन तो रहना है (सदा तो रह नहीं सकते), अतएव जिन धान्यों को तुमने पाला है उन्हीं को नष्ट कर व्यर्थ ही इस थोड़े समय के जीवन मे अपने सिर कलक क्यो लेते हो ?

तात्पर्य—(अपने आश्रितो को अथवा अपने ही पाले पोषे हुओं को कष्ट देनेवाले के प्रति यह उक्ति है)। जिनको पाल पोष कर बड़ा किया, जिनकी उन्नति के लिए नाना प्रकार के उपाय किये, उनका (चाहे वे कितना ही अपकार क्यो न करे) सर्वनाश करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। वेदो का तो यह नियम है कि स्वय रोपे हुए विषवृक्ष को भी अपने हाथों न काटना चाहिये। ससार मे रहना ही कितने दिन है। अतएव अपने पाले पोषे लोगो का— चाहे वे कृतघ्न ही क्यों न हो—नाश कर कलक क्यो कमाया जाय ?

मूल—भूले अब घन ! तुम किते प्रथमे याको पालि ।
लखत रावरी राह को सूखि गयो यह सालि ॥
सूखि गयो यह सालि अहो अजहूँ नहि आए ।
दै दै नाहक नीर सिंधु मे सुदिन गँवाए ॥
बरनै दीनदयाल कहा गरजत हो फूले ।
समै न आए काम, काम कौने, भ्रमि भूले ॥३३॥

शब्दार्थ—किते=किधर । राह (फा०)=मार्ग । राह लखना (मुहावरा)=बाट जोहना, अपेक्षा करना । सालि=(स० शालि) धान । अजहूँ=(अद्यापि) अब तक भी । नाहक (अ०)=व्यर्थ ही । नीर=जल । गवाँना=बिताना । फूले=घमड मे भरे हुए । भ्रमि भूले=भ्रम मे भटकते फिरते आजाने से । कौने काम=क्या लाभ ।

भावार्थ—हे बादल, यह धान की खेती आप की बाट जोहते जोहते सूख गई है । पहिले आपने ही इस को पाला था अब क्यो भूल गए हो । अहा, धान की सारी खेती सूख गई है, पर आप अभी तक (इसकी सुधि लेने) नहीं आए । (जिसको आपके जल की आवश्यकता थी उसको न देकर) अपना जल समुद्र मे—जिसको जल की कोई कमी नहीं थी—बरसा बरसा कर आपने अपना अमूल्य समय निष्प्रयोजन ही बिताया । अपनी सामर्थ्य के अभिमान मे फूल कर गरजते क्या हो, यदि समय पर काम नहीं आए तो कभी भूले भटके आजाने से क्या लाभ है ?

तात्पर्य—जिनको जरूरत है, उन आश्रितों को समय पर सहारा देना चाहिए । जो स्वय धनी है उसे और देना व्यर्थ है ।

मूल—चपला सगति तें भयो घन ! तब चपल सुभाय ।
ता छिन तें बरसन लगे अमृत को तजि भाय ॥

अमृत को तजि ग्राव हनत को तुमै निवारै।
अहो कुसग प्रचड काहि जगमे न विगारै॥
बरनै दीनदयाल रहैगि न, है यह सचला।
ता बस अजस न लेहु, देहु चित, है चल चपला॥ ३४॥

शब्दार्थ—चपला=(१) बिजली (२) लक्ष्मी, धन। चपल=चचल। छिन=(क्षण) समय। अमृत=जल (८)। ग्राव (स०)=पत्थर, ओले। निवारै=रोक सकता है। प्रचड=प्रबल। सचला=चचला, अस्थिर, क्षणभगुर।

भावार्थ—हे बादल, बिजली की सगति से तुम्हारा स्वभाव भी चचल होगया है। (जिस समय से तुम बिजली के कुसग मे फँस गये) उसी समय से तुमने जल बरसाना छोड़ कर ओले बरसाना आरभ कर दिया। पर तुम्हे ओलो की मार मारने से रोक भी कौन सकता है? कुसग बडा ज़बर्दस्त होता है, ससार मे ऐसा कौन है जिसे यह न बिगाड देता हो? हे बादल, यह बिजली चचल है, क्षणभगुर है, तुम्हारे पास बहुत दिनो तक टिक नहीं सकेगी। इससे अब भी सावधान हो जाओ, उसके वश मे पड़ कर अपयश मत कमाओ।

तात्पर्य—धन पाकर अथवा कुसग पाकर सज्जन का भी स्वभाव बिगड जाता है। इसी प्रकार के किसी सज्जन के प्रति यह उपदेश है। हे सज्जन, पहिले तो तुम बडे मिलनसार थे, पर जब से तुम को धन मिला तुम परोपकार करने के बदले लोगों को और भी पीडित करने लगे। किन्तु तुम धनी हो, तुम्हें ऐसा करते हुए रोक भी कौन सकता है? इसी से तो कहते हैं कि कुसग बड़ा प्रबल होता है। ऐसा कौन है जो कुसग पाकर भी न बिगड़ा। हे सज्जन,

(८) "पय कीलालममृतम्"—इत्यमर।

यह लक्ष्मी चचल है, तुम्हारे पास सदैव रह नहीं सकती, एक न एक दिन तुम्हें धोखा दे कर चली जायगी। इसलिये अभी सावधान होजाओ, धन दौलत के वश मे होकर ससार मे अपयश मत कमाओ।

मूल—बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहि।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहि॥
अकुर जमिहै नाहि बरख सत जो जल दैहै।
गरज तरज कहा वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहिँ परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखै॥ ३५॥

शब्दार्थ—पयोद =(स० पयस्=जल+द=देने वाला) बादल। इत=यहां (ऊसर भूमि मे)। मोद=आनद। सत=(शत) सौ। तरजै=डराता है। ठौर कुठौर=स्थान कुस्थान, योग्य या अयोग्य स्थल। परखै=(स० परीक्षण) देखता है, जाँच करता है। गाहक =(स० ग्राहक) ग्रहण करने वाला। बलाहक=(स०) बादल।

भावार्थ—हे बादल, तुम यहाँ (इस मरुभूमि मे) अपने मन में आनदित होकर जल क्या बरसाते हो? यह तो उजाड़ भूमि है, यहाँ यदि तुम सौ वर्ष तक भी लगातार जल से सींचो तो भी अकुर नही जम सकेगा। इस समय तुम गरज गरज कर डाटते क्या हो, तुम्हारा यह परिश्रम नितान्त निष्फल होगा। हे बादल, तुम भली बुरी जगह का विचार नहीं करते (कहाँ जल की आवश्यकता है कहाँ नहीं इस बात को नहीं देखते), इस मरुस्थल मे तो बिना ग्राहक (आवश्यकता) के व्यर्थ ही बरसते हो।

तात्पर्य—जड़ पुरुष को उपदेश देने वाले किसी व्यक्ति के प्रति यह अन्योक्ति है। हे उपदेशक, तू बड़े आनन्द से इस मूर्ख को

उपदेश देने आया है। पर इस का हृदय अत्यन्त जड है। तू कितना ही क्यों न इसे समझावे, इस पर तेरे उपदेश का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ने का। तू पात्रापात्र का विचार नहीं कर रहा है। यहाँ तेरी बकबक व्यर्थ जायगी, तेरा सारा परिश्रम निष्फल होगा। साराश यह कि उपदेश और दान देने के लिये पात्रापात्र का विचार कर लेना उचित है।

(समुद्र)

मूल—रतनाकर ! महि माहँ तुम अति अथाह गभीर।
हैं प्रवाह दुस्तर भरे ग्राह प्रबल तो नीर॥
ग्राह प्रबल तो नीर तीर पैठत बुध हारे।
धीर न रहै सरीर तरग निहारि तिहारे॥
बरनै दीनदयाल जौन मरजीवा जाकर।
लै मुकुतन को कढ़ै साइ धनि है रतनाकर॥ ३६॥

शब्दार्थ—रतनाकर=(स० रत्न+आकर=खान) समुद्र। महि=पृथ्वी। अथाह=जिसकी थाह न लगती हो, अत्यन्त गहरा। गंभीर=गहरा। प्रवाह=धारायें, लहरे। दुस्तर-(दु +तर) जिनको पार करना कठिन हो। ग्राह=मगर। तो=तेरे। तीर=तट। पैठना=(प्रविष्ट) घुसना। बुध=पडित (तैरने मे कुशल, दक्ष तैराक)।

(अन्वय—हे रतनाकर, जोन मरजीवा जाकर मुकुतन को लै कढ़ै सोई धनि)।

मरजीवा=(मर कर जिया हुआ) गोताखोर। (जब कोई गोताखोर रत्न निकालने के लिये समुद्र मे डुबकी लगाता है उसकी जान का बड़ा खटका लगा रहता है। यह मरेगा या सफलता प्राप्त कर जीता जागता लौट आयेगा ऐसा कोई नहीं कह

सकना, इसी लिये किसी भी काम पर अपने जीवन पर खेलनेवाले साहसी व्यक्ति को 'मरजीवा' कहते हैं, क्योंकि वह एक प्रकार से मरने के अनन्तर पुनः जन्मलियाहुआ समझा जाता है)। कढ़ै = निकले।

भावार्थ—हे समुद्र, तुम पृथ्वी मे अत्यन्त गहरे और गंभीर हो, तुममे बड़ी बड़ी लहरें हैं, और तुम्हारे जल में बड़े बड़े बलवान् मगर भरे पड़े हैं। तुम्हारे तट पर जाते हुए तो बड़े बड़े निपुण तैराक भी हार मान जाते हैं। तुम्हारी तरंगो को देखकर शरीर में धैर्य नही रहता। हे रत्नो की खानि समुद्र! जो गोताखोर (अपनी जानपर खेलनेवाला साहसी) तुम्हारे तल मे प्रविष्ट होकर मोतियो को लेकर ही वहाँ से लौटता है वही धन्य है।

तात्पर्य—यह ससार रूपी समुद्र अपार है, इसकी थाह लगाना बड़ा कठिन काम है। इसमे विषय वासनाएँ ही बड़ी बड़ी लहरें हैं, काम क्रोध लोभ मोह आदि बड़े भयकर जल-जन्तु हैं। बड़े बड़े ज्ञानी ऋषि महर्षि भी इसकी थाह नहीं लगा सके, क्योंकि माया-जाल में फँसने पर अपने को सँभालना कठिन हो जाता है। परन्तु वे जीवन्मुक्त धन्य हैं जो इस ससार मे रहतेहुए भी माया से बिलकुल निर्लिप्त रहते हैं, और जो परमात्मा के सामीप्य के ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं। सारांश यह कि इस संसार में आकर जो सत्कर्मों का सचय करते हैं वे ही धन्य हैं।

मूल—गरजे बातन तैं कहा धिक नीरधि! गभीर।
विकल विलोकै कूप पय तृपावन्त तो तीर॥
तृपावत तो तीर फिरैं तुहि लाज न आवै।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज विभौ दिखावै॥
बरनै दीनदयाल सिंधु तोको को बरजै।
तरल तरगी ख्यात वृथा बातन तैं गरजै॥३७॥

शब्दार्थ—वातन=(१) हवा के झोंके, (२) बकवाद। नीरधि (नीर+धि)=समुद्र, जल का आधार। विकल= व्याकुल, घबड़ा कर। बिलोकै = देखते हैं, खोजते हैं। पथ=मार्ग। तुहि=तुम को। भवर (स० भ्रमर)=आवर्त, जल का भ्रमर। लोल=चचल, कल्लोल = ऊँची ऊँची तरगें। बिभौ (विभव)=ऐश्वर्य, सपत्ति। बरजे=मना कर सकता है। तरल=चचल। तरगी=(१) लहरोवाला, (२) मौजी। ख्यात=प्रसिद्ध।

भावार्थ—हे समुद्र, तुम हवा के झोको से गरजते क्या हो? तुम्हारे जल की गहराई को धिक्कार है। तुम्हारे निकट (तट पर) रहतेहुए भी प्यासे पथिक व्याकुल होकर कुँए का मार्ग खोजते हैं। प्यासे मनुष्य तुम्हारे तट से (जल-प्राप्ति से निराश होकर) लौट जाते हैं। तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती, प्रत्युत और भी ढीठ होकर अपने भवर और बड़ी बड़ी चंचल तरगों के बहाने लोगों को अपना अमित ऐश्वर्य दिखाते हो। हे समुद्र, तुमको इन बातो से कौन रोक सकता है? तुम तो चचल तरगोवाले प्रसिद्ध ही हो और हवा के झोंको से व्यर्थ ही गरजते हो।

तात्पर्य—अपने धन पर इतरानेवाले किसी कृपण के प्रति यह अन्योक्ति है। हे कृपण, तू अपने धन के अभिमान में क्या बकबक करता है। तेरा धन किस काम का जब किसीको उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। याचक लोग तेरे दरवाजे से विमुख होकर साधारण वित्तवाले लोगो का मुँह ताकते हैं। तुझे इस बात से ज़रा भी शर्म नहीं आती, निर्लज्ज की तरह लोगो को और भी अपना ऐश्वर्य दिखाता है। हे कृपण, तुझे रोक कौन सकता है? तू तो चचल और मौजी प्रसिद्ध ही है, केवल व्यर्थ बकवाद ही करता है, तुझसे फायदा किसीको रत्ती भर भी नहीं।

(नद)

मूल—सिंधु बड़ाई भूलि जनि, नद ! नमि कै चलि चाल।
सहिबो परिहै खार ह्वै बड़वानल की ज्वाल ॥
बड़वानल की ज्वाल नाम रूपहु मिटि जैहै।
ह्वै है अधिक अपीव जीव कोउ नीर न छ्वैहै ॥
बरनै दीनदयाल ब्याज की कहा चलाई।
जैहै मूल नसाय पाय नद सिंधु बड़ाई ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—जनि = मत, नहीं। नमि कै = झुक कर, नम्र होकर। चलि = चलो। खार (स० क्षार) = नमकीन, खारा। बड़वानल = समुद्र की अग्नि। ज्वाल = लपट। अपीव (अपेय) = पीने के अयोग्य। ब्याज = सूद, बढ़ती, लाभ। मूल = मूलधन।

भावार्थ—हे नद, समुद्र की बड़ाई पर भूलो मत। (इतने वेग से न चलकर) नम्र होकर चलो। समुद्र में मिलने का परिणाम यही होगा कि तुम्हारा मीठा जल भी खारा होजायगा, और समुद्र के साथ ही बड़वाग्नि की लपटें सहनी पड़ेंगी। समुद्र में मिलजाने से तुम्हारा नाम और रूप तक मिट जायगा, तुम इतने अधिक अपेय (खारेपन के कारण) हो जाओगे कि कोई जीव तुम्हारा जल छुएगा भी नहीं (पीने की तो बात ही कौन कहे) हे नद, समुद्र की बड़ाई पाकर (समुद्र कहला कर) अपने मूलधन से भी हाथ धो बैठेगा, ब्याज की तो पूछे कौन ? (अर्थात् समुद्र के संसर्ग से तुम्हारा नाम फैलना तो दूर रहा उलटे अपना नाम और रूप भी गँवाना पड़ेगा)

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति है जो बड़ों के केवल संसर्ग-मात्र से उन्मत्त होजाता है।

मूल—हे नद ढाहै तरुन जनि पावस प्रभुता पाय।
ये तो तेरे तीर पै सोभा रहे बनाय॥
सोभा रहे बनाय छाय फल फूलन तें अति।
सीत सुगंध समीर धीर गति हरै पथिक मति॥
बरनै दीनदयाल विविध खग रहैं भरे मद।
ये सुख रहिहैं नाहिं गये इन तरु के हे नद॥ ३६॥

शब्दार्थ—ढाहना=जड़ से गिरा देना। प्रभुता=अधिकार। समीर=वायु, हवा। गति=चाल। मति हरै=बुद्धि को हर लेते हैं, मोह लेते हैं। विविध=अनेक प्रकार के। मद भरे=आनन्द से उन्मत्त होकर। (मन्द, सुगन्ध और शीतल ये वायु के तीन सुंदर गुण माने जाते हैं)। सीत=शीतल। धीर=मद।

भावार्थ—हे नद, वर्षा काल मे अधिकार पाकर (घमड के मारे) इन वृक्षो को उखाडो मत, ये तो फल फूलो से युक्त होकर तुम्हारे (नद के) तट को सुशोभित कर रहे हैं, और (इन्ही वृक्षो के संयोग के कारण) मद, सुगध और शीतल वायु पथिको के मन को मुग्ध कर देती है। इन्ही वृक्षो के ऊपर आनन्द से उन्मत्त नाना भाँति के पक्षी कूज कूज कर तुम्हारे तट को विशेष रमणीय बना रहे हैं। (इस लिए इन पेड़ो को उखाड़ो मत) हे नद, इन पेडो के उखड़ जाने पर फिर ऐसे सुख कहाँ मिलेंगे।

तात्पर्य—बड़े आदमी का सहारा पाकर अपने आश्रितो और सहायको का नाश करने में उद्यत किसी व्यक्ति के प्रति यह उक्ति है। हे मनुष्य, दूसरे का अधिकार पाकर अपने को इतना मत भूल जाओ, अपने आश्रितो और सहायको का सर्वनाश मत करो। इन्हीकी सहायता से तुम इस उच्च पदवी को प्राप्त हुए हो, और इन्हींसे तुम्हारी शोभा है। इनका सर्वनाश करने पर फिर तुम्हें ये सुख, ये आनन्द, नहीं मिलेंगे।

(नदी)

मूल—बहु गुन तो में हैं धुनी ! अति पुनीत तो नीर।
राखति यह ऐगुन बडो बक मराल इक तीर॥
बक मराल इक तीर नीच ऊँचो न पिछानति।
सेत सेत सब एक, नहीं ऐगुन गुन जानति॥
बरनै दीनदयाल चाल यह भली न हैं सुन।
जग में प्रगट, नसाहिं एक ऐगुन तें बहुगुन॥ ४०॥

शब्दार्थ—धुनी = नदी। पुनीत = पवित्र। तो (तव) = तेरा। ऐगुन (अवगुण) = दुर्गुण। सेत (श्वेत) = सफेद।

भावार्थ—हे नदी, तुम में बहुत से गुण हैं, तुम्हारा जल भी अत्यन्त पवित्र (स्वच्छ) है। किन्तु (जहाँ तुम में कई गुण हैं वहाँ) एक अवगुण भी बड़ा भारी यह है कि तुम ऊँच नीच, सज्जन दुर्जन को न पहिचान कर बगुले और हंस को एक ही तट पर स्थान देती हो (गुणी और निर्गुण का समान सम्मान करती हो)। गुण अवगुण का तो तुममें बिलकुल विवेक नहीं है, सफेद रंग के सभी पक्षियों को एक सा समझे बैठी हो, यह कोई अच्छी बात नहीं है। सुनो, संसार में यह प्रकट है कि एक अवगुण से भी बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य—विद्वानों और मूर्खों का समान सत्कार करनेवाले किसी सज्जन के प्रति यह उपदेश है। हे सज्जन, तुम सर्वसद्गुण सम्पन्न हो, तुम्हारा हृदय अत्यन्त पवित्र है। पर तुम में एक बड़ा भारी अवगुण यह है कि तुम विद्वानों और मूर्खों का एक सा आदर करते हो, यह उचित नहीं। सभी मनुष्य एक से नहीं होते। तुममें ऊँच नीच, और गुण अवगुण का विचार नहीं है। तुम्हारी यह चाल अच्छी नहीं है। सुनो, एक अवगुण से बहुत से

गुण नष्ट हो जाते हैं। तुम्हारे इस एक अवगुण के कारण—सदसद् का विवेक न होने के कारण—लोग तुम्हारे गुणों का आदर नहीं करते।

(सर)

मूल—कोलाहल सुनि खगन के सरवर ! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा दुरदिन दैहै त्यागि॥
दुरदिन दैहैं त्यागि तोय तेरो जब जैहै।
दूरहि तें तजि आस पास कोऊ नहिं ऐहै॥
बरनै दीनदयाल तोहिं मथि करिहैं काहल।
ये चल छल के मूल भूल मति सुनि कोलाहल॥४१॥

शब्दार्थ—कोलाहल=कलरव, हल्लागुल्ला। सरवर (सरोवर) =तालाब। दुरदिन = (दुर्दिन) बुरे दिन आने पर, विपत्ति पड़ने पर, तोय=जल। जैहै=चला जायगा, सूख जायगा। ऐहै=आयेगा। काहल (कँदैल) = (स० कर्दमल)=गँदला।

भावार्थ—हे तालाब, इन पक्षियों का कोलाहल सुनकर मुग्ध मत हो। ये सब मतलबी यार हैं (जब तक तुम जलपूर्ण रहोगे तभी तक तुम्हारा साथ देंगे)। जब तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति आ पड़ेगी, तुम्हारा सारा जल सूख जायगा तब सब तुम्हारा साथ छोड़ देंगे, तुम्हारे पास तक कोई नहीं फटकेगा, और तुम्हारे द्वारा स्वार्थ साधन की आशा छोड़ कर तुम्हें दूर से ही प्रणाम करेंगे। ये चञ्चल पक्षी बड़े कपटी हैं, तुम्हें मथ कर और भी गँदला कर देंगे। अत इनके कोलाहल को सुन कर अपने को भूल मत जाओ।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति मे किसी धनवान् को खुशामदियों और चापलूसों से बचने का उपदेश है। हे धनिक, इन चापलूसों

की चाटूक्तियो को सुन फूल कर कुप्पा मत वन जाओ, ये सव मित्र अपने मतलव के यार हैं। जब तुम्हारी दौलत नष्ट हो जायगी, तुम्हारे ऊपर विपत्तियो के पहाड़ टूट पड़ेंगे, और जब इन स्वार्थियों को तुमसे कुछ ऐंठने की आशा न रह जायगी, तब कोई तुम्हारे पास तक नहीं फटकेगा। ये सव महाकपटी हैं, इन की चिकनी चुपडी बातो मे मत आओ। ये अपने साथ तुम को भी अपयश का पात्र बनाकर छोडेंगे।

मूल—आए ग्रीषम देखि हौ लघु सर ! तेरी सान।
कहा करे एतो वडो पावस पाय गुमान॥
पावस पाय गुमान भरो अति भूलि रह्यो है।
भेक वकन के सग उमगन फूलि रह्यो है॥
वरनै दीनदयाल दिना दस के चलि जाए।
तव देखिहौ तरग तोय वह ग्रीषम आए॥ ४२॥

शब्दार्थ—लघु=छोटा। लघुसर=तलैया। सान (फा० शान) =दिखाव, दिखाऊ गौरव। एतो=इतना। गुमान (गुरु+मान)=अभिमान, घमड। भेक=मेढक। वक=बगुला। उमगन=आनन्द के मारे। दिना दस के चलिजाए=थोड़े दिनों बाद। तोयतरग=जल की लहरें।

भावार्थ—हे लघुसर, वर्षा ऋतु का जल पाकर इतना बड़ा घमड क्या करता है, तेरी शान तो ग्रीष्म ऋतु के आने पर (जब सारा जल सूख जायगा तब) देखूँगा। इस समय वर्षा ऋतु का वल पाकर घमड में भरा हुआ तू अपने को भूल गया है, और मेढक तथा बगुलो की सगति में आनद के मारे फूला नहीं समाता। थोड़े समय बाद जब गर्मी का मौसम आएगा (और तुम्हारा सारा जल सूख जायगा) तब तुम्हारी वे लहरें देखेंगे (जो वरसात मे देखते हैं)।

तात्पर्य—थोड़े समय के लिए धन सपत्ति पाकर इतरानेवाले क्षुद्र व्यक्ति पर यह अन्योक्ति है। ऐसे लोग थोड़े से धन पर घमड में भर जाते हैं, और कुसगति में पडकर ऐश आराम मे अपनी सारी दौलत गॅवा बैठते है। जब तक दौलत पास में रहती है तब तक मौज करते हैं, पर उसके नष्ट होते ही उनकी सारी शान-शौकत मिट्टी मे मिल जाती है, और वे कौड़ी के मोल के भी नहीं रह जाते।

मूल—सर तो मे सरसे बसे भेकन हित बक बंस।
सारस हैं सारस न हैं तातें रसैं न हस॥
तातें रसै न हस तोहि तजि दूरि गए हैं।
तोको मानि मलीन नहीं मनलीन भए हैं॥
बरनै दीनदयाल बकन हटि तू बरजो मैं।
सरसै समुझि न हस कुसगति को सर तो मे॥ ४३॥

शब्दार्थ—सरसे=प्रेम पूर्वक। बसे=रहते हैं। भेकन हित=मेढकों के लिए, मेढकों को खाने के लिए। सारस=पक्षी विशेष। सारस=(सरसि भवा सारसा)=सर (तालाब) में होने वाली वस्तु, कमल। रसै=रमते हैं, प्रेम करते हैं। मनलीन=अनुरक्त। बकन हटि=बगुलों को मना करो। तू बरजो मैं=मैं तुझ को मना करता हूँ, रोकता हूँ। न सरसै=पास नहीं आते।

अन्वय=हे सर तो मे कुसगति को समुझि हस न सरसै।

भावार्थ—हे तालाब, मेढकों को खाने के लिये ये बगुले तुझसे प्रेम करते हैं। सारस पक्षी भी तुझमे बहुत रहते हैं। किन्तु कमलों का तुझ मे अभाव है, इसलिए हस तुझ को छोड़ कर दूर (मानसरोवर) चले गये हैं और तुझसे प्रेम नहीं करते। (बगुलों और सारसों के ससर्ग से) तुझको गन्दा समझ कर वे

तुझे नहीं चाहते। अतएव तू बगुलों को अपनेमे दूर कर, मै तुझे (बगुलो को स्थान देने से) रोकता हूँ। क्योंकि तुझमे कुसगति का विचार करके हस तेरे पास नहीं आते।

तात्पर्य—व्यसनो मे फँसे हुए किसी धनवान के प्रति यह उक्ति है। हे धनिक, तुमको व्यसनी जान कर अपनी भी लिप्सा पूरी करने के लिये स्वार्थी और खुशामदियो ने तुमको अपनी मुट्ठी में कर लिया है। तुम मे गुणग्राहकता एव विवेकशीलता का अभाव देख कर, और सबसे बढ़ कर तुमको कुसग मे फसा हुआ देख कर, ज्ञानी और विद्वान् लोग तुमसे दूर ही रहना पसन्द करते हैं, तुम्हारे पास तक नहीं फटकते। यदि तुम अपना भला चाहो और गुणवानों का सत्सग चाहो तो अपने दुर्व्यसनी तथा चापलूस मित्रो का साथ छोड़ दो।

(कवित्त)

मूल—अमल अनूप जल, मनिमै निसेनी जासु,
थल को बखान सु तो हुतो नर वर में।
मीन के विलास लहरीन के प्रकास जामें
लसी 'दीनद्याल, ऐसी प्रभा ना अपर में॥
चितै रह्यो चचरीक चारु कज कलिका को
हस सरद्रागम रमन गो अधर में।
सरमें लगे हैं अवसर में समुझि यह
सूकर विहार करे अहो तिहि सर में॥ ३४॥

शब्दार्थ—अमल=निर्मल, स्वच्छ। अनूप=जिस की उपमा न मिल सके, निरुपमेय। मनिमै=मणिमय। निसेनी (स॰नि श्रेणि)= सीढ़ी। बखान=(व्याख्यान) बड़ाई, प्रशसा। हुतो=था। नर-वर में=बड़े बड़े आदमियों मे। लसी=शोभा देती थी। प्रभा=

कान्ति, शोभा। अपर मे=दूसरे में। चितै रह्यो=देख रहा है, अपेक्षा करना है, आसरा देखता है। चचरीक=भौंरा। चारु= सुदर। कज (क=जल+ज=पैदा होने वाला)=कमल (योग रूढ)। सरदागम (शरद्+आगम)=शरद् ऋतु का आविर्भाव। रमन गो=रमण करने के लिए गया। अधर मे =आकाश मे। सरमै लगे हैं=शर्माने लगे हैं, लज्जित होते हैं। अवसर मे=इस मोके मे। सूकर=(शूकर) सुअर।

भावार्थ—(कोई ऐसा समय था कि) जिस सरोवर में अति-निर्मल स्वच्छ जल था, सीढियां रत्नजटित थीं, श्रेष्ठजन जिनकी प्रशसा करते थे, मछलिया विहार करती थीं, सुदर लहरें चलती थीं, और वैसी सुदर छटा दूसरे सरोवर मे न थी, अफसोस की बात है कि आज (समय बदल जाने से) उसी की यह दशा हो गई है कि सदर कमल-कलियो के लिये भौंरे प्रतीक्षा कर रहे हैं, इस आकाश मे उड गए हैं कि शरदागम (समय) पर पुन आवेंगे, और उसी सरोवर मे सुअर लोटते हैं, यह देख कर उसमे परि-चित जनों को लज्जा आ रही है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे उपकारी पुरुष के लिये है जो अब विगड गया है। पहले उसके विचार, भाव और कृत्य अच्छे थे, पर अब कुसग पाकर या धन की अधिकता से बुरे भावो और कृत्यों का शिकार हो चुका है।

(कमल)

मूल—सुनो अरविंद हे मलिंद विन सजे नाहिं
केलि मल कीटन की रावरे वितान मै।
जानैं कहा मद ये सुगध मकरद गुन
गावैं 'दीनदयाल' तव माधुरी जहान मै॥

तेऊ यह कला लखि भला नहिं कहैं अब
मूँदि लेहु मुख गिने जाहुगे मलान मे।
हेरि हंस ओर फेरि खोलियो भए तें भोर
कीजिए सुजान बात भली जो महान मे॥ ४५॥

शब्दार्थ—अरविन्द= कमल। मलिन्द=भौरा। सजै नाहि= शोभा नहीं देती। मलकीट=मैले मे पैदा होने वाले कीड़े। विलास =चदोवा, (यहाँ पर 'कमल की पखुड़ियो के फैलाव' से प्रयोजन है) मंद=नीच। मकरंद=पुष्परस। गुन गानै=गुणो का बखान। माधुरी=माधुर्य, सौन्दर्य। जहान (फा०)=संसार। कला= कृत्य। मलान (म्लान)=मैले। गिने जाहुगे मलान मे=नीचो मे तुम्हारी गिनती होगी। हेरि=देखकर। हंस ओर=सूर्य की ओर। फेरि=फिर। खोलियो = खोलना (विधि क्रिया)। भोर = प्रातःकाल। सुजान=चतुर। महान मे=बड़े लोगो मे (अच्छे लोगो मे)।

भावार्थ—हे कमल! हमारा कहना सुनो, आपके फैले हुए पत्तो पर भौंरो के सिवाय अन्य मलीन कीड़ो का खेल कूद अच्छा नहीं लगता। ये बुरे कीड़े तुम्हारे सुगंध और मकरंद के गुणो को क्या जानें। दीनदयाल कहते हैं, जो लोग तुम्हारी माधुरी का बखान संसार भर मे करते फिरते हैं, वे भी तुम्हारे इस काम को देख कर भला न कहेंगे। अतः अब तुम अपना मुख बंद करलो, नहीं तो तुम भी मलीन जनों में गिने जाओगे। सवेरा होने पर सूर्य को देख कर पुनः अपना मुख खोलना। हे सुजान! तुम्हें वही बात करनी चाहिए जो बड़े लोगो मे अच्छी समझी जाती है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो पहले अच्छा था पर अब अज्ञानवश कुसंग मे पड़ गया है।

कुडलिया

मूल—हारा है हे कज ! फँसि चचरीक तुव माहिं ।
याको नीके राखिये दुखित कीजिये नाहिं ॥
दुखित कीजिये नाहि दीजिये रस धरि आगे ।
एक रावरे हेत सबै इन सौरभ त्यागे ॥
बरनै दीनदयाल प्रेम को पैंडो न्यारो ।
बारिज बध्यो मलिंद दारु को बेधनि हारो ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—हारो है=खिन्न हो गया है। फँसि=फँसकर। नीके=अच्छे प्रकार। रस=मकरंद, फूल का रस। एक रावरे हेत=केवल आपके लिये। सौरभ=सुगंध। पैंडो (व्रज)=मार्ग, पथ। न्यारो=निराला, अनोखा। बारिज (वारि=जल+ज=पैदा होने वाला)=कमल। दारु=काष्ठ, लकड़ी। दारु को बेधनिहारो=लकड़ी तक को छेदने में समर्थ, (भौंरा लकड़ी को छेद देता है)।

भावार्थ—हे कमल, यह भौंरा तुममें फँस कर हैरान होगया है, अतः इसको दुःखित मत करो, अच्छे प्रकार इसकी खातिर करो, और अपना रस इसके आगे रख दो (अर्थात् इस को अपना रस लेने दो), क्योंकि इसने केवल तुम्हारे प्रेम के कारण अन्य सभी सुगंधित पदार्थों को छोड़ दिया है। वास्तव में प्रेम का पथ निराला है। जिस भ्रमर में लकड़ी छेदने तक का सामर्थ्य है वह कमल में बंध जाता है, (कहीं उसके प्रेमपात्र कमल को कष्ट न हो इस आशंका से वह कमल को छेद कर निकलता नहीं)।

तात्पर्य—किसी प्रेमपात्र के प्रति कवि का कथन है कि इस प्रेमी ने तुम्हारे प्रेम के कारण अपना सर्वस्व त्याग दिया है। यह तुम्हारा अनन्य प्रेमी है, तुम्हारे ही लिये इसने सब कुछ भुला कर अपने को कष्ट में डाला है। इस लिये तुम्हारे लिये भी यही उचित

है कि इसका चित्त मत दुखाओ, इसकी खातिर करो। इसके प्रति स्वयं भी प्रेम प्रदर्शित करो। देखो, प्रेम की रीति बड़ी विचित्र है। यदि यह चाहता तो स्वयं कष्ट से छुटकारा पा जाता, वह ऐसा कर सकता था। किन्तु अपने लिये स्वतंत्रता प्राप्त करने में कहीं मेरे प्रेमपात्र को कष्ट न हो इस विचार के कारण स्वयं विपत्ति झेलना इस को मंजूर है, पर तुम्हें दुःख देना स्वीकार नहीं।

मूल—दीने ही चोरत अहो! इन सम चोर न और।
इन समीर तें कंज! तुम सजग रहो या ठौर॥
सजग रहो या ठौर भौर रखिये रखवारे।
नातो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारे॥
बरनै दीनदयाल रहो हो मित्र अधीने।
भली करत हो रैन कपाट रहत हो दीने॥ ४७॥

शब्दार्थ—दीने ही=दिन में ही। समीर=वायु, (यहाँ वायु के झोंके)। सजग=सावधान, होशियार। ना तो=नहीं तो। परिमल=सुगंध। मित्र=सूर्य। रैन (सं० रजनि)=रात को। कपाट=(सं०) द्वार, किवाड़। कपाट देना (मुहावरा) = किवाड़ बंद करना।

भावार्थ—हे कमल, ये वायु के झोंके दिनदहाड़े (सब के देखते देखते) चोरी करते हैं, इनके समान (चालाक) चोर और कोई नहीं है, अतः इनसे सावधान रहो, और भौरों को इस जगह के रक्षक बनादो, नहीं तो ये तुम्हारी सब सुगंध लूट लेंगे। हे कमल, तुम रात को किवाड़ बंद किये रहते हो, और मित्र (सूर्य) के अधीन रहते हो, यह बहुत अच्छा करते हो।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो कभी कभी असावधानी कर जाता है।

कुंडलिया

मूल—हारो है है कंज ! फँसि चंचरीक तुव माहिं।
यासों नीके राखिये दुखित कीजिये नाहिं॥
दुखित कीजिये नाहिं दीजिये रस धरि आगे।
एक रावरे हेत सबै इन सौरभ त्यागे॥
बरनै दीनदयाल प्रेम को पैंडो न्यारो।
वारिज बंध्यो मलिंद दारु को वेधनि हारो॥ ४६॥

शब्दार्थ—हारो है=खिन्न हो गया है। फँसि=फँसकर। नीके=अच्छे प्रकार। रस=मकरंद, फूल का रस। एक रावरे हेत=केवल आपके लिये। सौरभ=सुगंध। पैंडो (ब्रज)=मार्ग, पथ। न्यारो=निराला, अनोखा। वारिज (वारि=जल+ज=पैदा होने वाला)=कमल। दारु=काष्ठ, लकड़ी। दारु को वेधनिहारो=लकड़ी तक को छेदने में समर्थ, (भौरा लकड़ी को छेद देता है)।

भावार्थ—हे कमल, यह भौरा तुममें फँस कर हैरान होगया है, अतः इसको दुःखित मत करो, अच्छे प्रकार इसकी खातिर करो, और अपना रस इसके आगे रख दो (अर्थात् इस को अपना रस लेने दो), क्योंकि इसने केवल तुम्हारे प्रेम के कारण अन्य सभी सुगंधित पदार्थों को छोड़ दिया है। वास्तव में प्रेम का पथ निराला है। जिस भ्रमर में लकड़ी छेदने तक का सामर्थ्य है वह कमल में बंध जाता है, (कहीं उसके प्रेमपात्र कमल को कष्ट न हो इस आशंका से वह कमल को छेद कर निकलता नहीं)।

तात्पर्य—किसी प्रेमपात्र के प्रति कवि का कथन है कि इस प्रेमी ने तुम्हारे प्रेम के कारण अपना सर्वस्व त्याग दिया है। यह तुम्हारा अनन्य प्रेमी है, तुम्हारे ही लिये इसने सब कुछ भुला कर अपने को कष्ट में डाला है। इस लिये तुम्हारे लिये भी यही उचित

तुम पछताते रह जाओगे। सुंदर पुष्पों से सुशोभित उपवनों में विहार करके तुच्छ पदार्थों का (निर्गंध फूलों का) सेवन कोई नहीं करता।

तात्पर्य—(बुद्धिपक्ष में) हे सखी, पहिले तुम योगी महात्माओं की संगति कर चुकी हो, अत अब इन मांसभक्षियों (दुर्जनों) की संगति करना अनुचित है। तुम सदा अज्ञान में लिप्त होकर इस प्रकार व्याकुलता से इधर उधर (सांसारिक विषयवासनाओं में) भटकती फिरती हो। देखो, यह सत्कर्म करने का समय बीता जारहा है, अभी जो कुछ करना हो करलो। गया हुआ समय फिर नहीं मिल सकता, अत समय बीतने पर पछताती रह जाओगी। एक बार देवतों की उपासना से मनोवांछित फल पाकर फिर भूत प्रेतों की पूजा कोई नहीं करता।

अलंकार—मुद्रा और श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

(नोट)—इसमें मुद्रालंकार के लिये ये शब्द लाये गये हैं—सेव, अतिमुक्त (माधवी), पलास, बेला, बर, जाती, गेन्द (गेंदा)।

मूल—होत उजागर बन बगर मधुप ! मलिन तव आस।
तजि माधवी सुप्रीति को विहरत पास पलास॥
विहरत पास पलास बास नहिं मोहत का में।
निरस कठोर छलीक छलन की लाली जामे॥
बरने दीनदयाल कहँ कवि जे मतिसागर।
यथा नाम अरु रूप तथा गुन होत उजागर॥ ४६॥

शब्दार्थ—उजागर=(सं० उज्जाग्रत) प्रकाशमान, प्रकट। मधुप =भ्रमर। माधवी=वासन्ती लता। बास=सुवास, सुगंध। मोहत कामें=किस पर मुग्ध होता है। निरस=रसहीन। छलीक= कपटी।

(मधुकर)

मूल—सेवन करि अतिमुक्त को अलि ! पलास मति सेव ।
भ्रमत सदा तम रूप ह्वै गहन विकल या भेव ॥
गहन विकल या भेव देख बेला वर जाती ।
गए न मिलिहै फेरि रहैगो पीटत छाती ॥
बरनै दीनदयाल सेइ कै सोभित देवन ।
कोऊ बहुरि मलीन भूत को करै न सेवन ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—अतिमुक्त=(१) मुक्तालता, मोतिया (पुष्प विशेष), (२)जीवन्मुक्त, सांसारिक वासनाओं से विरक्त। अलि=(१)भौंरा, (२)सखी। पलास=(१)ढाक का फूल, (२)(पल=मांस+अश= खाने वाले) मांसभक्षी। भ्रमत=घूमते हो, भटकते हो। तम रूप= (१) काले रूप वाला, श्याम रंग का, (२) तमोगुणमय, अज्ञान में लिप्त। गहन=(१) वन , (२) अत्यंत। या भेव=इस कारण से, इस प्रकार से। वर बेला=(१) सुंदर बेला का फूल, (२) श्रेष्ठ समय, अनुकूल समय। जाती=(१) जाई का फूल, (२) जारही है, बीत रही है। छाती पीटना (मुहावरा)=पछताना। देवन =(सं० (१) बगीचा, उपवन (२) देवतों को। भूत=(१) पदार्थ, (२) भूत प्रेतादि।

प्रकरण—इस का अर्थ श्लेष से भौंरे और भगवद्भक्त की बुद्धि दोनों पक्षों में घटता है।

भावार्थ—(भ्रमरपक्ष) हे भौंरे, मोतिया के फूल का रस लेकर अब निर्गंध ढाक के फूल का सेवन मत करो। तुम काला-रूप धारण कर इस प्रकार विकलता से सदा वन में घूमते रहते हो। देखो, कैसे सुंदर बेला और जाई के फूल खिले हुए हैं? इन का रस लेलो, फिर समय बीत जाने पर ये फूल नहीं मिलेंगे और

फूलो मे रहने पर भी तुम्हारी आशा पूरी नही हुई, और सुगध की खोज मे वन वन भटकते फिरते हो। हे षट्पद, तुम गगा के मीठे जल को छोड़ कर खारा जल पीना चाहते हो, ये तुम्हारे कैसे कर्म हैं। हाँ ठीक है, तुम्हारे पैर भी तो पशुओ से ड्यौढ़े है, (तुम पशुओ से भी अधिक मूर्ख हो, अत तुम्हारा ऐसी मूर्खता करना कुछ आश्चर्यप्रद नही है) इसी लिये तुम सेंमल मे रमण करते हो।

तात्पर्य—यह उक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो निज धर्मपत्नी को छोड़ किसी वेश्या पर आसक्त होता है।

मूल—एकै नाम न भूलि अलि ! इ तो कथन मदार।
वह औरै मदार है करनी जासु उदार॥
करनी जासु उदार देत अभिमत फल वे तो।
याने ठगे सुकादि कला करि हारे केतो॥
बरने दीनदयाल सुखद गुन उन्हे अनेकै।
यामैं फोकट नाम अडवर सुनियत एकै॥ ४१॥

शब्दार्थ—इ तो=यह तो। कथन=कहने मात्र को। मदार=(१) कल्पवृक्ष, (२) आक, मदार। अभिमत=अभीष्ट, मन इच्छित। वे=वह, (कल्पवृक्ष)। याने=इसने, आक ने। केतो= कितनी ही। कला=उपाय। फोकट (ठेठ हिन्दी)=व्यर्थ, निस्सार। अडम्बर=(आडबर) दिखोआपन।

भावार्थ—हे भौरे, केवल नाम की समता पर भूल मत जा। यह आक (मदार) वृक्ष तो केवल कहने ही भर को (नाममात्र को) मदार (कल्पवृक्ष) है। जो अपनी उदारता और मनवाञ्छित फल देने के लिये प्रसिद्ध है वह कल्पवृक्ष (मदार) दूसरा ही है। पर इस मदार (आक वृक्ष) ने शुकादि पक्षियो को ठगा है। वे अनेक उपाय करके हार मान गये पर इस का रस

भावार्थ—हे भौंरे, तू माधवी लता को छोड़ कर ढाक के पास विहार करता है, तेरी इस नीच आशा (प्रवृत्ति) की निंदा सर्वत्र वन उपवनों में प्रकट हो गई है। ये पलाश के फूल तो निर्गंध है, रस (मकरंद) हीन हैं, बड़े कठोर और रूखी हैं। इन की लाली केवल छलने के ही लिये है, तू किस पर मुग्ध होता है ? ठीक है, बुद्धिमान् कवियों ने कहा भी है कि जिसका जैसा नाम और रूप होता है वैसे ही उसमें गुण भी प्रकट होते हैं। तेरा नाम मधुप (शराब पीनेवाला) है, और रूप काला है, अत तेरी प्रवृत्ति भी नीच कर्मों की ओर हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

मूल—सेमर में भरमै कहा ह्याँ अलि कछू न बास।
कमल मालती माधवी सेइ न पूरी आस॥
सेइ न पूरी आस बास वन हेरत हारो।
सुरसरि बारि विहाय स्वाद चाहै जल खारो॥
बरनै दीनदयाल कहा खटपद ये करमैं।
हैं पग पसु तें ड्योढ़ रमै तातें सेमर मैं॥ ५०॥

शब्दार्थ—सेमर=सेंमल का फूल। भरमै=(भ्रमना) भटकता है। अलि=भौंरा। बास=सुगंध। सेइ=सेवा कर के। हेरत=खोजता हुआ। हारो=हार गया, थक गया, हैरान होगया। सुरसरि=गंगा। विहाय (सं० 'वि' उपसर्गपूर्वक पूर्वकालिक क्रिया का द्योतक 'य' प्रत्यय)=छोड़ कर। खटपद=(सं० षट्=छ+पद=पैर) भौंरा। करमैं=काम। पग=पैर। पसुतें ड्योढ़ पग हैं=पशुओं के चार पेर होते हैं, पर भौंरे के पैर छ होते हैं। (पशु मूर्ख माने जाते हैं, तुम्हारे पैर ही पशुओ से ड्योढे नहीं हैं पर मूर्खता मे भी तुम उनसे ड्योढे बढ़कर हो)।

भावार्थ—हे भौंरे, तू सेंमल के फूल में क्या भटकता है, यहाँ सुगंध कुछ भी नहीं है। कमल, मालती, माधवी आदि सुगंधित

फूलो मे रहने पर भी तुम्हारी आशा पूरी नहीं हुई, और सुगंध की खोज मे वन वन भटकते फिरते हो। हे पट्पद, तुम गंगा के मीठे जल को छोड कर खारा जल पीना चाहते हो, ये तुम्हारे कैसे कर्म हैं। हाँ ठीक है, तुम्हारे पैर भी तो पशुओ से ड्योढे हैं, (तुम पशुओ से भी अधिक मूर्ख हो, अत तुम्हारा ऐसी मूर्खता करना कुछ आश्चर्यप्रद नहीं है) इसी लिये तुम सेमल में रमण करते हो।

तात्पर्य—यह उक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो निज धर्मपत्नी को छोड़ किसी वेश्या पर आसक्त होता है।

मूल—एकै नाम न भूलि अलि ! इ तो कथन मदार।
वह औरै मदार है करनी जासु उदार॥
करनी जासु उदार देत अभिमत फल वे तो।
याने ठगे सुकादि कला करि हारे केतो॥
वरनै दीनदयाल सुखद गुन उन्हें अनेकै।
यामें फोकट नाम अडंबर सुनियत एकै॥ ५१॥

शब्दार्थ—इ तो=यह तो। कथन=कहने मात्र को। मदार=(१) कल्पवृक्ष, (२) आक, मदार। अभिमत=अभीष्ट, मन इच्छित। वे=वह, (कल्पवृक्ष)। याने=इसने, आक ने। केतो=कितनी ही। कला=उपाय। फोकट (ठेठ हिन्दी)=व्यर्थ, निस्सार। अडम्बर=(आडंबर) दिखाआपन।

भावार्थ—हे भौरे, केवल नाम की समता पर भूल मत जा। यह आक (मदार) वृक्ष तो केवल कहने ही भर को (नाममात्र को) मदार (कल्पवृक्ष) है। जो अपनी उदारता और मनवाञ्छित फल देने के लिये प्रसिद्ध है वह कल्पवृक्ष (मदार) दूसरा ही है। पर इस मदार (आक वृक्ष) ने शुकादि पक्षियों को ठगा है। वे अनेक उपाय करके हार मान गये पर इस का रस

न ले सके। उसमें (कल्पवृक्ष में) अनेक शुभ गुण हैं, पर इस (आक) में गुणों के बदले निस्सार रेशे ही रेशे (गुण) हैं, और (इस की लाली) केवल दिखौआ है। (अत: इस नामसाम्य पर मत भूल)।

तात्पर्य – नामसाम्य से धोखे में पड़नेवाले व्यक्ति पर यह उक्ति घटित होती है।

मूल—सोई विपिन विलोकिये हे मधुकर ! इहि बेर।
हा ! छवि दही निदाघ अब रही राख की ढेर॥
रही राख की ढेर जहाँ देखी वह सोभा।
लता सुमनमय देरि सु-मन तेरो जहँ लोभा॥
बरने दीनदयाल अहो दैवीगति जोई।
वहै भँवर तू भूलि भँवे न, विपिन यह सोई॥५२॥

शब्दार्थ—इहि बेर=इस समय। निदाघ=(स०) ग्रीष्मऋतु। दैवीगति=भाग्य का विधान, समय का फेर। जोई=देखो। भँवै=(भ्रमे) घूम, भटक।

भावार्थ—हे भ्रमर, देखो, यह वही वन है जहाँ (वसंत में) आनंद किये थे, परंतु ग्रीष्म ने उसकी छवि को जला डाला, अब तो केवल राख का ढेर रह गया है। पर यह है वही वन जहाँ तुमने वसंत ऋतु में वह अपूर्व शोभा देखी थी, जिसको लताओं और पुष्पों से सुशोभित देख कर तुम मुग्ध होगये थे। हे भौंरे, विधाता का विधान बड़ा विचित्र है, इस बात को समझ कर तुम भूल कर भी इधर उधर मत भटकना। तुम भी वही भँवर हो, और यह वन भी वही है। (एक बार फिर इस वन के दिन फिरेंगे फिर तुम पहिले की तरह मौज करना)।

तात्पर्य—(किसी गुणग्राही धनिक पर विपत्ति पड़ने से इधर उधर भटकनेवाले किसी निराश गुणवान् को उपदेश दिया गया

है।) हे गुणवान, यद्यपि दैवदुर्विपाक से इस समय इस धनिक पर विपत्ति पड़ रही है, और इसके पास पहिले का सा ऐश्वर्य नहीं रहा, पर इस की गुणग्राहकता में कोई और कसर नहीं आई है। अतएव धैर्यधारण करो। एक दिन फिर इस का भाग्य पलटेगा। फिर तुम वही गुणी हो (जिस की यह कदर करता था) और यह वही तुम्हारा उपकारी गुणग्राही है। इसलिये निराश होकर इधर उधर मत भटको।

मूल—भौंरे ! भूलि न बे-भरम लखि इक सोभित भेस।
कढ़िगो सौरभ सुमन तें रही लालिमा सेस॥
रही लालिमा सेस कहूँ मकरन्द न यामें।
पौन पराग उड़ाय गयो कछु मोहत कामें॥
बरनै दीनदयाल साँझ ढिग आई बौरे।
चले विहग बसेर, कहा अब भूले भौंरे॥ ४३॥

शब्दार्थ—बे-भरम = निश्चित। इक = केवल। कढ़िगो = निकल गया है। सौरभ = (स०) सुगंध। सेस (शेष) = बाकी। पौन = (पवन) हवा। मकरन्द = पुष्परस। पराग = पुष्परज। ढिग = पास। बसेर = डेरा, घोसला।

भावार्थ—हे भौंरे, केवल इन फूलों के सुंदर सुंदर लाल रंग को ही देख कर निश्चित होकर मत भूल जा। इन फूलों की सब सुगंध नष्ट हो गई है, केवल लालिमा भर शेष रह गई है। मकरन्द (रस) का तो इन में नाम नहीं है, और पराग भी वायु से उड़ गया है, तू किस पर मुग्ध हो रहा है। हे भौंरे, सन्ध्या काल आगया है, पक्षी सब अपने अपने घोसलों को चल चुके है, तू अब भी क्या भूला हुआ है। (थोड़ी देर में फूल मुकुलित हो जायगा तो तू इस में ही फँस जायगा, इसलिये अब तो इस का रस लेना छोड़ दे)

तात्पर्य—यह उक्ति ऊपरी बनाव चुनाव पर आसक्त किसी व्यक्ति पर घटित हो सकती है।

मूल—आई निसि अलि ! कमल तें क्यों नहि होत उदास।
नहि ह्वै है छन एक मे सुखद अंत की वास॥
सुखद अंत को वास नहीं, बरु बंधन पैहै।
पैहै कुंजर जबै सखाजुत तो को खैहै॥
बरनै दीनदयाल भलो बहु लोभ न भाई।
तजि के रस की आस चलो अब तो निसि आई॥५४॥

शब्दार्थ—उदास=विरक्त। वास=सुवास, सुगंधि। वरु=वल्कि। पैहै=पायेगा। ऐहै—आयेगा। कुंजर=हाथी। रस=(१) मकरंद (२) विषयवासना-जन्य आनंद।

भावार्थ—हे भौंरे, अब तो रात आ चली है (कमल मुरझाना ही चाहता है), तू कमल से विरक्त क्यों नहीं होता। क्षण भर में ही तुमको मालूम पड़ेगा कि अन्त समय तक इस फूल की सुगंध लेने का परिणाम सुखद न होगा। (इस लिये अभी इसका रस लेना छोड़ दो) नहीं तो कमल के बंद होजाने पर तुम भी इसीमें फँस जाओगे और जब हाथी आयेगा तो तुम्हारे मित्र (कमल) के साथ ही तुमको भी खा जायगा। हे भाई, बहुत लालच अच्छा नहीं होता। (तुम दिन भर खूब रसपान कर चुके हो) अब तो रस की आशा छोड़ कर घर चले जाओ, क्योंकि रात हो चली है।

तात्पर्य—मरण पर्यन्त विषयवासना में डूबेहुए व्यक्ति के प्रति यह उक्ति है। हे भाई, जीवन भर खूब विषयानन्द लूट चुके हो, अब मौत निकट आगई है, इसलिये अब तो विरक्त होकर परमात्मा का भजन करो। देखो, अंत तक विषय भोग में लिप्त रहने

का फल अच्छा नहीं होगा। जब काल आकर तुमको खा जायगा तब भी (मरने पर भी) तुम्हारी आत्मा का छुटकारा नहीं होगा, क्योंकि वह इन्हीं सांसारिक वासनाओं में फँसी रहेगी। बहुत लोभ अच्छा नहीं होता। इसलिये अपने मन को वासनाओं से विरक्त करके अब कुछ परलोक का भी तो सामान करलो।

मूल—लै पल एक सुगंध अलि ! अपनो मानि न भूल।
लैहै साँझ सबेर में वह माली यह फूल॥
वह माली यह फूल किते दिन लोढ़त आयो।
फूले फूले लेत कली सब सोर मचायो॥
बरनै दीनदयाल लाल लखि फँसै न है छल।
लगी बाग में आग, भाग रे गधहि लै पल॥ ४४॥

शब्दार्थ—पल = क्षण। किते दिन लोढ़त आयो = न जाने कितने दिनों से तोड़ता आया है। लोढ़ना = (सं० लु + धातु से) काटना या तोड़ना।

भावार्थ—हे भौंरे, थोड़े समय तक इसकी सुगंध लेकर उड़ जा। इसको अपना समझ कर भूल मत। सन्ध्या सबेरे कभी न कभी इस बाग का माली इस फूल को तोड़ लेगा। न जाने वह माली कब से फूले हुए फूलों को तोड़ता आया है। कलियाँ मन शोर मचाती हैं कि एक दिन हमारी भी बारी आयेगी। इसलिए, हे भौंरे, तू क्षण भर ही इसकी सुगंध लेकर भग जा, लाल रंग देख कर भूल मत, यह सब छल है, इस वन में आग लगी है।

तात्पर्य—विषयविमुग्ध मनुष्य को उपदेश है कि सांसारिक सुखों में अधिक मत फँसो, संसार में मृत्यु निश्चित है।

मूल—बौरे ! लखि के लालिमा हे भौंरे ! मति भूल।
हैं छलमय, पल के, असद ये कागद के फूल॥

ये कागद के फूल सुगध मरद न यामैं ।
मृदु माधुरी पराग नहीं अनुरागत कामैं ॥
बरनै दीनदयाल चेत चित मे इहि ठौरे ।
लुटि जैहै यह बाग छटा छन की है, बौरे ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—बौरे = (स० वातुल) बावले । लालिमा = लाली, लाल रग । पल के = क्षण भर के, क्षणभगुर, अस्थायी । असद = (अ + सत्) असत्य, झूठे, निस्सार । कागद के फूल = कागज की फुलवारियाँ इत्यादि जो ब्याह शादियो और उत्सवो मे लुटाई जाती हैं । मरंद = मकरद । मृदु = कोमलता । माधुरी = मिठास, भीनी सुगध । अनुरागत = प्रेम करते हो । कामैं = किसमें । बाग = नकली कागज की फुलवारियाँ । छटा = शोभा । छन = क्षण ।

भावार्थ— हे बावले भौरे, ये सब कागज के फूल नकली हैं, क्षणभगुर हैं, और असत्य (कृत्रिम) हैं, इनकी ललाई को देख कर भूलो मत । इनमे न तो सुगध और मकरद ही है न कोमलता, और न भीनी भीनी सुगध । तू किन पर मुग्ध होता है । हे बावले, यह शोभा थोड़ी देर के लिए है, (उत्सव समाप्त होते ही) यह बाग लुट जायगा, इसलिए अभी चित्त में सावधान हो जा ।

तात्पर्य—कोई व्यक्ति सांसारिक विषयवासनाओ मे फँसे हुए अपने चित्त को (अथवा किसी दूसरे व्यक्ति को) चेतावनी देता है । अरे मूढ मन, तू सासारिक विषयभोग मे क्यो लिप्त होता है ? ये सब पदार्थ, जिनके बाहरी-रूप सौंदर्य पर तू मुग्ध हो रहा है , मायामय हैं, क्षणभगुर हैं, मिथ्या हैं । इन मे न तो वास्तविक सौंदर्य है, न सच्चा आनन्द । तू किन पर आसक्त हो रहा है ? अरे मन, अब भी सँभल जा, इन कृत्रिम पदार्थों से विरक्त हो सच्चिदानद के भजन मे लग कर वास्तविक और सच्चे

"ब्रह्मानद" का अनुभव कर। यह ससार क्षण भर मे नष्ट हो जायगा, इस की शोभा पर भूलना मूर्खता है।

मूल—देखत ना ग्रीषम विषम इहि गुलाब की ओरि।
सुनो अली! यह नहि भली ह्वैहैं कली वहोरि॥
ह्वैहैं कली वहोरि तवै तुम पायन परिहो।
चायन को करि काह बकायन में सिर मरिहो॥
बरनै दीनदयाल रहो हो पीतम पेखत।
यहै मीत की रीति एक से सुख दुख देखत॥ ५७॥

शब्दार्थ—विषम = भयकर। चायन = चाह, प्रेम। बकायन = एक वृक्ष जिसकी पत्ती का स्वाद कड़ुवा होता है। पीतम = (प्रियतम) सब से प्यारा। पेखना = (प्रेक्षण) देखना। मीत = (स० मित्र, प्रा० मित्त) सखा।

भावार्थ—हे भौंरे, इस भयकर गर्मी में तुम इस गुलाब के पेड़ की ओर (जिस मे वसत भर आनद किया करते थे) देखते तक नही; यह अच्छी बात नही है। सुनो, फिर भी इसके दिन फिरेंगे और जब इसमें कलिया लगेंगी, तब तुम इस के पैरो पड़ोगे (इसकी खुशामद करोगे)। बहुत चाह करके क्या बकायन मे अपना मूड़ मारोगे। इसलिए, हे भौंरे, अपने प्रिय गुलाब की देख भाल करते रहो, क्योकि मित्र की रीति यही है कि उनका व्यवहार (अपने मित्र के प्रति) दुःख सुख मे एक सा होता है।

तात्पर्य—मित्र चाहे दुःख मे हो अथवा सुख मे हर हालत में मित्रता का पूरा पूरा निर्वाह करना ही सन्मित्र का कर्त्तव्य है। केवल मित्र के सुख मे सम्मिलित होकर उसके आनद को द्विगुणित करना ही अच्छे मित्र का काम नहीं है। जिस मित्र के साथ उसकी सम्पन्न अवस्था मे मौज की थीं, उसको विपत्ति

के समय छोड़ देना भलमनसाहत नहीं है। चाहिए तो यह कि उसकी विपत्ति में भाग लेकर उसके दुःख को हलका कर दे। किन्तु स्वार्थी मित्रों की रीति इससे भिन्न होती है। वे सपत्ति के समय अपना स्वार्थ साध लेते हैं और ज्योंही उनपर विपत्ति आती है, उनका साथ छोड़ कर चल देते हैं। दैवात् यदि कभी उनकी दशा फिर पलट जाय तो स्वार्थी मित्र आ आकर ,खुशामद करने लगते हैं।

मूल—भौंरा अंत बसंत के है गुलाब इहि रागि।
फिरि मिलाप अति कठिन है या बन लगे दवागि॥
या बन लगे दवागि नहीं यह फूल लहैगो॥
ठौरहिं ठौर भ्रमात, बड़ो दुख तात सहैगो॥
बरनै दीनदयाल किते दिन फिरिहै दौरा।
पछितैहै कर दिए गए रितु पीछे भौंरा॥ ५८॥

शब्दार्थ—इहि = इससे। रागि = अनुराग करले, प्रेम करले। भ्रमात = भटकता हुआ। किते = कितने। दौरा = दौड़ता हुआ। दौरा फिरना = (मुहावरा) भटकना। कर दिए = हाथ पर हाथ दिये (पश्चात्ताप की मुद्रासे) पछताते हुए।

भावार्थ—हे भौंरे, यह गुलाब का फूल वसन्त के अन्त समय का है, इससे जी खोलकर प्रेम करले। (ग्रीष्म ऋतु में) इस वन में दावाग्नि लगने पर (जब सब फूल भस्म होजायँगे तो) तुम्हारा मिलना अत्यन्त कठिन हो जायगा। हे प्यारे, फिर तुम यह फूल नहीं पा सकोगे, और इसके लिए इधर उधर भटकते हुए तुम्हें बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। हे भौंरे कब तक इधर उधर दौड़ते फिरोगे, (न जाने कितने दिनों में फिर यह अवसर हाथ लगे, इसलिये जब तक वसन्त वर्तमान है तब तक फूलों का यथेष्ट उपभोग कर लो)

नहीं तो ऋतु (बसंत) के बीत जाने पर हाथ पर हाथ दिये पछताओगे।

तात्पर्य—सुअवसर बारबार नहीं मिल सकता। किसी कार्य-साधन के लिये कोई विशेष समय ही उपयुक्त होता है। यदि उस समय का सदुपयोग कर लिया जाय तो ठीक ही है, न जाने फिर कब वैसा सुअवसर हाथ आवे। अवसर पर चूक जाने से बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, पर कार्य सिद्ध होने की तब भी सभावना नहीं रहती है। तब सिवाय पछताने के और हो ही क्या सकता है। साराश यह कि उचित समय पर कार्य साधन कर लेना ही श्रेयस्कर है।

मूल—तौ लौं अलि! तू विहरि लै जौ लौं मित्र प्रकास।
पीछे बाँधो जायगो रजनी नीरज पास॥
रजनी नीरज पास बधे फिरि स्वाँस न पैहै।
यह तो विधि को तात, कला इत नाहि चलै है॥
बरनै दीनदयाल सुमन सेये कइ सौ लौं।
बुड्यो कोकनद नहीं, रही चतुराई तौ लौं॥ ५६॥

शब्दार्थ—तौ लौ=तब तक। जौ लौ=जब तक। मित्र=(१) सुहृद् (२) सूर्य। रजनी=रात्रि। यह तो विधि को तात=यह कमल तो विधाता (ब्रह्मा) का भी बाप है (ब्रह्मा कमल से पैदा हुए हैं)। कला=उपाय। सुमन=फूल। सुमन सेयो कइ सौ लौं= कई सौ फूलों का तुमने रस लिया है। बुड्यो=डूबा, (फँसा)। कोकनद=कमल।

भावार्थ—हे भौरे, जब तक सूर्य का प्रकाश है (और कमल खिला हुआ है) तब तक तू स्वच्छंद विहार कर ले, पीछे (सूर्यास्त होने पर) रात्रि को (जब कमल सकुचित हो जायगा) तू कमल

मे वन्द हो जायगा, फिर तुझे सांस लेना भी कठिन होजायगा। हे प्यारे, यह कमल तो ब्रह्मा का वाप है, यहाँ तेरा एक भी उपाय काम न आएगा। यह किसी ऐरे गैरे की करतूत नहीं है। ब्रह्मा का लेख तक जब अमिट है तब उसके वाप से पार पाना साधारण नहीं है। (अब बस कर) आजतक न जाने तू कितने फूलों का रस ले चुका है। अब बुद्धिमानी तो इसी मे है कि जब तक तू कमल मे डूबता नहीं (बंद नहीं होता) तभीतक यथेष्ट विहार करके उडजा।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति द्वारा सांसारिक विषय वासनाओं मे फँसे हुए मनुष्य को चेतावनी दीगई है। जब तक शरीर मे वल है, युवावस्था वर्तमान है, तभी तक जो कुछ भलाई करना हो करलो, फिर क्या कर सकोगे।

मूल—श्रीहित स्याम! बने छली, भली पीत छवि गात।
अली! कला निसि नहिं चली गह्यो वली विधि-तात॥
गह्यो वली विधि तात वात यह जात रही है।
जो जन औरहि छलै निदान छलात वही है॥
वरनै दीनदयाल मित्र विन जैहौ अब कित।
तव तो रचे प्रपंच रूप करि कपटी श्रीहित॥ ६०॥

सूचना—यह कुंडलिया श्लेष से वामन और भौरा दोनो पर घटित होती है।

शब्दार्थ—श्री=(१) राज्यश्री, (२) मकरंद। स्याम=(१) कृष्ण अर्थात् वामन जी, (२) भौरा। विधि-तात=(१) ब्रह्मा का वाप (कमल), (२) कानून वनाने वाला (राजा वलि)। कला= युक्ति। निसि=रात्रि मे (रात्रि मे भौरा कमल मे वंद हो जाता है और वामन जी को रात मे राजा वलि के शयनागार का पहरा देना पडता है)। मित्र=(१) सहायक (२) सूर्य।

भावार्थ—हे भौंरे ! देखो राज्यश्री लूटने के लिये भगवान् ने छल से वामन रूप धरा, पीताम्बर पहन कर सुंदर छवि बनाई, (वैसा ही तुम भी करते हो) परंतु याद रखो रात्रि को उनकी कोई युक्ति न चली। कानून बनानेवाले राजा बलि ने उन्हें पकड़ ही लिया (इसी प्रकार कमल तुम्हें पकड़ लेगा)। जब राजा बलि ने उन्हें वचनबद्ध करलिया तब उनकी वह छल-लीला जाती रही। (इसी प्रकार जब तुम कमल में बंद होजाओगे तब तुम्हारी चंचलता भूल जायगी) क्योंकि जो व्यक्ति औरों को छलना चाहता है, अंत में वह स्वयं ही ठगाया जाता है। दीनदयाल कवि कहता है कि अब बिना मित्र की सहायता के (बिना सूर्योदय हुए) तुम कहाँ जा सकते हो। तब तो राज्यश्री (पुष्पश्री—मकरंद) के लिये कपट रूप धरकर छल किया (अब उसका फल भोगो)।

तात्पर्य—किसी छली जन के प्रति उपदेश है कि छल तो ईश्वर तक का नहीं चलता, तुम्हारी क्या बिसात है, अत छल मत करो।

(हंस)

मूल—कीजे गमन सुमानसर यह दुखदायक ताल।
हंस-बंस अवतंस हौ मौन गहौ इहि काल॥
मौन गहौ इहि काल काक बक खल या ठावें।
अति कठोर बरजोर सोर चहुँओर मचावें॥
बरनै दीनदयाल इन्हैं तजि सुख सो जीजे।
सठ संगति अतिभीति भूलि तहँ गमन न कीजे॥ ६१॥

शब्दार्थ—सु मानसर=मानसरोवर झील को ('सु' का प्रयोग व्यर्थ है)। अवतंस (सं०)=शिरोभूषण, शिरमौर। बंस अवतंस = कुल में श्रेष्ठ। मौन गहौ=चुप्पी साध लो। इहि=इस। ठावें (स्थान)=जगह। बरजोर=अत्यंत। सोर (शोर)=कोलाहल। जीजे=जीओ। सठ = (शठ) कुटिल हृदय। भीति=भय, डर।

भावार्थ—हे हंस, तुम अपने कुल के शिरमौर हो, अत मान-सरोवर को ही चले जाओ। यह तालाब दु खदायी है (यहाँ संगति अच्छी न होने से तुम्हारा रहना ठीक नहीं)। यहाँ तो कौवे, बगुले आदि दुर्जनो का निवास है, और ये लोग चारो ओर अत्यंत कोलाहल मचाते है, जो अति कर्णकटु है, इसलिये इस समय तुम्हारा चुप रहना ही अच्छा है। (क्योकि यहाँ तुम्हारा कहना कोई सुनेगा नहा) हे हस, दुर्जनो की सगति महा भयकर होती है, यहाँ भूल कर भी मत आओ। इन दुष्टो (काक बकादि) को छोड कर सुख पूर्वक जीओ (रहो)।

तात्पर्य—कुसगति बडी भयकर होती है। इसका विष सज्जन पर भी असर किये बिना नहीं रहता। इसलिये विवेकी पुरुष को दुर्जनो की सगति से सदा दूर रहना हो श्रेयस्कर है। सज्जन यदि चाहे कि हम दुर्जनो को उपदेश देकर सुधार दें, तो यह भी बड़ा कठिन काम है, क्योकि दुर्जनो की बस्ती में एक सज्जन को कोई पूछता नहीं, फिर उसके उपदेश को सुने कौन ? दुर्जनो की सभा में सज्जन का चुप रहना ही अच्छा है।

मूल—मानसचारी हस करि गग तरग विलास ।
सूकर क्रीडा-सर विषै अब अभाग्यवस वास ॥
अब अभाग्यवस बास हास द्विज करैं चहूँ दिस ।
हा ! किमि धारै धीर वीर या पीर कहैं किस ॥
बरनै दीनदयाल अहो विधि गति बलिहारी ।
कीच बीच फँसि रह्यो हस यह मानसचारी ॥ ६२॥

शब्दार्थ—मानस चारी = मानसरोवर मे विचरण करने वाला। सूकर-क्रीडा सर = सुअरो के खेल करने का तालाब। विषे = (विषये) मे। हास = (हास्य) हँसी। द्विज = पक्षी।

किस=कैसे या किस से। विधि=विधाता, भाग्य। पीर=(पीड़ा) दुख।

भावार्थ—मानसरोवर मे निवास करनेवाला यह हस जो गगा की लहरों मे केलि करता था, आज दुर्भाग्य से सुअरो के खेलवाले (गदे) तालाब मे आ बसा है। चारो ओर से पक्षी उसकी हँसी कर रहे हैं। (हस सोचता है कि) "हे भैया, मै अपनी व्यथा किस से कहूँ, कैसे धैर्य धारण करूँ"। अहा, यह मानसरोवर निवासी हस आज कीचड़ मे फँसा हुआ है! बलिहारी है इस भाग्य (विधाता) की!

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे विवेकी पुरुष पर घटित होती है जो अभाग्यवश कुठौर मे बस गया है।

मूल—नाहीं मानस हस यह नहिं मुकुतन की रासि।
यह तो सबुक मलिन सर करटन की मिरियासि॥
करटन की मिरियासि रहैं याको सठ घेरे।
तू मति भूले धीर जाहु याके नहि नेरे॥
बरनै दीनदयाल चलो निर्जर सर पाहीं।
जहाँ जलज की खानि सदा सुख है दुख नाहीं॥ ६३॥

शब्दार्थ—मानस = मानसरोवर। रासि=(राशि) ढेर। सबुक =घोंघा। करट=(स०) कौवा। मिरियासि=(अरबी मीरास) बपौती। नेरे=(स०निकट, प्रा० निअर) नजदीक। निर्जर =देवता। निर्जरसर =मानसरोवर। पाहीं=(स०पार्श्व) पास। खानि =अधिकता। जलज =मोती।

भावार्थ—हे हस, न तो यह मानसरोवर है (जहाँ तुम रहते थे), न यहाँ मोतियों का ढेर ही है (जिन्हें तुम चुगते थे)। यह तो घोंघों से भराहुआ गदा तालाब है, जहाँ परपरा से कौवे रहते

चले आए है। हे धीर, तुम भूल कर भी इस तालाव के निकट मत जाना, कौवे आदि शठ इस को सदा घेरे रहते हैं। अच्छा तो यही है कि तुम मानसरोवर को चले जाओ जहाँ बहुत से कमल और मोती हैं (तुम्हारे खाने की कमी नहीं है), और जहाँ दु ख का नाम भी नहीं, सुख ही सुख है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति जीवात्मा पर घटित होती है। कोई व्यक्ति अपने मन से कहता है कि यह ससार दु खमय है, विषय वासनाओ से भरा है, इसलिए इस ससार से निर्लिप्त रहो, भूल कर भी इन विषयो मे मत फँसो। अपने मन को उस सच्चिदानद परमात्मा के ध्यान मे लगाओ जहाँ आनद ही आनद है, दु ख, क्लेश आदि का नाम भी नहीं। (यह किसी कुठोर बसे हुए विवेकी पुरुष पर भी घटित होती है)

मूल—हितकारी मानस बिना नहीं हस चित चैन।
छिन छिन व्याकुल बिरह बस सोचत है दिन रैन॥
सोचत है दिन रैन बैन नीके नहि आवत।
काक बलाकन सग साक तजि समै बितावत॥
बरनै दीनदयाल मरालहि सकट भारी।
मानस और न चहै बिना मानस हितकारी ॥ ६४॥

शब्दार्थ—मानस=(१) मन, (२) मान सरोवर। चैन=(स० शयन) आनद । छिन छिन=(क्षण क्षण) सदा। रैन = (स० रजनि) रात। बैन=(स० वचन)। नीके=अच्छी तरह से, स्पष्ट। बलाक=बगुला। साक=साख, पति, मर्यादा। समै=(स० समय)।

अन्वय—हितकारी मानस बिना मानस और न चहै।

भावार्थ—(कोई हस समय के फेर से मानसरोवर से भटककर किसी तालाव में आ बैठा है।) अपने हितकारी मानसरोवर के बिना

हंस का चित्त उदास है। उसके विरह में वह सदा व्याकुल रहता है, और रात दिन उसीके सोच में रहता है। शोक के कारण उसका कंठ अवरुद्ध हो गया है, अच्छे प्रकार मुख से वचन नहीं निकलते, उसको अपनी मर्यादा, अपना स्वाभिमान सब कुछ त्याग कर कौओं और बगुलों के बीच में समय बिताना पड़ रहा है। बेचारा हंस इस समय बड़ी विपत्ति में है। उसके मन में उसके लिये सब प्रकार से लाभप्रद मानसरोवर के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं है।

तात्पर्य—जब किसी विवेकी पुरुष को दैववशात् अपने सन्मित्रों और हितकारियों की संगति छोड़ कर दुष्टों और पाखंडियों के पड़ोस में कालयापन करना पड़ता है तो उसकी व्याकुलता और विपत्ति की सीमा नहीं रहजाती। समय के फेर से उसे अपनी मान मर्यादा का ख्याल भुला कर दुर्जनों की संगति में दिन काटने ही पड़ते हैं पर उसका जीवन निरानंद हो जाता है और उसे बारबार अपने हितकारी सुहृदों की सुध आती है।

(चक्रवाकी)

मूल—चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहि रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताके॥
बरनै दीनदयाल भाग्य बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥५४॥

शब्दार्थ—विषै=(सं० विषये) में, (अधिकरण कारक का चिह्न।) एकरस=एक समान, सदा। संदोह=(सं०) समूह। कोह=(सं०) क्रोध। अंबोह=(फा०) समूह।

भावार्थ—(चकवा चकई का रात को वियोग हो जाता है—ऐसा कवियों ने वर्णन किया है।) हे चकई, तू उस तालाब को चल जहाँ वियोग की रात्रि है ही नहीं, सदा दिन ही रहता है। वहाँ (मानसरोवर मे) मित्रों (हंसों) का समूह रहता है, जिनका हृदय शुद्ध और शांत होता है, क्रोध और द्रोह के लिये तो उनके मन में स्थान ही नहीं। उनको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, वे सदा नाना प्रकार के सुखभोग करते है। हे चकई, वहाँ नित्य अपने प्रिय से मिलाप रहता है (कभी विछोह नहीं होता)। इस लिए तू उसी तालाब को चल, वहाँ जाना बड़े सौभाग्य से होता है।

तात्पर्य—(कोई व्यक्ति अपनी बुद्धिरूपी नायिका को संबोधन करके कहता है।) हे बुद्धि, तू सच्चिदानंद परमात्मा के भजन में लीन होजा। परमात्मा के आश्रय मे अज्ञान रूपी अंधकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि का नाम भी नही है, प्रत्युत सदा ज्ञान का प्रकाश फैला रहता है, ज्ञानी जनो का साथ रहता है। वहाँ कभी प्रिय (परमेश्वर) का वियोग नही होता, सदा परमानंद ही परमानंद है। पर परमात्मा मे अपनी बुद्धि को लगाना किसी विरले ही भाग्यवान का काम है।

नोट—यह सच्चा रहस्यवाद है। छायावादी कवि इससे छायावाद का ढंग समझें तो अच्छा हो।

(बक)

मूल—चाली हंसन की चलै चरन चोंच करि लाल।
लखि परिहै बक! तव कला झख मारत ततकाल॥
झख मारत ततकाल ध्यान मुनिवर सो धारत।
निहरत परन फुलाय नहीं खज अखज विचारत॥

वरनै दीनदयाल बैठि हंसन की आली।
मन्द मन्द पग देत अहो यह छल की चाली ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—कला = धूर्तता, पाखंड । झख = (सं० झष) मछली। ततकाल = उसी समय, तत्क्षण। खज अखज = (खाद्य अखाद्य) भक्ष्य अभक्ष्य। आली = पंक्ति।

भावार्थ—हे बगुले, तू अपने चरण और चोंच को लाल कर हंसों की सी मंद मंद चाल चलता है। पर जिस समय तू मुनियों की तरह ध्यान लगाए मछलियाँ मारेगा उस समय तेरी पोल खुल जायगी। अहो! जरा इस धूर्त बगले का पाखंड तो देखो, यह भक्ष्याभक्ष्य का तो कुछ भी विचार नहीं करता (इसे क्या खाना है क्या नहीं इस बात को नहीं सोचता), पर पंख फुलाकर घमंड में फूल कर हंसों के साथ ही विहार करता है, उन्हीं की पाँति में बैठता है, और उन्हीं की भाँति मंद मंद गति से चलता है। (यह सब छल की चाल है—बनावटी पाखंड है)

तात्पर्य—पाखंडी लोग दूसरों को धोखा देने के लिए सज्जनों और साधुओं का सा वेष धारण करते हैं। पर उनके दुष्कर्मों से, दुराचरण से उनका भंडाफोड़ हो ही जाता है। क्योंकि वे बाहरी रहन सहन तो साधुओं की सी बना लेते हैं पर उनके गुणों का अनुकरण नहीं करपाते हैं। सारांश यह कि पाखंडी अपने को छिपा नहीं सकता, उसके बुरे आचरण से उसकी पोल स्वयं खुल जाती है।

(मंडूक)

मूल—दादुर! काकोदर दसन परे मसन मति घ्याउ।
कहा लहैगो स्वाद को, एक स्वास की आउ ॥

एक स्वास की आउ ग्रास यह तोहि करै है।
ताको नहि विश्वास न मन कछु त्रास धरै है॥
बरनै दीनदयाल तोहि लखि बडो बहादुर।
अरिमुख रह्यो समाय अजों नहिं सकित दादुर॥ ६७॥

शब्दार्थ—दादुर=मेढ़क। काकोदर=सर्प। दसन=(दशन) दाँत। मसन=मच्छड़ो को। ध्याउ=ध्यान करो, घात लगाओ। लहैगो=(स० लभ्=पाना) पायेगा। आउ=(आयु) उम्र। ग्रास करना=खाजाना। त्रास=डर। अरि=शत्रु। समाय रह्यो=पडा हुआ है। अजों=(अद्यापि) अब भी। सकित=(शकित) डरा हुआ।

भावार्थ—हे मेढक, तू साँप के दाँतों के बीच मे पडा हुआ है, इस समय तो कमसे कम मच्छरो पर घात लगाना छोड दे। क्षण भर की तो तेरी आयु रह गई है, इस समय तुझे इन मच्छड़ों के खाने मे क्या मज़ा मिलेगा। थोड़ी ही देर मे तो यह सर्प तुझे खा जायगा। न तो तुझे हमारे कहने पर ही विश्वास आता है, न मन में तुझे इस बात का डर ही है। हे मेढक! तू शत्रु (साँप) के मुख मे तो पड़ा हुआ है, पर अब भी नहीं डरता। वाह! तू तो बडा बहादुर जान पडता है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे पुरुष को लक्ष्य करके कही गई है जो वृद्धावस्था आने पर भी विषय-वासनाओं से विरक्त नहीं होता और मरते दम तक अपने उदर की पूर्ति के लिये घृणित कर्म करने से मुँह नहीं मोड़ता। काल मुँह वाए उसके ग्रसने को तत्पर है, पर वह इस प्रकार निःशंक होकर अपने स्वार्थ साधन के लिये दूसरो की घात लगाए बैठा है मानो अमर है। उसे इस बात की कुछ भी चिन्ता नहीं है कि थोड़े ही समय तक जीवित रहना है,

क्षणिक वासना की तृप्ति से क्या आनंद मिलेगा, अवशिष्ट जीवन भगवद्भजन और परमार्थ मे क्यो न लगाया जाय ?

(कूप)

मूल—पथिकन के अँसुवान को जल दरसाय अलीक ।
किन किन की मति नहीं छली तू मरुकूप ! छलीक ॥
तू मरुकूप छलीक सून हिय तामस वासा ।
खाली धुनि सुनि परै नहीं जीवन की आसा ॥
बरनै दीनदयाल कला न चलै गुनि जन की ।
गुन भो वृथा विसाल सुमति हारी पथिकन की ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ—पथिक=बटोही । दरसाय=दिखलाकर । अलीक=झूठा । मति=बुद्धि । मरुकूप=मरुभूमि (रेगिस्तान) का कुआँ । छलीक=छली, (यहाँ 'क' प्रत्यय अपने ही अर्थ का द्योतक है, और 'अलीक' का तुक मिलाने के लिये लगाया है । 'स्वार्थ' मे 'क' और भी कई शब्दो में लगाया जाता है । जैसे—'पुत्रक', 'बालक' इत्यादि ।) सून=(सं०शून्य) खाली । हिय=(हृदय) भीतरी हिस्सा । तामस=(१) अंधकार, (२) तमोगुण । वासा=रहने की जगह । जीवन=(१) जल (२) प्राण । गुन=(१) गुण, (२) रस्सी । गुनि = (गुणी) (१) गुणवाला, (२) रस्सी वाला ।

भावार्थ—हे मरुभूमि के कुएँ, तू बड़ा छली है, पथिकों के आँसुओं का झूठा जल दिखा दिखा कर तूने किस किस की बुद्धि को धोखा नहीं दिया । तुम्हारा भीतरी भाग बिलकुल खाली (जल रहित है) और केवल अन्धकारमय है । जल पाने की तो तुमसे कोई आशा नहीं है केवल प्रतिध्वनि ही सुनाई पड़ती है। रस्सीवाले मनुष्यों तक का एक भी उपाय नहीं चलता। (तुझ मे

जल तो है नहीं अतएव) खूब लंबी चौड़ी रस्सी का होना भी व्यर्थ है। इन्हीं सब कारणों से पथिकों की बुद्धि चकरा गई है।

तात्पर्य—यह संसार मरुस्थल के कूप के समान है। जीव-यात्री इस भवकूप में इसी प्रकार छले जाते हैं जैसे रेगिस्तान के पथिक मरुकूप में। विषयवासना रूपी मृगतृष्णा के जल से बड़े बड़े ज्ञानी, योगी, ऋषि, मुनि छले गये है। वास्तव मे विषयवासना की पूर्ति में कोई विशेष आनंद नहीं है। जो कुछ आनंद प्रतीत होता है, सब मिथ्या है, क्षणभंगुर है, जीवन का नाश करने वाला है। पर करें क्या ? बड़े गुणवानो की बुद्धि तक हैरान हो जाती है, उनके सब सद्गुण निरर्थक हो जाते हैं। यह विषयवासना है तो निस्सार, पर छलती है सभी को।

विशेष—यह अन्योक्ति किसी धनवान् मिथ्यादानी पर भी घट सकती है। लोगो को दिखलाने के लिये तथा अपना नाम पैदा करने के लिये ऐसे धनी बड़े बड़े चंदे देते हैं, और लोगों में अपने दानीपन की धाक जमा लेते हैं। पर वास्तव में वे सहृदय (उदार) नहीं होते, उनके अन्त करण मे तमोगुण भरा रहता है। उनका दान केवल दिखौआ (चर्चामात्र को) होता है। किसी गुणवान अथवा योग्यपात्र को उनसे उपकृत होने की कोई आशा नहीं रहती, उनके सब गुण व्यर्थ ही जाते है।

(दोहा)

मूल—यह अन्योक्ति-सुकल्पद्रुम साखा प्रथम बखानि।
विरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—साखा=शाखा। इस ग्रंथ का नाम कवि ने 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' रखा है। द्रुम (वृक्ष) मे शाखाओं (डालियों) का

होना आवश्यक है। अतएव इस ग्रंथ के चार खण्डों का नाम 'शाखा' रक्खा गया है।

अर्थ सरल ही है।

इति श्री-काशीनिवासी—दीनदयालगिरि-विरचिते
अन्योक्ति कल्पद्रुम-ग्रन्थे
प्रथमशाखा समाप्ता।

—o · o—

द्वितीय-शाखा

(कुंडलिया)

(भूधर)

मूल—बलिहारी भूधर तुमै धीर करैं गुन-गान।
सानमान कहि, अचल कहि, सब जग करै बखान॥
सब जग करै बखान सकल जीवन को पालो।
तीछन बात दवागि दाहतें नेक न हालो॥
बरनै दीनदयाल कौन तुम सो उपकारी।
सुखद, रतन की खानि, बार बहु है बलिहारी॥ १॥

शब्दार्थ—भूधर=पर्वत। सानमान=(१) सानु=शिखर+मान=वाला, अर्थात् ऊंचा पर्वत, (२) शानवाला, श्रेष्ठ पुरुष। अचल=कभी चलायमान न होनेवाला, दृढ़। तीछन बात दवागि=(१) प्रबल आंधी तथा दावाग्नि, (२) कटु वचन रूपी दावाग्नि। दाह=ज्वलन, ताप, कष्ट। नेकु=जरा, तनिक। हालो=हिलते हो, विचलित होते हो।

भावार्थ—हे पर्वत, तुम्ही धन्य हो, बुद्धिमान् लोग तुम्हारा गुणगान करते हैं। सारा ससार "सानुमान" और "अचल" कह कर तुम्हारी बड़ाई करता है। बड़ी बड़ी प्रबल आँधियो एव प्रचण्ड दावानल की ज्वालाओ से भी तुम तनिक नहीं घबराते, और सब जीवो का पालन करते हो। हे रत्नोकी खानि, हे सुखदायक पर्वत, तुम्हारे समान उपकारी कौन है ? तुम्हीं वास्तव मे धन्य हो।

तात्पर्य—वे पुरुष सत्य ही श्लाघ्य हैं जो ससार मे प्रतिष्ठावान् एवं दृढप्रतिज्ञ प्रख्यात हैं, जो दुर्जनो की कटूक्तियो और बड़ी बड़ी विपत्तियो से भी कर्तव्यच्युत और निस्साहस नहीं होते और जो सदा परोपकार मे रत रहते एव दूसरो को सुखी बनाने मे ही लगे रहते हैं।

(पारस मणि)

मूल—चिन्तामनि अरु नीलमनि पद्मराग सु-प्रवीन।
सुन्यो न पारस! तुम बिना लोह कनक कोउ कीन॥
लोह कनक कोउ कीन नहीं जग मे जे मानिक।
चमकैं ठौरहि ठौर जगे हैं जे जेहि खानिक॥
बरनैं दीनदयाल अहो पारस तुम हो धनि।
कियो कुधातु महीस-मुकुट न्या है चिन्तामनि॥२॥

शब्दार्थ—चिन्तामणि = एक प्रकार की मणि जिसके बारे में यह प्रसिद्ध है कि उसके धारणकर्त्ता की सब मनोभिलाषाएँ पूर्ण होजाती हैं। नीलमणि = नीले रग की मणि विशेष, जिसको नीलम और मरकत भी कहते हैं। पद्मराग = लालरग की मणि विशेष, लाल। सुप्रवीन = अति चतुर। पारस = एक पाषाण विशेष, जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जाता है। कनक = सोना। जगे हैं = चमक रहे हैं, प्रकाशित हैं। कुधातु = लोहा।

भावार्थ—हे पारस, संसार में चिन्तामणि, नीलम, माणिक आदि एक से एक अमूल्य रत्न प्रसिद्ध हैं, और स्थान स्थान पर चमकते हुए अपनी खानियों को प्रकाशित कर रहे हैं, पर तुम्हारे अतिरिक्त इनमेंसे किसी ने भी लोहे को सोना नहीं बना पाया। अत हे पारस! तुम्हीं धन्य हो, क्योंकि तुमने लोहे ऐसी बुरी धातु को भी (सोना बना कर) राजाओं के मुकुट में स्थान देदिया। ये चिन्तामणि आदि तुम्हारे सामने क्या हैं? (तुच्छ हैं)।

तात्पर्य—अपने अपने लिए तो सभी बड़े होते हैं। पर वास्तव में बड़ा वही मनुष्य कहा जा सकता है जो अपनी संगति से, अपने प्रभाव से छोटों को भी बड़ा बना दे।

(नीलमणि)

मूल—मरकत! पामर कर परी तजि निज गुन अभिमान।
इतै न कोऊ जौहरी ह्याँ सब बसैं अजान॥
ह्याँ सब बसैं अजान काँच तो को ठहरावैं।
तदपि कुसल तू मान जदपि यहि मोल बिकावैं॥
बरने दीनदयाल प्रवीन हृदै लखि दरकत।
अहो करम गति गूढ़ परी कर पामर मरकत॥ ३॥

शब्दार्थ—मरकत=नीलम। पामर=नीच। अजान=(अज्ञान) मूर्ख। प्रवीण=चतुर। दरकत=फटता है। गूढ़=छिपी हुई।

भावार्थ—हे नीलमणि, तू नीच मनुष्य के हाथ पड़ गई है, अत अपने गुणों पर अभिमान करना छोड़ दे, क्योंकि यहाँ तेरे गुणों की परख करनेवाला कोई जौहरी नहीं है। यहाँ सभी मूर्ख रहते हैं। वे तुझे साधारण काँच का टुकड़ा समझेंगे। परंतु यदि तू काँच के मोल बिकजावे तो भी अपनी कुशल समझ। (कम से कम इनके हाथों से छुटकारा तो मिल जायगा।) अहा! कर्मों क

गति बड़ी विचित्र है। यह नीलम (जिससे किसी राजप्रासाद की शोभा बढ़ती) आज मूर्खों के हाथ पड़ी है। इसकी यह दुर्दशा देख कर गुणग्राही का हृदय फटता है।

तात्पर्य—कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। कभी भाग्यवशात् यदि कोई गुणवान् व्यक्ति ऐसे गँवारों में फँस जाता है जो उसके गुणों की कदर नहीं करते तो उसको बड़ा मानसिक क्लेश सहना पड़ता है। ऐसे समाज में अपने गुणों का अभिमान छोड़ने के अतिरिक्त उसके लिये और कोई चारा नहीं है। बिना ऐसा किए उसका निर्वाह नहीं हो सकता।

(मुक्ता)

मूल—मेल्यो मुख घसि सूँघ फिरि, फेंक्यो कीस अजान।
मुक्ता ! बात कुसल भई जौ नहिं हन्यौ पखान॥
जौ नहिं हन्यो पखान बन्यो तो रूप अजौं लौ।
मिले जौहरी तोल मोल बिकिहै कइ सौ लौ॥
बरनै दीनदयाल खेल कपि कैसो खेल्यो।
बच्यो आपने भाग्य अहो मुक्ता मुख-मेल्यो॥ ४॥

शब्दार्थ—मेल्यो=डाल लिया। घसि=घिस कर। कीस=बंदर। अजान = (सं० अज्ञान) मूर्ख। हन्यो=मारा। तौ=(तव) तेरा। अजौं लौं = अभी तक। मिले = मिलने पर।

भावार्थ—हे मुक्ता, अज्ञान वानर ने पहले तुमको मुख में डाल लिया, फिर (कुछ स्वाद न मिलने पर) घिस कर के सूँघने लगा, अंत में (सुगंध से निराश होने पर) उसने तुम को फेंक दिया। पर इतनी कुशल हुई कि उसने तुमको पत्थर पर नहीं पटक दिया, अत तुम्हारा स्वरूप अभी तक (इतना कष्ट सहने पर भी) ज्यों का त्यों बना है, अस्तु, कुछ चिंता नहीं, अभी कुछ नहीं बिगड़ने

भावार्थ—अरे राँगे ! अपने भारीपन के घमड से इतरा मत। तेरा तो रग ही कुछ काम का नहीं है, अत सोने से बराबरी करने का साहस मत कर। उसके (सोने के) गुणो को कौन नहीं जानता ? तेरे बोझ और प्रताप को धिक्कार है, जो तेरे गुण स्वय प्रकट नहीं होते और तुझे अपने गुणो का बखान अपने मुख से प्रकट करना पडता है। हे मलीन (पापी), देख सोने से राजाओ के मुकुट बनाये जाते हैं, पर तू नीच जाति की स्त्रियो के पैरो मे लपटा रहता है। (नीच जाति की स्त्रियाँ पैरो मे राँग के गहने पहनती हैं)।

तात्पर्य—किसी एक साधारण गुण के ही कारण बड़ों की बराबरी नहीं की जा सकती। महत्ता और क्षुद्रता छिपाये नहीं छिपती, न प्रत्येक को अपने गुण प्रकट करने की आवश्यकता ही पडती है। बड़े मनुष्यो का सर्वत्र आदर सम्मान होता है, और क्षुद्र लोग ठुकराये जाते हैं।

(लोहा)

मूल—लोहा ! द्रोह न कीजिये पारस मनि के साथ।
ताहि परसि पैहै प्रभा भूप-मनिन के माथ॥
भूप-मनिन के माथ तोहि लखि जग हरखैगो।
करि करि कोटि प्रनाम सुमन तोपै बरखैगो॥
बरनै दीनदयाल कौन सतसंग न सोहा।
पैहै रूप अनूप, बढ़ैगी कीमति लोहा॥ ६॥

शब्दार्थ—पारसमणि=एक प्रकार का पत्थर, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसके छूने से लोहा भी सोना हो जाता है। परसि=स्पर्श करके। प्रभा=कान्ति, शोभा। भूपमणि=श्रेष्ठ राजा।

भावार्थ—हे लोहे ! तू पारस-मणि के साथ द्रोह मत कर। उसको छूकर तू बड़े बड़े राजाओं के सिर पर (मुकुट रूप में) शोभा पावेगा, तब तुझे देख कर सारा संसार प्रसन्न होगा और तुझे अनेक प्रणाम करके तुझ पर फूल चढ़ावेगा। हे लोहे, सत्संग से किसकी शोभा नहीं बढ़ती ? इस पारस मणि के संयोग में तू अपूर्व सौंदर्य प्राप्त करेगा और तेरी कीमत बढ़ जायेगी।

तात्पर्य—सत्संगति द्वारा नीच से नीच व्यक्ति भी महान् बन जाता है, उसकी गिनती भी महापुरुषों में होने लगती है, और संसार में उसका यश-सौरभ फैल जाता है। अत सत्संग से विमुख होना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

(कानन)

मूल—राखे जरत दवागि तें है दै धार उदार।
मान गहन[1] घनस्याम को वा दिन को उपकार॥
वा दिन को उपकार साखि पै कोकिल कूजैं।
फूली लता अपार सुभृगन के गन गूजैं॥
बरनै दीनदयाल धन्य तिनको जग भाखे।
जे मानैं उपकार तिन्हें बुध मे गनि राखे॥ ७॥

शब्दार्थ—धार = जलधारा। गहन = घन, कानन। घनस्याम = (१) बादल, (२) कृष्ण, ईश्वर। साखि = (शाखिन्) शाखाएँ जिसमें हो, अर्थात् वृक्ष।

भावार्थ—हे घन, बादल का उस दिन का उपकार मान जब उस उदार ने जल की धाराएँ बरसा बरसा कर दावाग्नि द्वारा भस्म होने से तुझको बचाया था। यह उसी बादल की कृपा का फल है जो आज, तेरे वृक्षों पर ये कोकिल कूज रहे हैं, लताएँ फूल रही हैं, और उन फूलों में भौंरों के समूह गूँज रहे हैं। (नहीं तो सब उसी

आग मे भस्म हो जाते और तुझे यह सुदिन देखने को न मिलता।) देख, उपकार को भुला मत दे। जो लोग दूसरे के किये हुए उपकार का स्मरण रखते हैं वे बुद्धिमानो में गिने जाते हैं और सारा ससार उनको धन्य धन्य कहता है।

तात्पर्य—अरे मनुष्य, उस दिन का स्मरण कर जब तेरे जन्मते ही परमात्मा ने तेरी माता के स्तनो मे दूध देकर तुझे मरने से बचाया था। देख, यदि तू भोजन के अभाव मे तभी मरजाता तो आज इस सपन्न अवस्था मे कैसे होता। आज जो तू इस सुखमय अवस्था को प्राप्त हुआ है सो सब ईश्वर की ही कृपा समझ, उसको भूल न जा।

विशेष—इस अन्योक्ति का साराश यही है कि उपकारी का उपकार माननेवाले लोग ससार मे प्रशस्य एव मान्य होते हैं।

(सामान्य वृत्त)

मूल—पाई तुम प्रभुता भली चहुँ दिसि अलि गुजार।
हे तरु तटिनी तीर के करिलै कछु उपकार॥
करिलै कछु उपकार आज ऋतुराज विराजै।
डार सुमन के भार रही झुकि कै छवि छाजै॥
बरनै दीनदयाल पथिन दै छाँह सोहाई।
पच्छिन को प्रतिपाल करै किन प्रभुता पाई॥ ८॥

शब्दार्थ—प्रभुता=अधिकार, ऐश्वर्य। अलि=भौरे। तटिनी=नदी। ऋतुराज=बसत। डार=डाल, पेड़ की शाखा। सुमन=फूल। पथिन=पथिको को, बटोहियो को। पच्छिन=पक्षियों।

भावार्थ—हे नदी तट के वृक्ष, आज ऋतुराज बसत आ विराजे हैं जिससे तुम समृद्धि-सपन्न होगये हो, तुम्हारी शोभा अपूर्व जान पड़ती है। फूलो की सुगध के वशीभूत हो भौरे तुम्हारे चतुर्दिक्

सुमधुर स्वर से गूंज रहे हैं। अपने इस अधिकार और सामर्थ्य का सदुपयोग क्यो नहीं करते ? जब तुम्हारे वश की बात है तब लोगों का थोड़ा बहुत उपकार तो करलो। पथिको को अपनी सघन छाया के नीचे विश्राम दो, और अपने आश्रित पक्षियो का प्रतिपालन करो।

तात्पर्य—यह जीवन नदीतट के वृक्ष की भाँति अचिर है। अतएव जबतक शरीर में बल है, जबतक अपने अधिकार और सामर्थ्य की बात है तबतक अपने जीवन को सत्कार्य में—परोपकार में—लगाना ही जीवन की सार्थकता है, प्रभुता का सदुपयोग है।

विशेष—"हे तरु तटिनी तीर के" यह सबोधन इस स्थान पर बड़ा ही समीचीन है। नदी तट के वृक्ष का जीवन बड़ा ही संशयाकुल रहा करता है। न जाने किस बाढ़ में नदी उस को बहा लेजाय। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी अस्थिर है। न जाने किस घड़ी उसकी मौत का परवाना आजाय। जीवन की अचिरता ध्वनित करना ही इसका मूल उद्देश्य है।

मूल—पहो द्रुम ! या सिसिर को दीजे दान तुरत।
दीने सूखे पात के दैहै हरे बसत
दैहै हरे बसत फूल फल दलन समेते।
पैहो पुज सुगध भृग गूंजेंगे केते॥
बरनै दीनदयाल लसोगे सोभा से हो।
भाखत वेद पुरान दिये विन मिलै न पहो॥ ६॥

शब्दार्थ—द्रुम=पेड़। सिसिर=शिशिर ऋतु, जो माघ और फाल्गुन दो महीने रहती है। दलन=पत्तो। पुज=समूह। केते=कितने। लसोगे=सुशोभित होओगे। भाखत=(भाषत) कहते हैं।

भावार्थ—हे वृक्ष, इस शिशिर ऋतु को (सूखी पत्तियों का) दान शीघ्र दो, क्योंकि यदि तुम इसे सूखी पत्तियाँ दोगे तो वसन्त तुमको हरा भरा कर देगा, तुम पत्र, फल, पुष्प से संपन्न होकर सुगंधमय हो जाओगे। तब न जाने कितने (असख्य) भौंरे सुगंध से लुब्ध होकर तुम्हारे आस पास गूँजेगे। उस समय तुम अपूर्व शोभा से सुशोभित हो जाओगे। हे वृक्ष, वेदों एव पुराणों मे कहा गया है कि बिना दान किये कुछ मिलता नहीं।

तात्पर्य—ससार का यह नियम है कि बिना दिये कुछ मिलता नहीं। जो व्यक्ति दूसरे को देना नहीं जानता वह भला दूसरे से पाने की क्या आशा कर सकता है ? व्यवहार मे भी यही देखने मे आता है कि आमद बढाने के लिये खर्च भी बढ़ाना ही पडता है। किफायत करने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक संभावना रहती है। कम मजदूरीवाले से अधिक मजदूरीवाले कुली का काम कहीं अच्छा और लाभप्रद होता है। उक्त वैदिक सिद्धांत भी इन्हीं व्यावहारिक नियमो की भित्ति पर स्थित है। इसी से हम लोगों के यहाँ यह माना जाता है कि जो अपनी सामर्थ्य भर थोडा भी दान देते हैं उनको उसके प्रतिफल स्वरूप कई गुना अधिक लाभ होता है। साथ ही लोगो मे उनके गुणो की चर्चा एव यश-प्राप्ति नफे मे हाथ आती है।

मूल—उपकारी हौ द्रुम महा द्रुम भाखत तुव पाहिं।
राखहु नाहि दुजिह्व को हिय कोटर के माहिं॥
हिय कोटर के माहि देख दुख तो पच्छिन को।
पथी न आवैं पास त्रास उपजै लखि तिन को॥
बरनै दीनदयाल सकल गुन हैं तुव भारी।
यह कुसग ततकाल त्यागिये जग उपकारी॥ १०॥

शब्दार्थ—दुजिह्व=(१) साँप, (२) चुगलखोर या झूठ बोलने वाला। ता पच्छिन को=(१) तुम्हारे आश्रित पक्षियों को (२), तुम्हारे पक्षवालो को। पथि=पथिक। त्रास=भय, डर।

भावार्थ—हे वृक्ष, तुम बड़े उपकारी हो, अतएव तुमसे हमारी प्रार्थना है कि अपने हृदय रूपी कोटर (खोखल) में साँप को जगह मत दो, क्योंकि उसे देख कर तुम्हारे आश्रित पक्षियो को दुःख होता है, और पथिक-गणों को भी साँप देख कर भय प्रतीत होता है जिससे वे तुम्हारे निकट नहीं आते। हे ससार के उपकारी वृक्ष, तुम सभी सद्गुणो से सपन्न हो, अतएव कुसंग करना उचित नहीं, तत्काल (उसी समय) उसका त्याग कर देना समीचीन है।

तात्पर्य—एक चुगलखोर—इधर की उधर, उधर की इधर झूठी बात फैलानेवाले की कुसगति के कारण लोग उपकारी के उपकार से वंचित रहजाते हैं। अतएव उपकारी ऐसे पिशुनो से जितना ही दूर रहे उतना ही श्रेयस्कर है।

मूल—मन को खेद न करिय तरु ! पच्छिन को भरु पाय।
भाखत साखा रावरी सोभा रहे बनाय॥
सोभा रहे बनाय सुफल मैं तुमको चाहैं।
सेवत प्रेम लगाय कहैं जस दिसि के माहैं॥
बरनै दीनदयाल धीर रखिये निज तन को।
मद-बात को पाय कँपाइय नाहि सुमन को॥ ११॥

शब्दार्थ—पच्छिन=(पक्षिन्) (१) चिड़ियों, (२) अपने पक्ष वालों। भरु=भार। भाखत साखा रावरी=(१)तुम्हारी डाली पर बैठे कूज रहे हैं,(२) तुम्हारी वशावली गाते हैं। साखा=(शाखा (१) डाली, (२) शाखोच्चार मन्त्र, जो विवाहादि के अवसर पर परस्पर वशावली वर्णनपूर्वक पढ़े जाते हैं। सुफल मैं=सुफलमय। दिसि

के माहैं = दिशाओं मे। मद वात = (१) मंद मद वायु, (२) ओछी बातें। सुमन = (१) फूल, (२) अपना मन (स्वमन)।

भावार्थ—हे वृक्ष, इन पक्षियो का बोझ पाकर मन को खिन्न मत करो। देखो, ये तुम्हारी डाली पर बैठे चहचहा रहे हैं। इन से तुम्हारी शोभा और भी रमणीय होगई है। ये हृदय से तुम्हें फलों से भरा पुरा देखने के इच्छुक हैं। ये सब पक्षी बडे प्रेम से तुम्हारी सेवा करते हें और सर्वत्र तुम्हारे यश का बखान करते हैं। अतएव धैर्यपूर्वक अपने शरीर के कष्टो का सहन करो और साधारण हवा के झोंके से ही फूलो को मत कँपाओ।

तात्पर्य—शक्ति सामर्थ्य सपन्न सत्पुरुषों के प्रति यह अन्योक्ति कही गई है। अपने पक्षपातियो का सदा ध्यान रखना चाहिए उनके भरण पोषण का भार अपने ऊपर आजाय तो दु खित न होना चाहिए। वे अपने आश्रय-दाताओं की शाखा (वंश) का वर्णन करते हैं, प्रेम से उनकी सेवा करते हैं, सदा उनके हितचिन्तन मे लगे रहते हें, और हृदय से उनकी शुभकामना करते हैं। साराश यह कि विना आश्रितो के महापुरुषो की शोभा ही नहीं है, अतएव महापुरुष उनके पालन पोषण के बोझ से घबराते नहीं, धैर्य से अपने कर्त्तव्य का पालन करते जाते हैं। लोगों की तुच्छ बातो मे आकर अपने मन को विचलित नहीं करते।

मूल—वा दिन की सुधि तोहि को भूलि गई कित साखि !
बागवान गहि धूरतें ल्यायो गोदी राखि ॥
ल्यायो गोदी राखि सींचि पाल्यो निज करतें।
भूलि रह्यो अब फूलि पाय आदर मधुकर तें ॥
बरनै दीनदयाल बडाई है सब तिन की।
तू झूमैं फल भार भूलि सुधि को वा दिन की ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—बागबान = माली। गहि = पकड़ कर, घूर तें = कूड़े कर्कट से। फूलि = (१) फूलकर, पुष्पित होकर, (२) आनन्द से फूलकर। मधुकर = भौंरा। तिनकी = उस माली की।

भावार्थ—अरे वृक्ष, तू उस दिन की सुधि कहाँ भूल गया जब माली तुझको कूड़े कर्कट से उठाकर अपनी गोद में रख कर लाया था? उसीने अपने हाथ से सींच कर तुझे इतना बड़ा किया, किन्तु अब तू फूल कर भौंरो से आदर पाकर उसे भूल गया है। खैर, तू उस दिन की सुधि भले ही भूल गया हो पर जो तू आज फलों के बोझ से झूम रहा है वह सब उसी माली की कृपा का फल है। न वह तुझे कूड़े से उठाकर सींचता न तू आज फलने पाता।

तात्पर्य—अपने पालन पोषण-कर्त्ता माता पिता के उपकारों को भूल जाना उनके प्रति कृतघ्नता करना है। सन्तान बड़ी होने पर जो कुछ भी उन्नति करती है वह सब माता पिता की बदौलत, न माता-पिता बचपन मे अनेक कष्ट सहते न आज बड़े होने पर वे उन्नति कर पाते। बड़े होने पर हम जो उन्नति करते हैं उसका श्रेय हमारे पालन कर्त्ता माता-पितादि पर ही है।

(विशेष वृक्ष)

(तत्र चन्दन)

मूल—चंदन! बंदन जोग तुम धन्य द्रुमन में राय।
देत भुकुज ककोल लों देवन सीस चढ़ाय॥
देवन सीस चढ़ाय कौन तुव रीस करैगो।
बड़े बड़े तरु-ईस सुगंध न पीस मरैगो॥
बरनै दीनदयाल पाय संताप निकंदन।
नंदन वन तें आदि करें तव बंदन चंदन॥ २३॥

शब्दार्थ—चंदन जोग=वंदन (प्रणाम) करने योग्य, पूज्य। द्रुमन मे राय=वृक्षो मे सर्वश्रेष्ठ। कुकुज=(कु=कुत्सित+कु=पृथ्वी+ज) एक प्रकार का निकम्मा वृक्ष। ककोल=एक प्रकार का निरर्थक वृक्ष। लो=तक। रीस (स० ईर्ष्या)=बराबरी, समानता। तरु ईस=पेडों मे श्रेष्ठ, वट, पिप्पल आदि। सुगध न पीस मरेगो=घिसते घिसते नष्ट होजायेंगे पर उन मे सुगध नहीं निकलेगी। सताप निकदन=दाह-नाशक, गर्मी शात करने वाले। नदन वन=देवताओ का उपवन।

भावार्थ—हे वृक्षो मे श्रेष्ठ चदन, तुम धन्य हो, और पूजनीय हो, क्योकि तुम ककोल ऐसे निकम्मे वृक्षो तक को (अपनी सुगधि से बसा कर चदनवत् ही बना कर) देवताओ के ऊपर चढ़ा देते हो। तुम्हारी बराबरी कौन कर सकता है ? वट, पिप्पल आदि बडे बडे श्रेष्ठ वृक्ष भी भले ही पीस कर नष्ट कर दिये जाएँ पर उनसे सुगधि नहीं निकलने की। हे चदन, तुमको ताप-नाशक (शीतल) जान कर नदन वन आदि देवोद्यानो मे लेकर सभी छोटे बडे उपवन तुम्हारी वदना करते हैं।

तात्पर्य—अपने अपने लिये तो सभी बडे होते हैं, पर वास्तव मे महापुरुष वही है जो अपने गुणो द्वारा क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति को भी प्रभावित करके अपने ही समान महापुरुष बना सके, ऐसे ही व्यक्तियो को अपना दु खनिवारक समझ कर सारा ससार पूजता है। महापुरुषों से चदन की समानता क्या ही सुदर और लाजवाब है। वट पिप्पलादि और भी बड़े बड़े वृक्ष होते हैं

नोट कहा जाता है कि मलयाचल के सभी वृक्ष चदन की भाँति ही सुगधित हो जाते हैं। फल यह होता है कि वे सभी वृक्ष चदन के नाम से चंदन के मूल्य पर बिकते और देवताओं पर चढाये जाते हैं।

जिनको लोग बहुत मानते हैं, पर सब वृक्षों को—निकम्मे वृक्षों को भी—आत्मवत् बनाने की सामर्थ्य एक चंदन में ही है।

(तुलसी)

मूल—सब तरु धरा धरे रहे बेस बड़े प्रिय कीस।
एकै ही तुलसी लसी लघु सरूप हरि सीस॥
लघु सरूप हरि सीस रीस को तासु करेंगे।
बीस बिसे तरु-ईस खीस ह्वै भार जरेंगे॥
बरनै दीनदयाल बड़ो छोटो जनि चित धर।
भाग्यवंत है बड़ो बड़ो नहिं कहिये सब तरु॥ १४॥

शब्दार्थ—धरा=पृथ्वी। बेस बड़े=खूब लंबे चौड़े डील डौल वाले। प्रियकीस=जो बंदरों को प्रिय थे। लसी=शोभित हुई। लघु=छोटा। हरि=विष्णु भगवान्। रीस=(ईर्ष्या) समानता, बराबरी। बीस बिसे=बीस बिस्वे, निश्चय रूप से, सोलहों आने। तरुईस=बड़े बड़े पेड़। खीस=नष्ट। भार=भाड़, चूल्हा।

भावार्थ—बड़े बड़े डील डौल वाले और वानरों को प्रिय लगने वाले सभी वृक्ष पृथ्वी में योंही पड़े रह गए, (कुछ सार्थक नहीं हुए) एकमात्र तुलसी ही छोटी होने पर भी भगवान् के सिर पर सुशोभित हुई, अतः उसकी बराबरी कौन कर सकता है? निश्चय ही उस से ईर्ष्या करनेवाले बड़े बड़े पेड़ नष्ट होकर भाड़ में जल जाएंगे (पर उनके किए कुछ होगा नहीं)। वास्तव में यदि देखा जाय तो अमुक बड़ा है अमुक छोटा है इन बातों के विचार में कुछ सार नहीं है। भाग्यवान् व्यक्ति ही वास्तव में बड़ा है। अतएव हम सब वृक्षों को बड़ा नहीं कह सकते।

तात्पर्य—भाग्यवान् पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है, चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा। उसका सर्वत्र आदर सम्मान होता है। उससे ईर्ष्या करने

घाले चाहे मरमिटें पर उसका कुछ नहीं विगाड़ सकते। अतएव बड़े छोटे का विचार करना व्यर्थ है। भाग्यवान् ही को बड़ा और अभागे ही को छोटा समझो।

(रसाल)

मूल—एहो धीर रसाल! अति सोहत हो सिरमोर।
साखा, वरनै रावरी द्विजवर ठौरें ठौर॥
द्विजवर ठौरें ठौर सुफल रावरि ही चाहैं।
निकसै जो तव वात सुमन सो सुधी सराहैं॥
वरनै दीनदयाल धन्य धा धात्री के हो।
जाते प्रगटे आय आप उपकारी एहो॥ १५॥

शब्दार्थ—रसाल=(१) आम का पेड़ (२) रस (प्रेम) मय; रसिक पुरुष, सहृदय। सिरमौर=(१) सिर पर मौर (मंजरी) धारण किये हुए, (२) श्रेष्ठ। साखा=(१) डाल (२) गोत्र। साखा वरनैं = (१)डाला में बैठे हुए चहकते हैं (२) तुम्हारी वंशावली गाते हैं। द्विजवर (१) कोकिल आदि श्रेष्ठ पक्षी, (२) श्रेष्ठ ब्राह्मण। सुफल=(१) अच्छा फल (२) सफलता। निकसै जो तव वात सुमन सो सुधी सराहैं=(१) तुम्हारी मंजरी से सवर्पित होकर जो वायु निकलती है उसे बुद्धिमान् लोग सराहते हैं (२) तुम्हारे पवित्र मन से जो कुछ बात निकलती है बुद्धिमान् लोग उसकी सराहना करते हैं। सुधी= (सु=सुन्दर+धी=बुद्धि) बुद्धिमान्। धात्री=(१) पृथ्वी, धरित्री, (२) धाय।

भावार्थ—हे आम के वृक्ष, तुम अपने सिर पर मंजरी धारण किये हुए अत्यंत शोभा देते हो। कोकिल आदि श्रेष्ठ पक्षी स्थान स्थान पर तुम्हारी शाखा में बैठे हुए सुमधुर स्वर से कूज रहे हैं। और तुम्हारे सुन्दर आम्र फलों की अभिलाषा करते हैं। तुम्हारे

पुष्पों से स्पर्श कर जो वायु आती है बुद्धिमान् लोग उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। धन्य है उस पृथ्वी को जिसने तुम्हारे समान परोपकारी को जन्म दिया।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति "वसुधैव कुटुम्बकम्" सिद्धान्त को माननेवाले किसी सज्जन के प्रति कही गई है। वास्तव में जो व्यक्ति प्रेममय है, अपने प्रेम सभाषण से सबको वश में कर लेता है, वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है; विद्वान् लोग स्थान स्थान पर उसी के सुयश की चर्चा करते हैं। उसके निष्कपट चित्त से निकले हुए प्रेम पूर्ण उपदेशों का बुद्धिमान् लोग आदर करते हैं। उस माता की कोख को धन्य है जो ऐसे परोपकारी लालों को जन्म देती है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

मूल—जेतो फल तें नमत हौ यहो धीर रसाल!
तेतो ऊँचे होत हौ सोभा होति बिसाल॥
सोभा होति बिसाल बात तव है सुखदायक।
रसतें करो निहाल तुमैं सेवैं द्विज नायक॥
बरनै दीनदयाल हिए हरि सो हित केतो।
धरे स्याम छवि रहौ नमित रस देवो जेतो॥ १६॥

शब्दार्थ—जेतो=जितना। नमत हो=झुकते हो। तेतो=उतना ही। बात=(१) वायु, (२) वार्ता। रस=(१) आम का रस (२) प्रेम या काव्य के नव रस। निहाल करो=आनन्दित करते हो, तृप्त करते हो। द्विजनायक=कोकिल आदि श्रेष्ठ पक्षी। हिए=हृदय में, हरि=(१) हरा रंग (२) श्रीकृष्ण। हित=प्रेम।

भावार्थ—हे धैर्यवान् आम्रवृक्ष, तुम जितना ही फलों के बोझ से झुकते हो उतना ही तुम लोगों की दृष्टि में ऊँचे जँचते हो, और तुम्हारी शोभा भी उतनी ही बढ़ जाती है। तुम्हारी वायु बड़ी

सुहावनी प्रतीत होती है। तुम अपने फलों के मधुर रससे लोगों को संतुष्ट कर देते हो, इसीसे कोकिलादि पक्षी तुम्हारी सेवा करते हैं। दीनदयाल जी कहते हैं कि तुम्हारे हृदय में हरि से कितना प्रेम है कि उनकी श्याम छवि को ही धारण किये रहते हो और जितना ही अधिक रस (अपने में) देखते हो उतना ही (अधिक) झुकते हो।

तात्पर्य—जो व्यक्ति अपने अभ्युदय से इतराता नहीं वही प्रशंसनीय है। महापुरुष जितनी उन्नति करते हैं उनके स्वभाव में उतनी ही नम्रता आजाती है, नम्रता अभ्युदय प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

मूल—पाई तुम मृदुता नई भई कठिनई दूरि।
गई स्यामता संग तजि छई लालिमा भूरि॥
छई लालिमा भूरि पूरि आई मधुराई।
सोभा बसी बिसाल नसी यह खोटि खटाई॥
बरनै दीनदयाल सुगंध कला छिति छाई।
जीवन-मुक्त रसाल भये सुचि संगति पाई॥ १७॥

शब्दार्थ—स्यामता=(श्यामता) (१) हरापन (२) कपट। भूरि= बहुत। कला =गुण। छिति=(क्षिति) पृथ्वी पर। जीवनमुक्त= (१)जल से रहित (२) जीते जी मुक्त। शुचि=(१)* आसाढ़ मास (२) पवित्र।

भावार्थ—हे आम्र, आसाढ़ मास पाकर तुम (कच्चे फल की अवस्था की आभा से) मुक्त होगये हो। पकने के कारण अब तुम्हारा पहले का कड़ापन दूर होगया है और तुम मे नवीन कोमलता आगई है, तुम्हारा कालापन लुप्त होगया है और अब तुम

---

* आसाढ़ मास का आम अच्छा होता है।

लाल दिखलाई पड़ते हो, तुम्हारा पहले का खोटा खट्टापन नष्ट होगया है और मिठास भर आई है। इससे तुम्हारी शोभा बहुत बढ़गई है और तुम्हारी सुगंध पृथ्वी में फैल गई है।

तात्पर्य—सत्संगति पाकर निष्ठुर व्यक्ति भी रसिक हो जाते हैं, पापी भी जीवन्मुक्त हो जाते हैं। उनकी क्रूरता नष्ट होजाती है और वे बड़े नम्र एवं उदारचेता बन जाते हैं। उनके मन का कपट धुल कर नष्ट हो जाता है। पहले के रूखेपन के स्थान में अब उनमें सरसता आजाती है। जहाँ पहले वे सबसे अपमानित होते थे वहाँ अब सर्वत्र उनके गुणों की चर्चा होती है। उनका यश-सौरभ चतुर्दिक में फैल जाता है, सत्संगति की महिमा अपूर्व है।

मूल—पहो सुमन समें सखे रखे रहो पिक डाल।
आप बिसाल रसाल हो एऊ बैन रसाल॥
एऊ बैन रसाल मधुर सुर साज सजैंगे।
जाको देखि समाज सबे द्विजराज लजैंगे॥
बरने दीनदयाल महा महिमा महि लेहों।
पै यह काग अभाग दाग गुनि तजिये पहो॥ १८॥

शब्दार्थ—एऊ=ये भी। बैन=(वचन) वाणी। रसाल=(१) आम (२) रसीले। मधुर सुर-साज सजैंगे=मधुर (पंचम) स्वर से गाएँगे। महि=पृथ्वी में। दाग=कलंक।

भावार्थ—हे सखे, बौर आते समय कोकिल को अपनी डाल पर बैठाये रखो। तुम स्वयं बड़े रसिक हो और इनका गाना भी बड़ा श्रुतिप्रिय होता है। जब ये तुम्हारे डाली पर बैठ कर पंचम स्वर से मधुर राग अलापेंगे उस समय इनका समाज देखकर बड़े बड़े पक्षी लज्जित हो जाएँगे। साराश यह कि कोकिलों को आश्रय देने से

सुहावनी प्रतीत होती है। तुम अपने फलों के मधुर रससे लोगों को सतुष्ट कर देते हो, इसीसे कोकिलादि पक्षी तुम्हारी सेवा करते हैं। दीनदयाल जी कहते हैं कि तुम्हारे हृदय मे हरि से कितना प्रेम है कि उनकी श्याम छवि को ही धारण किये रहते हो और जितना ही अधिक रस (अपने में) देखते हो उतना ही (अधिक) झुकते हो।

तात्पर्य—जो व्यक्ति अपने अभ्युदय से इतराता नहीं वही प्रशंसनीय है। महापुरुष जितनी उन्नति करते हैं उनके स्वभाव में उतनी ही नम्रता आजाती है, नम्रता अभ्युदय प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

मूल—पाई तुम मृदुता नई भई कठिनई दूरि।
गई स्यामता संग तजि छई लालिमा भूरि॥
छई लालिमा भूरि पूरि आई मधुराई।
सोभा बसी विसाल नसी वह खोटि खटाई॥
बरनै दीनदयाल सुगंध कला छिति छाई।
जीवन-मुक्त रसाल भये सुचि संगति पाई॥ १७॥

शब्दार्थ—स्यामता=(श्यामता) (१) हरापन (२) कपट। भूरि=बहुत। कला=गुण। छिति=(क्षिति) पृथ्वी पर। जीवनमुक्त=(१)जल से रहित (२) जीते जी मुक्त। शुचि=(१)* आसाढ़ मास (२) पवित्र।

भावार्थ—हे आम्र, आसाढ़ मास पाकर तुम (कच्चे फल की अवस्था की आभा से) मुक्त होगये हो। पकने के कारण अब तुम्हारा पहले का कड़ापन दूर होगया है और तुम मे नवीन कोमलता आगई है तुम्हारा कालापन लुप्त होगया है। और अब तुम

* आसाढ़ मास का आम अच्छा होता है।

को ऐसे लोगों से सचेत रहना चाहिए, और गुणवान् एव कलावान् व्यक्तियो की सगति करनी चाहिए जिनके द्वारा यश फैले।

मूल—जानै नहिं तव माधुरी मद मरद सुगध।
हे रसाल अज, कूट, कपि, कोल, क्रमेलक अंध॥
कोल क्रमेलक अंध फूल फल मूल विनासक।
साख विदारनिहार दुखद दुतिग्रासक त्रासक॥
वरनै दीनदयाल रसज्ञ सिलीमुख मानैं।
महामीत महि मांह प्रीति महिमा तव जानैं॥ २० ॥

शब्दार्थ—मरद=मकरद। अज=बकरा। कूट=टूटे सींगवाला बैल। कोल=सुअर। क्रमेलक=ऊट। अंध=उल्लू। साख विदार-निहार=डाले तोड़नेवाला। दुतिग्रासक=द्युति (कांति) को नष्ट करनेवाले। त्रासक=डरानेवाले, भयावने। रसज्ञ=रस को जानने वाला, रसिक। सिलीमुख=(शिलो+मुख) भौरा। मीत=(स० मित्र, प्रा० मित्त) दोस्त।

भावार्थ—हे आम्रवृक्ष! ये बकरा, बैल, बदर, वाराह, ऊँट और उल्लू तुम्हारे फल फूल और मूल को नाश करनेवाले हैं, तुम्हारी डालो को तोड़ कर तुम्हें दु ख देते हैं, तुम्हारी शोभा नष्ट करते हैं और बडे भयावने हैं। ये मूढ़ तुम्हारी माधुरी और मकरद की मद सुगध को नहीं जानते। केवल भौंरा ही रसज्ञ है। अगर इस पृथ्वी मे कोई तुम्हारा मित्र है तो वह रसज्ञ भौरा ही। वही तुम्हारी प्रीति की महिमा को अच्छी तरह से जानता है।

तात्पर्य—साहित्य, सगीत, चित्रकला आदि की बारीकियो को समझना हर एक ऐरे गैरे का काम नहीं है। कोई विशेष कलामर्मज्ञ सहृदय रसिक ही उसका वास्तविक तत्व जान सकता है।

मूल—सुनिये कल कोमल कलित हे सद सुखद रसाल।
ये सुक पिक सा[illegible] शोभा-करन विसाल॥

पृथ्वी में तुम्हारी बड़ी भारी महिमा फैल जायगी। किंतु देखो, इस अभागे कौए को अपने लिये कलंक समझ कर छोड़ दो।

तात्पर्य—अपनी समृद्ध दशा मे गुणवानो को आश्रय देने से यश ही फैलता है, पर दुर्जनो की सगति का पूर्ण बहिष्कार कर दिया जाय तब। अन्यथा सारा गुड गोवर हो जाता है।

मूल—ऐसी सगति रावरे सग सजै न रसाल।
कागन के गन ये तुमै घेरि रहे इहि काल॥
घेरि रहे इहि काल कहा कुसुमाकर आए।
रसहु सुगध समेत वृथा तुम देत वहाये॥
वरने दीनदयाल दई गति भई अनैसी।
कोकिल कीर मलिंद तीर नहि संगति ऐसी॥ १६॥

शब्दार्थ—कुसुमाकर=वसत ऋतु। अनैसी=(अनिष्ट) बुरी। गति=दशा। कीर=सुग्गा। मलिंद=भ्रमर। तीर=पास।

भावार्थ—हे आम्रवृक्ष, इस समय वसत ऋतु के आने पर भी तुम्हें ये कौए क्यों घेरे हुए हैं? देखो, तुम्हारे साथ ऐसे लोगों की सगति अच्छी नहीं लगती। इन अरसिको को आश्रय देकर तुम अपनी सुगध और रस को व्यर्थ ही बर्बाद कर रहे हो। हे दैव, आज इस आम की क्या दुर्दशा होगई है? इसकी सगति ऐसी है कि इसकी शोभा बढ़ानेवाले कोयल, तोते, भौंरे आदि इसके पास नहीं फटकते।

तात्पर्य—यह किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति उपदेश है जो अपने ऐश्वर्य की वृद्धि के समय गुणवानो का साथ न करके दुर्जनो की संगति कर अपने धन को पानी की तरह बुरे कामो मे बहा देता है। दुष्ट लोग तो ऐसे ही व्यक्तियों को घेरे रहते हैं, और उनका धन, यश सब कुछ लुटवाकर ही पीछा छोड़ते हैं। अतएव धनवान् लोगों

को ऐसे लोगों से सचेत रहना चाहिए, और गुणवान् एव कलावान् व्यक्तियो की सगति करनी चाहिए जिनके द्वारा यश फैले।

मूल—जानै नहिं तव माधुरी मद मरद सुगध।
हे रसाल अज, कूट, कपि, कोल, क्रमेलक अंध॥
कोल क्रमेलक अंध फूल फल मूल विनासक।
साख विदारनिहार दुखद दुतिग्रासक त्रासक॥
वरनै दीनदयाल रसज्ञ सिलीमुख मानैं।
महामीत महि माँह प्रीति महिमा तव जानैं॥ २०॥

शब्दार्थ—मरद=मकरद। अज=वकरा। कूट=टूटे सींगवाला बैल। कोल=सुअर। क्रमेलक=ऊट। अंध=उल्लू। साख विदार-निहार=डाले तोडनेवाला। दुतिग्रासक=द्युति (काति) को नष्ट करनेवाले। त्रासक=डरानेवाले, भयावने। रसज्ञ=रस को जानने वाला, रसिक। सिलीमुख=(शिली+मुख) भौरा। मीत=(स० मित्र, प्रा० मित्त) दोस्त।

भावार्थ—हे आम्रवृत्त! ये वकरा, वैल, वदर, वाराह, ऊँट और उल्लू तुम्हारे फल फूल और मूल को नाश करनेवाले हैं, तुम्हारी डालों को तोड कर तुम्हें दुःख देते हैं, तुम्हारी शोभा नष्ट करते हैं और वडे भयावने हैं। ये मूढ तुम्हारी माधुरी और मकरद की मद सुगध को नहीं जानते। केवल भौंरा ही रसज्ञ है। अगर इस पृथ्वी में कोई तुम्हारा मित्र है तो वह रसज्ञ भौंरा ही। वही तुम्हारी प्रीति की महिमा को अच्छी तरह से जानता है।

तात्पर्य—साहित्य, सगीत, चित्रकला आदि की बारीकियों को समझना हर एक ऐरे गैरे का काम नहीं है। कोई विशेष कलामर्मज्ञ सहृदय रसिक ही उसका वास्तविक तत्व जान सकता है।

मूल—सुनिये फूल कोमल कलित हे मद सुखद रसाल।
ये सुक पिक सारग हैं सोभा-करन विसाल॥

सोभा-करन बिसाल डाल सेवैं तव हित सों।
चोंच चरन के घाय पाय नहि दुखिये चितसों॥
बरनै दीनदयाल चूक मन मे जनि गुनिये।
जानि मधुर सुखदानि बानि बर इनकी सुनिये॥ २१॥

शब्दार्थ—कल = कलरव, कोलाहल। कलित = शोभित। सद = (सत्)अच्छे। सारग = पपीहा, चातक।

भावार्थ—हे सुखदायी सुदर शोभा-सपन्न आम, ये तोते, कोकिल और चातक तुम्हारी शोभा को बढ़ानेवाले हैं, और प्रेम से तुम्हारी डाल पर बैठते हैं, अन इनकी कल-काकली को सुनो। इनके चरण और ठोरो के आघात से चित्त में दुःख मत मानो। अपने मन में इनके अपराधो को मत स्थान दो, प्रत्युत श्रुतिमधुर और सुखदायी जान कर इनकी कल-काकली को ध्यान से सुनो।

तात्पर्य—जिनमे हमारी शोभा बढ़ती है, जो हमारी भलाई की ही चिंतना किया करते है, उनसे यदि कुछ अपराध भी बन पडे तो उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए। उनके दोषो को भूल कर उनके गुणो का समादर करना चाहिए।

(कदली)

मूल—रभा! झूमत हौ कहा थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गए अरु ह्वैहैं इहि खेत॥
अरु ह्वैहैं इहि खेत मूल-लघु साखा-हीने।
ताहू पै गज रहै दीठि तुमरे प्रति दीने॥
बरनै दीनदयाल हमें लखि होत अचभा।
एक जन्म के लागि कहा झुकि झूमत रभा॥ २२॥

शब्दार्थ—रभा = केला। खेत = (क्षेत्र) स्थान। दीठि दीने रहै = देखता रहता है, उजाडने की घात में लगा रहता है। अचभा = (स०—असभव) आश्चर्य।

भावार्थ—हे कदली वृक्ष, अपने इस क्षणभंगुर जीवन के आनंद में क्या उन्मत्त हो रहे हो। इसी खेत में छोटी जड़वाले शाखाहीन तुम ऐसे न जाने कितने कदली-वृक्ष हो चुके और आगे भी होंगे। एक तो तुम स्वयं शाखाहीन और कमजोर जड़वाले हो दूसरे प्रतिदिन हाथी की नजर तुम पर पड़ी ही रहती है (न जाने कब उखाड़ डाले)। हे कदली वृक्ष, हमें यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि तुम केवल इस जन्म के क्षणिक वैभव के उल्लास से ही उन्मत्त हो रहे हो।

तात्पर्य—मनुष्य को क्षणभंगुर जीवन पर इतराना न चाहिए।

मूल—रंभा-वन ! तुम निज लिखे राखि गजन के ग्राम।
चहत कुसल फल फूल को तिन खलतें वसु जाम॥
तिन खलतें वसु जाम गुनत रखिबो दल अपनो।
साखा राखे कौन मूल हू ह्वैहै सपनो॥
बरनै दीनदयाल बात यह बड़ी अचंभा।
बैरिन को सहवास राखि सुख चाहत रंभा॥ २३॥

शब्दार्थ—रंभा=कदली। निज लिखे=(निजविषये) अपने में। ("विषये" अधिकरण का चिह्न है)। गजन के ग्राम=हाथियों के समूह। वसु=आठ। जाम= (याम) प्रहर। वसुजाम=आठों पहर, दिनरात। गुनत=विचार करते हो। दल=पत्ता, पत्र। सहवास=साथ।

भावार्थ—हे कदलीवन, तुम अपने में हाथियों का समूह रख कर (हाथियों के समूह के साथ रह कर) दिन-रात उन दुष्टों से अपने फल फूलों की कुशल चाहते हो, और उनमें अपने पत्तों की रक्षा करना चाहते हो ? (यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है)। उन से शाखा इत्यादि की रक्षा तो क्या होगी, किन्तु तुम्हारी जड़ भी

स्वप्नवत् हो जायगी। (पत्ते और खभे तो खाही जाएँगे साथ ही जड़ भी उखाड़ डालेंगे)। हे रभा, यह वडे अचभे की बात है कि तुम वैरी को साथ रखकर भी सुख चाहते हो।

तात्पर्य—शत्रु को पड़ोस मे रखना और सुखी रहना ये दोनो आश्चर्य-जनक बातें हैं। शत्रु को सग मे रहकर कुशल क्षेम चाहना तो आकाश-कुसुम सदृश है। उनसे अपने पक्षवालों की रक्षा करना तो दूर, अपना ही बचाव करना स्वप्नवत् है। सुखाभिलाषी जन शत्रु के सहवास से सुख पा नहीं सकना।

(पलास)

मूल—दिन द्वै पाय वसत मद फूल्यो कहा पलास।
ग्रीषम भीषम सीस पै नहिं लाली की आस॥
नहिं लाली की आस फूल सब तेरे झरिहैं।
पीछे तोहि न दली ! अली कोउ आदर करिहैं॥
बरनै दीनदयाल रहो नय कोमल किन ह्वै।
ये नख नाहर-रूप रहैंगे तेरे दिन द्वै॥ २४॥

शब्दार्थ—पलास=ढाक, टेसू। लाली=लाल रग। दली=दल (पत्ते) वाला वृक्ष अथवा पुष्प। अली=भौंरे। नय=नम्र, विनीत। नख-नाहर-रूप=सिह के नाखूनो के सदृश लाल। (पलाश का फूल लाल होता है)।

भावार्थ—हे पलाश, थोड़े दिन के लिये वसत ऋतु पाकर अभिमान मे क्या फूला है। देख, भयकर ग्रीष्मऋतु तेरे सिर पर आ पहुँची है (अत्यत सन्निकट है)। तब तेरे ये सब फूल झड़ जाएँगे और इस लाली की कोई आशा नहीं रहेगी। तब हे वृक्ष, भौंरे भी तेरा आदर नहीं करेंगे। तेरा यह लाल लाल रग दो चार ही दिन रहेगा, अत जबतक है तबतक नम्रता मे झुककर क्यो नहीं रहता।

तात्पर्य—मनुष्य को यौवन-धन-सपत्ति के मद में भूल न जाना चाहिए। ये सब पदार्थ अनित्य हैं, नाशमान् हैं। इन पदार्थों के नष्ट हो जाने पर कोई पूछता भी नहीं। सब सामर्थ्य, सारा प्रभाव न जाने वृद्धावस्था के आते ही कहाँ काफूर हो जाता है। अत अपने क्षणिक बल-वैभव के समय में सबके साथ नम्रता का व्यवहार करना ही श्रेयस्कर होता है।

मूल—लीने कटक, वन करे बिरही मन-भख त्रास।
याही तै तेरो कविन राख्यो नाम पलास॥
राख्यो नाम पलास लाल मुख कोपित धारो।
लह्यो न एकौ कलक बिना कछु नातें कारो॥
बरनै दीनदयाल सग सुक हू को कीने।
माधव सो मिलि मूढ तऊ छल कटक लीने॥ २५॥

शब्दार्थ—कटक=(१) वसी (२) वसी के आकार के फूल। पलास=(स०, पल=मास+अश=खानेवाला) मासभोजी। बिना=सिवाय। सुक=(१) सुग्गा (२) शुकदेव मुनि। माधव= (१) बसत (२) श्रीकृष्ण भगवान्।

भावार्थ—हे पलास! कँटिया (कटिया के आकार के पुष्प) लिये हुए वन मे तुम वियोगियो के मछली रूपी मनो को सताते हो, इसी से कवियो ने तुम्हारा नाम पलाश (मासभोजी) रखा है। पलाश इसी से नाम रखा है कि तुम्हारा मुख क्रुद्ध मनुष्य का सा लाल लाल है, परन्तु सिवाय एक कलक के और कुछ न मिला, इसी से कुछ काला है। (टेसू का आधा भाग काला होता है)। दीनदयाल जी कहते हैं कि शुक का सग भी किया और बसत मे भी मिला, हे मूढ, तब भी तू छल का काँटा लिये है। (शुकदेवकृत भागवत भी पढ़ी और कृष्ण के भक्तो का रूप भी बनाया, तब भी छल कपट)।

तात्पर्य—बडो के सग से भी दुष्टों को प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता।

(सालमली)

मूल—किन किनकी मति नहि छली सालमली करि अंध।
गीधे गीध अमिख डली जानत अली सुगंध॥
जानत अली सुगध भली लाली सुक भूले।
जानि अँगार चकोर अार चहुँ तें अनुकूले॥
बरनै दीनदयाल लखै गति को छिन छिन की।
यह छलरूप लखाय छली नहि मति किन किन की॥ २६॥

शब्दार्थ—सालमली = (शालमली) सेमर। गीधे = ललचाने लगे। अमिख = (आमिष) मास।

भावार्थ—हे सेमल, तूने अन्धा कर करके न जाने किस किस की बुद्धि को धोखा नहीं दिया। गिद्ध मांस का टुकडा समझ कर तुझ पर लालायित हुए, भौंरो ने सुगन्धित पुष्प समझा, सुगे लाल फल समझ कर छले गये, चकोर लाल लाल अँगार (जलता हुआ कोयला) समझ कर चारो ओर से तुझ पर टूट पड़े। तेरे क्षण क्षण के रूप परिवर्त्तन को कौन जानता है? अपना यह कपट वेष दिखा कर तूने किस किस की बुद्धि नहीं चकराई।

तात्पर्य—पाखडी लोग सज्जनों का सा वेष धारण कर न जाने कितने भोले भाले लोगों को छल लेते हैं।

मूल—सेमल! विना सुगध तू करत मालती रीस।
छलि रे भ्रम दै सुकन को, नहि जैहै हरि सीस॥
नहि जैहै हरिसीस भूलि जिन लखि निज लाली।
जैहै वेगि विलाय त्याय मति मद को खाली॥

बरनै दीनदयाल जगत मे बिन गुन जे खल।
करै वृथा अभिमान जथा तरु में तू सेमल ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—लाली = लाल रंग। वेगि = शीघ्र। बिलाय जैहै = नष्ट हो जायगा। मद = अभिमान। खाली = व्यर्थ। खल = दुष्ट। जथा = (यथा) जिस प्रकार।

भावार्थ—हे सेमल, तू बिना सुगंध के मालती की बराबरी करना चाहता है। अरे छलिया, सुग्गो को भुलावा देकर तू भगवान के सिर पर नहीं चढ़ सकता। (सुग्गो को अपने रूप रंग से छल कर अपनी ओर आकृष्ट भले ही कर ले पर भगवान के सिर पर तुझे कोई न चढ़ायेगा)। अपनी इस लालिमा को देख कर भूल मत जा, वृथा अभिमान को अपने मन में स्थान मत दे। तेरा यह रूप रंग तो अचिर है। शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। इस पर घमंड करना निष्फल है। अरे सेमल इस संसार में जो दुष्ट बिना गुणों के वृथा अभिमान करते हैं वे वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे वृक्षों मे (बिना गुण के घमंड करनेवाला) तू।

तात्पर्य—गुणो मे हीन घमंडी व्यक्ति अपने बाहरी आडंबर से अपनी गुणवत्ता सिद्ध कर साधारण लोगो मे थोड़े समय पर्यंत भले ही अपनी धाक जमा ले पर भंडाफोड़ होते ही उसका सब उपार्जित यश क्षणमात्र मे मिट्टी में मिल जायगा। साराश यह कि सच्ची प्रतिष्ठा बिना वास्तविक गुणो के हो नहीं सकती।

(आक)

मूल—तो मैं बहु पैगुन भरे अरे आक मतिहीन।
कहा जानि केहि हेत तैं हर तोसो हित कीन ॥
हर तोसो हित कीन तऊ उनकेरि बड़ाई।
तू मति मोहे मूढ़ मानि अपनी प्रभुताई ॥

वरनै दीनदयाल बात सुनि भाखत जो मैं।
सिव को दाया एक आक वहु पेगुन तो मैं ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—हेत = (हेतु) कारण। हर = महादेव। हित = प्रेम।

भावार्थ—अरे निर्बुद्धि आक तुझमे अनेक अवगुण भरे हैं। न जाने किस कारण भगवान् शंकर ने तुझसे प्रेम किया। (महादेव जी की पूजा मे आक के पुष्प चढ़ाने का भी माहात्म्य है।) हाँ, यदि शिवजी ने तुझसे प्रेम किया भी तो यह उन्हीं की बड़ाई है। हे मूर्ख इसे तू अपना बड़प्पन समझ कर घमंड मत कर। हे आक, जो मैं कहता हूँ सो ध्यान से सुन। एक शिवजी का कृपापात्र होने के अतिरिक्त तुझमे अवगुणों की ही सख्या अधिक है।

मूल—नाहीं कछु फल फूल तो बज्यो नाम मदार।
ताप गयो किन पथिन को सेवत तुमरी डार ॥
सेवत तुमरी डार कौन विश्राम लह्यो है।
नहिं पराग मकरद मलिदन भूलि रह्यो है ॥
वरनै दीनदयाल खगौ हु न आवत पाहीं।
केवल कुलमैं नाम बज्यो कहुँ बासहु नाहीं ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—नाम बज्यो = प्रसिद्ध हुआ। मदार = (१) आक, (२) कल्पवृक्ष। ताप = गर्मी, दुःख। पराग = पुष्परज। मकरद = पुष्परस। मलिद = भौंरा। खगौ हु = पक्षी भी। पाहीं = पास। बास = सुगध।

भावार्थ—हे मदार, तुझमे फल फूल कुछ भी नहीं हैं तो भी मदार (कल्पवृक्ष) नाम से प्रसिद्ध है। कह तो तेरी डाल की छाया के नीचे किन पथिकों को शीतलता मिली, और किन किन को आराम मिला? (कल्पवृक्ष की सेवा करने से सब ताप-दुःख दूर हो जाते हैं और सुखशान्ति प्राप्त होती है।) तुझमे न तो पराग है, न मकरद है, न भौंरे ही कभी भूल कर तेरे पास फटकते

हैं, और तो और पक्षी तक तेरे पास नहीं आते। सुगंध तक तो तुझ में है नहीं। केवल धोखे से तू मदार (कल्पवृक्ष) नाम से प्रसिद्ध है।

तात्पर्य—बड़ा आदमी कहलाने से अथवा महापुरुष से नाम-साम्य होने से ही कोई वस्तुत बड़ा नहीं होजाता। महापुरुष होने के लिये आत्मत्याग, उदारता, सहनशीलता, परोपकारिता, गुण-ग्राहकता आदि गुणों की आवश्यकता है।

मूल—तजि रितुपति की माधवी आयो इहँ सारग।
आक आदरै ताहि किन दुर्लभ याको सग॥
दुर्लभ याको सग राखि जस लै ग्रीखम भरि।
ये तो। पत्र प्रसून जाहिंगे पावस में सरि॥
बरनै दीनदयाल कहै को दैवी गति की।
तोपै भ्रमै मलिंद माधवी तजि रितुपति की॥ ३०॥

शब्दार्थ—रितुपति=(ऋतुपति) बसन्त। माधवी=वासती लता। इहँ=यहाँ। सारग=भ्रमर। प्रसून=फूल। पावस=वर्षाऋतु। सरि जाहिंगे=सड़ जायेंगे। मलिंद=भौंरा।

भावार्थ—हे आक, यह भौंरा बसत ऋतु की माधवी लता को छोड़कर तुम्हारे पास आया है इसका आदर क्यों नहीं करते? इसका सत्सग दुर्लभ है, अत इसको ग्रीष्म ऋतु भर अपने साथ रखकर यश क्यों नहीं लूटते। तुम्हारे ये पत्र, पुष्प तो वर्षा ऋतु के आते ही सड़ जायेंगे, (केवल यश साथ रहेगा।) भाग्य की गति भी बड़ी विचित्र होती है जिसके प्रभाव से यह भौंरा भी वासती लता को छोड़ कर तुम्हारे पास भटक रहा है।

(वस)

मूल—तो मै! वस न सार कछु वकिजो ए अभिमान।
तातें भजे-न तोहि को विरचै आपु समान॥

विरचै आपु समान न तो हिय सून निहारत।
तेरे पास हुतास तासु तें तिनहूँ जारत॥
वरनै दीनदयाल दोख तिनको न कहौ मैं।
गधसार का करै सार है बस, न तो मैं ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—बस=(वश) वाँस। सार=तत्व, बल। बकिवो है=बकना ही। ताते=इसीलिये। मलै=(मलय) चन्दन। तातें मलै न तोहि को विरचै आपु समान=मलय पर्वत के सभी वृक्ष, चदन के ससर्ग से उसीकी तरह सुवासित होजाते हैं किंतु वाँस के वृक्ष मे चदन की सुगध का कुछ भी असर नहीं होता। हिय=हृदय। तो हिय सून निहारत=तेरे हृदय को शून्य-देखता है, तुझे सहृदयता से हीन समझता है। (वाँस की लकड़ी भीतर से खोखली होती ही है)। हुतास=(हुताश—हुत=हवन किये हुए पदार्थ को+अश=खानेवाला) अग्नि। गधसार=चदन।

भावार्थ—हे वाँस, तुझ में कुछ तत्व नहीं है, केवल बक बक करने का ही घमड करता है। तेरे हृदय को सारहीन जान कर (तेरे भीतर खोखलापन जान कर) ही तो चदन (अन्य वृक्षों की भाँति) तुझे अपने समान नहीं बनाता। तेरे पास अग्नि है (वाँस की रगड से वाँसों के वन मे आग लग जाती है) इसीसे तू उन को भी भस्म करदेता है। पर (उन्होने जो तुझे अपने ऐसा नहीं बनाया तो) हे वाँस, इसमे उनका क्या दोष है? तुझमे ही कुछ सार नहीं है चदन वेचारा क्या करे।

तात्पर्य—सत्संगति से प्रभावित होकर दुर्जन भी सज्जन होजाते हैं। पर जिनका हृदय सारहीन होता है उनपर यदि सत्सग का कुछ भी असर न पड़े तो इसके लिये सत्सगति क्या दोषी मानी जाय। इसी प्रकार विद्वानो के समाज में बैठने से मूर्ख भी विद्वान्

बन ही जाता है, पर जो वज्रमूर्ख हो, हृदयहीन हो, वह यदि विद्वान् न होसका, भावुक न हो सका, तो विद्वत्समाज का क्या दोष ?

(दाड़िम)

मूल—दारों तुम या बाग में कहा हँसो मुख खोलि।
बिना चार की ओधि मे लीजै नैक कलोलि॥
लीजै नैक कलोलि दसन की जो यह लाली।
जैहै कहूँ बिलाय, होयगी डाली खाली॥
बरनै दीनदयाल लगे खग हैं दिसि चारो।
भीतर काटत कीट कौन रँग रातो दारों॥ ३२॥

शब्दार्थ—दारो = दाड़िम। कहा हसो मुख खोलि = दाड़िम या अनार जब खूब पक जाते हैं तो फट जाते हैं, उनके भीतर लाल लाल दाने होते हैं जिनकी उपमा दाँतो से दी जाती है। नैक = थोड़ा। कलोलि लीजै = क्रीडा कर लो, खेल कर लो, मौज करलो। बिलाय जैहै = नष्ट हो जायगी, ओधि = अवधि, समय। कौन रग रातो = किस रग से रगे जाने के कारण लाल हो रहे हो, किस रग में भूले हो।

भावार्थ—हे दाड़िम, तुम इस बाग मे मुँह खोल कर (निश्शंक भाव से) क्या हँसते हो। थोड़े ही दिनों का तुम्हारा जीवन है, उतने ही समय तक मौज करलो। फिर तुम्हारे दाँतों की यह लाली नष्ट होजायगी और तुम्हारे फलो के झड़ जाने के कारण इस वृक्ष की डाल भी खाली हो जायगी। हे दाड़िम, तुम किस रग मे भूले हो ? देखते नहीं, चारों ओर से पक्षी तुम्हारे ऊपर घात लगाये बैठे हैं, और भीतर से कीड़े तुम्हे खा रहे हैं

तात्पर्य—मनुष्य इस ससार रूपी वाटिका का फल है। एक ओर से मानसिक चिंता रूपी कीट उसके जीवन को दुःखमय बनाए हैं, दूसरी ओर से शारीरिक सताप रूपी पत्ती उसके शरीर को क्षीण करते जारहे हैं। एक फल की भाँति मनुष्य की जीवन-मर्यादा भी थोड़ी है, अत सांसारिक आनद मे मग्न होकर अपने कर्तव्य को भूल जाना महा मूर्खता है।

(बबूर)

मूल—दुख दै जिन इन पथिन को परे क्रूर बबूर।
जगकटक कटकन तें करि राख्यो मग घूर॥
करि राख्यो मग घूर दूर के थकित विचारे।
छाय पाय पछिताय लगे फल फूल नकारे॥
बरनै दीनदयाल दया करके कछु सुख दै।
हिय कठोर अति घोर अंत बनि कोल्हू दुख दै॥ ३३॥

शब्दार्थ—क्रूर=क्रूर, निठुर। जगकटक=ससार को दु ख-दायी। मग=मार्ग। घूर=बेकाम स्थान। छाय,पाय पछिताय=छाया को पाकर भी पछताते हैं, क्योंकि एक तो बबूल की छाया ही कितनी, दूसरे उसमे भी काँटे बिखरे रहते हैं। फल फूल नकारे लगे=फल फूल भी अच्छे न लगे।

भावार्थ—अरे निष्ठुर बबूर, तू इन पथिको को दु ख मत दे। देख तो, ससार को दु ख देनेवाले, काँटे बिखेर कर तूने सारा रास्ता बिगाड़ दिया है। पथिक बेचारे दूर से तेरी छाया को देख कर आते हैं, पर पास आते ही उस कटकाकीर्ण स्थल को विश्राम करने योग्य न पाकर पछताते हैं। फल फूल भी तुममें बेकाम होते हैं, कुछ तो दया करके उन लोगों को सुख दे। तेरा हृदय बड़ा कठोर है। तुझे इतना दु ख देने पर भी सतोष नहीं होता। अंत में

(नष्ट होजाने पर, या सूख जाने पर भी) तू कोल्हू बन कर दूसरों को पीस कर दुःख देता है।

तात्पर्य— दुर्जन जीते जी तो लोगों को दुःख देते ही हैं, मरने पर भी ऐसी अड़चनें डाल जाते हैं कि लोगों को चैन नहीं मिलता, तुलसीदासजी ने भी कहा है —जिमि हिम उपल कृपीदलि गरहीं।

(करीर)

मूल—धारयो दल न करीर ! तुम बहु रितुराजन पाय।
यहै त्याग दृढ़ देखि कै प्रिय कीनो जदुराय॥
प्रिय कीनो जदुराय रमे तव कुञ्जनि माहीं।
और सबै तरुराज ताहि दिसि देखत नाहीं॥
बरनै दीनदयाल ऊँच नहिं नीच विचारयो।
जो जग धरयो विराग ताहि हरि हित सों धारयो॥३४॥

शब्दार्थ—करीर=बिना पत्तों की कँटीदार एक झाड़ी। दल=पत्ते। जदुराय=यदुवंशियों में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हे करील, अनेक बसंत ऋतु पाने पर भी तुमने पत्ते नहीं धारण किए। तुम्हारे इसी दृढ़ त्याग को देखकर श्रीकृष्ण ने तुमको अपना प्रिय बनाया, और तुम्हारी कुंजो में रमण किया। और भी अनेक सुंदर वृक्ष थे पर श्रीकृष्ण ने उनकी ओर ताका भी नहीं। तुमने संसार में वैराग्य ले लिया इसी से ऊँच नीच का कुछ भी विचार न कर श्रीकृष्ण भगवान् ने तुमसे प्रेम किया।

तात्पर्य—दृढ़त्यागी और संसार से विरक्त पुरुष ही भगवान् का कृपापात्र हो सकता है।

(अशोक)

मूल—सेवत तुमें असोक ! यह माली गयो बुढ़ाय।
अधिकै कियो ससोक तुम फोकट नाम सुनाय॥

फोकट नाम सुनाय नहीं कछु काम सरै है।
लगे वामपद* अहो फूल अभिराम धरै है॥
बरनै दीनदयाल सरल को कछू न देवत।
यों ही आसा लागि तुमैं निरफल कौ सेवत॥३५॥

शब्दार्थ—फोकट=(देशज) व्यर्थ, निस्सार। काम सरना= काम निकलना। वाम-पद=स्त्री के चरण। अभिराम=सुंदर।

भावार्थ—हे अशोक, तुम्हारी सेवा करते करते यह माली बुड्ढा हो चला है, पर तुमने व्यर्थ ही अपना 'अशोक' (शोक से रहित) नाम सुनाकर इसको और भी 'सशोक' (शोक सहित) कर दिया। तुमसे किसी का कुछ लाभ नहीं होता। बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम स्त्रियों के लात खाकर तो बड़े सुंदर फूल धारण करते हो, (प्रसन्न हो जाते हो), पर सीधे सादे लोगों को कुछ भी नहीं देते। वे झूठी आशा में लगकर तुम्हारी सेवा करते हैं जिसका उन्हें कोई फल (लाभ) नहीं होता।

तात्पर्य—जो लोग केवल "नाम बड़े और दर्शन थोड़े" होते हैं उनकी सेवा से कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे लोगों से भले मनुष्यों का उपकार भले ही न हो, किंतु चलते पुर्जे और धूर्त लोग टेढ़ी सीधी तरह से जिस प्रकार भी हो अपना काम निकाल ही लेते हैं।

(चंपक)

मूल—धारे खेद न रहिय चित हे चंपक कमनीय।
कहा भयो अलि मलिन हिय जौ नहिं आदर कीय॥
जो नहिं आदर कीय मानि तेहिं मंद अभागी।
कुटज करीर कुसाखि कुसुम को भो अनुरागी॥

*विशेष—अशोक के विषय में कहा जाता कि यह सौभाग्यवती युवतियों के ही पद स्पर्श से फूलता है।

वरनै दीनदयाल नील नीरद सम कारे।
कुसल रहैं वे केस कुसेसै-नैनि सुधारे ॥३६॥

शब्दार्थ—कमनीय=सुदर। कुब्ज=कुरैया। कुसाखि= कुवृक्ष। भो=हुआ। नीरद=वादल। कैस=(केश) वाल। कुसेसै=(कुशेशय) कमल। कुसेसै नैनि=कमलनयनी।

भावार्थ—हे सुदर चपा, यदि मलिन हृदयवाले भ्रमर ने तुम्हारा आदर नहीं किया तो क्या हुआ? इसका खेद अपने मन में मत करो। यह तो कुरैया, करील आदि बुरे वृक्षों के फूलो पर आसक्त हुआ है। अगर तुम्हारा सम्मान नहीं करता तो उसी को मद बुद्धि और अभागा समझो। कमलनयनी युवतियो के काले बादल के समान ये बाल कुशल से रहें जिन्हें वे चपक के फूलो से सँवारती हैं।

तात्पर्य—गुणवान् का आदर तो गुणग्राही करते ही हैं, यदि किसी कपटी ने नहीं किया तो क्या।

(निम्ब)

मूल—एकै ऐगुन देखि कै नींव न तजो सुजान।
याकी कटुता नहिं गुनो करि वहुगुन पहिचान॥
करि वहुगुन पहिचान प्रथम सब रोग विनासै।
जो कोउ सेवै याहि ताहि पीछे सुख भासै॥
वरनै दीनदयाल छाँह मुद देति अनेकै।
यह सीतलता खानि तजो कटु देखि न एकै॥३७॥

शब्दार्थ—ऐगुन= (अवगुण) बुराई, दोष। सुजान=चतुर। (सबोधन मे है)। गुनो=विचार करो। भासै=प्रकट होता है।

भावार्थ—हे चतुर, केवल एक अवगुण देखकर नीम को त्याज्य मत समझो। इसके असख्य गुणों को पहिचानकर इसकी कटुता

का विचार मत करो। सबसे मुख्य गुण तो इस मे यह है कि यह सब रोगो को दूर करता है। जो कोई इसका सेवन करता है उसे उस समय तो बुरा मालूम पड़ता है पर पीछे इसके लाभ प्रकट होते हैं। इसके वृक्ष की छाया बड़ी सुखद होती है, यह शीतलता की तो खान ही है (इसके सेवन से ताप-जन्य सभी विकार दूर हो जाते हैं), और भी अनेक प्रकार के आनद देता है। अतएव केवल इसकी कटुता के कारण ही इसको हेय मत समझो।

तात्पर्य—किसी परोपकारी सर्वसद्गुण-सपन्न व्यक्ति का केवल उसकी बाहरी कठोरता के ही कारण निरादर नहीं करना चाहिए। ऐसे महात्माओ का व्यवहार भले ही रूखा हो, पर ये सदा दूसरो का हित ही किया करते हैं।

(कपास)

मूल—जग में गुनमय करि तुमै बरनैं सकल महान।
कहा भयो जो नहिं कियो चपल एक अलि मान॥
चपल एक अलि मान कियो नहिं कछू नसायो।
हे कपास सहि खेद धन्य परछेद दुरायो॥
बरनै दीनदयाल स्याम याको गनि ठग मै।
मधुप मद किमि जान तुमै, बुध जानैं जग मै॥३८॥

शब्दार्थ—गुन=(१) सूत, तागा (२) गुण। खेद=कष्ट। परछेद=दूसरे के छिद्र, दूसरे के दोष। ठगमै=ठगमय, धूर्तता पूर्ण, ढोंगी।

भावार्थ—हे कपास, ससार में सब महापुरुष तुम को गुणमय (रेशों से बना हुआ) कहते हैं। अगर एक चचल भोरे ने तुम्हारा मान नहीं किया तो क्या हुआ। इससे तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगड़ा। हे कपास, तुम धन्य हो जो स्वय कष्ट सह कर (धुने जाकर)

पराये शरीर को ढँकते हो। पर यह (भौरा) तो काला (कपटी) और धूर्त है। यह मदबुद्धि भ्रमर तुम्हारे गुणो को क्या जाने ? बुद्धिमान् लोग ही तुम्हारा महत्व जानते हैं।

तात्पर्य—सज्जन और गुणवान् व्यक्ति का सभी महापुरुष आदर करते हैं। जो व्यक्ति स्वय कष्ट झेलकर दूसरे के दु ख दूर करता है, दूसरे के अपराध छिपा लेता है, वह व्यक्ति सम्मान क्यो न पावे ? ऐसे पुरुष ससार मे धन्य हैं। किंतु कुछ ऐसे भी दुष्ट होते हैं जिनसे साधुओ का आदर भी नहीं देखा जाता। पर ऐसे पुरुषो के आदर करने या न करने से साधुओं का कुछ बनता बिगडता नहीं।

(तुम्बिका)

मूल—परी घूरी तूमरी अहो धन्य तव भाग।
मज्जति सुरसरि नीर मैं साधु प्रसाद प्रयाग॥
साधु प्रसाद प्रयाग टूटि जब तें तू आई।
तबतें भई सुरग मलीन कुसग बिहाई॥
बरनै दीनदयाल छुटी कटुता सब तेरी।
सुधरी सगति पाय घूर की तूमरि परी॥ ३६॥

शब्दार्थ—घूरी=घूर, अर्थात् कूडे कर्कट में पैदा हुई। तूमरी=तुंबी, तुम्बिका (तितलौकी)। मज्जति=स्नान करती है।

भावार्थ—अरी कूडा कर्कट मे पैदा होनेवाली तुंबी, तेरे धन्य भाग्य हैं जो तू साधुओ की कृपा से (उनका कमडलु बनने के कारण) याग जाकर गगाजी के जल में स्नान करती है, जब से तू कूडा कर्कट मे पैदा हुई लता से टूट कर आई और मलिन कुसंगति को छोड़दिया तब से तेरा रग बडा सुन्दर होगया है और तेरा सब कड़ुवापन दूर होगया है। अरी क्षुद्र तुंबी ! सत्सगति पा करके तू भी सुधर गई है।

तात्पर्य—साधु महात्माओं की संगति से नीच से नीच मनुष्य भी सुधर जाते हैं।

(गेंदा)

मूल—माली की सहि सासना सुनि गेंदे मति भूल।
बिन सिर दै पैहै नहीं बहै हजारे फूल॥
बहै हजारे फूल जौन सुरसीस चढ़ैगो।
द्यै आपनो आप अधिक तैं अधिक बढ़ैगो॥
बरनै दीनदयाल किती तू पैहै लाली।
तेरे ही हित हेत देत सिख तोको माली॥ ४०॥

शब्दार्थ—सासना=(शासना) ताड़ना। गेंदा=पुष्प विशेष। हजारे फूल=हजार पखुड़ियोंवाले बड़े बड़े फूल। बिन सिर दै=बिना सिर कटाये, बिना कलम कराये। (कई फल फूलों के वृक्ष ऐसे होते हैं जो साल में एक बार कल्ले फूटने के पहिले छाँटने पड़ते हैं, ऐसा करने से फल फूलों का आकार भी बड़ा होजाता है और स्वादिष्ट एवं सुगन्धित भी होजाते हैं।) हित हेत=भले के लिये। लाली=लालिमा (सौंदर्य)।

भावार्थ—ऐ गेंदे सुन, माली की ताड़ना सह कर खिन्न मत हो। बिना कलम कटे तुझमें वे बड़े बड़े हजारे फूल नहीं लगेंगे जो देवताओं के सिरों पर चढ़ाए जाएंगे। जितना ही तू अपने आप को कटावेगा उतना ही अधिक बढ़ेगा। तब तेरी कितनी बड़ाई होगी। लोग तेरी प्रशंसा करेंगे। माली तेरी भलाई ही के लिये तुझे शिक्षा देता है, अतः इस बात से बुरा मत मान।

तात्पर्य—गुरुजन जो कुछ ताड़ना करते हैं वह किसी राग द्वेष से नहीं, वरन् हमारी भलाई ही के विचार से। गुरुजनों की ताड़ना

ही के फलस्वरूप लोग बडे यशस्वी बन जाते हैं। अतएव उनकी ताडना से दुःखित नहीं होना चाहिए।

(गुलाब)

मूल—सुनिये मीत गुलाब ! अलि क्यों मन रहिहै रोकि।
रहत न धीरज रसिक चित कुसुमित कली विलोकि ॥
कुसुमित कली विलोकि चहुँ दिसि भरत भाँवरी।
ताहि न कटक वेधि करो मति विकल बावरी ॥
बरनै दीनदयाल पालि हित अपनो गुनिये।
रस पराग जुत राग सुगंधहि दै जस सुनिये ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—कुसुमित = खिली हुई। विलोकि = देख कर। चहुँ दिसि भरत भाँवरी = चारो ओर चक्कर लगाता फिरता है, राग = अनुराग, प्रेम।

भावार्थ—हे मित्र गुलाब ! सुनो, तुम्हारी कली को प्रफुल्लित देखकर सहृदय व्यक्ति के मन में धैर्य रह नहीं सकता, फिर भौंरा अपने मन को कैसे रोक सकता है ? वह तुम्हारी कली को विकसित देखकर तुम्हारे चारो ओर चक्कर लगाता फिरता है, उस को काँटे चुभा कर उसकी मति को पागल और व्यथित मत करो। अपने ही लाभ का विचार करके उसकी रक्षा करो और प्रेम से रस, पराग और सुगंध का दान देकर उससे अपना सुयश सुनो।

मूल—नाहीं भूलि गुलाब ! तू गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार ॥
बहुरि कटीली डार होहिगी ग्रीखम आए।
लुवें चलेगी संग अंग सब जैहैं ताए ॥
बरनै दीनदयाल फूल जौलौं तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—मधुकर=भ्रमर। बहार=शोभा। ताए जैहैं=झुलस जाएँगे।

भावार्थ—हे गुलाब, भौंरे की गुंजार पर भूल मत। तेरी यह शोभा थोड़े ही समय तक रहेगी, ग्रीष्म ऋतु के आते ही फिर तेरी शाखाएँ कँटीली होजाएगी, और साथ ही लुवें चलने लगेंगी जिससे तेरे अंग झुलसने लगेंगे। जब तक तेरे पास फूल रहेंगे तभी तक ये भौंरे चारो ओर से तुझको घेरे रहेंगे, फिर (फूलों के नष्ट होजाने पर) पास नहीं आएंगे।

तात्पर्य—क्षणिक धन संपत्ति के समय अनेक चापलूस और खुशामदी लोग चारो ओर से इकट्ठा हो जाते हैं और जैसे बनता है अपना काम निकाल कर सब धन संपत्ति लूट खसोट लेते हैं। पर जब धनवान् के पास कुछ नहीं रहजाता, और धनाभाव के कारण उसको नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं तब फिर कोई उसके निकट नहीं जाता, धीरे धीरे सब खिसक जाते हैं।

(सामान्य कुसुम)

मूल—मोहै मति सुमना! मना करौं वार ही वार।
महा कुली है मधुप यह कहा करै इतबार॥
कहा करै इतबार बाहिरै भीतर कारो।
गनिकादिक में रमै चपल भरमै दिसि चारो॥
बरनै दीनदयाल लालची यह रस को है।
सुनि याकी धुनि मंद माधुरी तैं मति मोहै॥ ४२॥

शब्दार्थ—सुमना=(१) चमेली, (२) सुंदर मनवाली स्त्री। मधुप=(मधु) (१) पुष्परस (२) (शराब+प=पीनेवाला=) (१) भौंरा, (२) शराबी। इतबार=(अरबी) विश्वास। गनिका=(१)

जूही (२) वेश्या । भरमै =(भ्रमे) भटकता है । रस =(१) फूलो का रस मकरन्द, (२) प्रेम ।

भावार्थ—हे चमेली, मैं तुझे बारबार मना करता हूँ कि तू इस भौंरे पर मुग्ध मत हो । तू इसका विश्वास क्या करती है ? यह भौंरा महा छली है । बाहर से तो काला है ही, मन भी इसका काला (कपटी) है । यह बड़ा चचल है चारो ओर भटकता फिरता है और जूही आदिक अनेक फूलो मे रमण करता है । यह तो तेरे मकरन्द का अभिलाषी है, अतएव इसकी मद मद मधुर गूँज पर मुग्ध मत हो ।

तात्पर्य—(यह अन्योक्ति किसी सुन्दर मनवाली मुग्धा नायिका को किसी मद्यप, छली नायक से सचेत करने के लिये कही गई है) । हे सुंदर मनवाली, इस कपटी और शराबी की क्या प्रतीति ? यह बड़ा ही चपल चित्त एव वेश्यागामी है । तुम्हें फुसलाने के लिये ही मीठी मीठी बातें करता है अत इसके कपट रूप पर मुग्ध मत होओ ।

मूल—प्यारे करै गुमान जनि सुनि प्रसून ! सिख मोरि ।
तो समान इहि बाग में फूलि झरे हैं कोरि ॥
फूलि झरे हैं कोरि बहोरि किते विनसैंहैं ।
या बहारि दिन चारि गए फिरि ग्रीखम ऐहैं ॥
बरनै दीनदयाल न करि सारगहि न्यारे ।
तो रस जाननिहार बड़े हित कारक प्यारे ॥४८॥

शब्दार्थ—प्रसून =फूल । कोरि=(कोटि) करोड़ो । किते= कितने ही । विनसैंहैं=विनष्ट हो जायँगे । सारग=भौंरा । न्यारा= अलग ।

भावार्थ—हे प्यारे फूल, मेरी शिक्षा पर ध्यान दो, अपनी इस शोभा पर घमंड मत करो। तुम्हारे समान तो करोड़ों फूल इस वाटिका में फूल फूल कर झड़ चुके हैं, फिर भी कितने ही नष्ट होंगे। तुम्हारी यह शोभा थोड़े ही समय में नष्ट हो जायगी, और फिर वही भयकर ग्रीष्म ऋतु आ पहुँचेगी। अतएव हे प्यारे, (जबतक तुम्हारी शोभा है तबतक) इस भौंरे को अलग मत करो, यह तुम्हारे रस को पहिचानता है और तुम्हारा बड़ा हितुवा है।

तात्पर्य—इस ससार में आकर न जाने कितने ऐश्वर्य-शाली पुरुष मर चुके हैं और न जाने कितने मरेंगे। अतएव, अपने वैभव पर वृथा अभिमान न करके उसका सदुपयोग करना चाहिए। धन दौलत किसी के साथ तो जाती नहीं, अत अपने प्रेमियों, गुणग्राहियो एव अपने उपकारियो का पालन पोषण कर क्यो न उसे सार्थक कर लिया जाय।

मूल—सोहै नहि सुज सुमन! तो अज ढिग नखरो नाज।
कौन आदरे, वलि, बिना अलि सुरसिक सिरताज॥
अलि सुरसिक सिरताज भाँवरी भरै भाव सो।
रस पराग अनुराग तासु व्रित लाग चाव सो॥
बरनै दीनदयाल खोलि द्रग तेहि किन जोहै।
तो गुन को रिझवार एक यह सारँग सोहै॥४५॥

शब्दार्थ—सुज=(सद्य प्रा० सज्ज) ताजा। सुमन=फूल। अज=बकरा। ढिग=पास। नाज नखरो=हाव भाव। वलि=बलि जाऊँ। भाव सों=प्रेम से। द्रग=आँख। जोहै=देखता है। सारग=भौंरा।

भावार्थ—हे ताजे फूल, बकरे के सामने तेरी यह चटक मटक अच्छी नहीं लगती। मैं तेरी बलैया लूँ, रसिक-शिरोमणि भौंरे के

क्या तुमने उसकी महिमा नहीं सुनी ? उसमे फल फूल और सुगंध सभी कुछ हैं, वह सदा सरस (हरा भरा) होने के कारण शोभायमान रहता है, और वसंत ऋतु तो मानो उसी मे डेरा डाले है। हे प्यारे पक्षी, तुम बहुत चूक गये, जो सुख देनेवाले कल्पवृक्ष को छोड़ कर इस दुःखदायी सूखे पेड़ की सेवा करते हो।

तात्पर्य—श्रीशुकदेव आदि बड़े बड़े ब्रह्मज्ञानी मुनिजन जिस परमेश्वर की महिमा गाते हैं, जिसकी उपासना करते हैं, ऐसे सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा की उपासना छोड़ कर सांसारिक मनुष्यों (अथवा भूत-प्रेतादि) की सेवा करना बड़ी भारी भूल है।

मूल—नहीं तरंगी तीर मे हे खग वास बनाय।
यह सुतंत्र, को कहि सकै, दैहै कहँ बहाय॥
दैहै कहँ बहाय हाय, करिकै सिर धुनिहै।
कोऊ नहीं सहाय पाय दुख पीछे गुनिहै॥
बरनै दीनदयाल बड़ो यह है बहुरंगी।
अहै चपल, उडि चलो, भलो यह नहीं तरंगी॥ ४७॥

शब्दार्थ—तरंगी=(तरंगवाली) नद या नदी। तीर=तट, किनारा। सुतंत्र=(स्वतन्त्र) स्वाधीन, निरंकुश।

भावार्थ—हे पक्षी, इस नद के तट पर घोंसला मत बना। यह बड़ा तरंगी (लहरोंवाला) और स्वतन्त्र है (इसको किसी का भय नहीं है)। कौन कह सकता है कि यह कब मौज मे आकर तेरा घोंसला कहाँ बहा दे ? घोंसला बहाये जाने पर पछता पछता कर तू सिर धुनेगा, और जब तुझे वहाँ अपना कोई सहायक न मिलेगा तब तू इस दुःख को विचारेगा। देख, अभी उड़ चल, यह नद बड़ा ही बहुरंगी एवं चपल है, यहाँ रहना ठीक नहीं।

तात्पर्य—चंचल प्रकृति और निरंकुश व्यक्ति के आश्रय मे रहना अच्छा नहीं।

(विशेष विहग)—तत्र शुक

मूल—सुनिये हे सुक यह नहीं सुखद रसाल रसाल।
है सेमल छल रूप मति भ्रमो सुमन लखि लाल॥
भ्रमो सुमन लखि लाल भँवर रस गंध न पायो।
जानि अगार चकोर प्यार करि डार लुभायो॥
बरनै दीनदयाल कला याकी बहु गुनिये।
पीछे तूल बढ़ाय सूल हूलत है सुनिये॥४८॥

शब्दार्थ—रसाल=(१) आम (२) रसवाला, मीठा। तूल=(१) रुई (२) बखेड़ा, लंबी चौड़ी बातें। सूल—हूलत है=कष्ट देता है।

भावार्थ—हे शुक सुनो, यह सुखदायी रसीला आम नहीं है। यह साक्षात् कपट का ही रूप सेमल है। इसके लाल फूल को देख कर धोखे मे मत आओ। भौंरा इसको लाल फूल समझ कर मकरंद और सुगंध के लोभ से इसके पास आया पर कुछ भी उसके हाथ न लगा। चकोर भी इन फूलो को अँगार समझ कर बड़े प्रेम से इसकी शाखा से ललचा गया। इसकी अनेक कपट कलाओं का वर्णन कहाँ तक किया जाय? अंत मे जब इससे केवल रुई निकलती है तो सब को बड़ा भारी कष्ट प्रतीत होता है।

तात्पर्य—वंचक और धूर्त लोग बड़ी लंबी चोड़ी बातें कह कर सब को झूठी आशा मे रख कर जो कुछ उनसे बन पड़ता है लूट खसोट लेते हैं। अंत में कोई न कोई बखेड़ा खड़ा कर बैठते हैं जिन से सज्जनो को कष्ट होता है।

मूल—नहिं दाडिम, सैलूख यह सुक! न भूलि भ्रम लागि।
दलतें सूलिन को छल्यो, चोंच बचै तो भागि॥
चोंच बचै तो भागि, जाहु ना तो पछतैहो।
याके फल के बीच बड़ो श्रम करू न पैहो॥

क्या तुमने उसकी महिमा नही सुनी ? उसमे फल फूल और सुगध सभी कुछ हैं, वह सदा सरस (हरा भरा) होने के कारण शोभायमान रहता है, और वसत ऋतु तो मानो उसी मे डेरा डाले है। हे प्यारे पत्ती, तुम बहुत चूक गये, जो सुख देनेवाले कल्पवृक्ष को छोड़ कर इस दु:खदायी सूखे पेड़ की सेवा करते हो।

तात्पर्य—श्रीशुकदेव आदि बडे बडे ब्रह्मज्ञानी मुनिजन जिस परमेश्वर की महिमा गाते है, जिसकी उपासना करते हैं, ऐसे सच्चिदानद परब्रह्म परमात्मा की उपासना छोड कर सांसारिक मनुष्यो (अथवा भूत-प्रेतादि) की सेवा करना बडी भारी भूल है।

मूल—नहीं तरगी तीर मे हे खग वास बनाय।
यह सुतत्र, को कहि सकै, दैहै कहूँ वहाय॥
दैहै कहूँ वहाय हाय, करिकै सिर धुनिहै।
कोऊ नहीं सहाय पाय दुख पीछे गुनिहै॥
बरनै दीनदयाल बड़ो यह है बहुरगी।
अहै चपल, उडि चलो, भलो यह नहीं तरगी॥ ४७॥

शब्दार्थ—तरगी=(तरगवाली) नद या नदी। तीर=तट, किनारा। सुतत्र=(स्वतन्त्र) स्वाधीन, निरकुश।

भावार्थ—हे पत्ती, इस नद के तट पर घोसला मत बना। यह वडा तरगी (लहरोंवाला) और स्वतन्त्र है (इसको किसी का भय नहीं है)। कौन कह सकता है कि यह कब मौज मे आकर तेरा घोसला कहाँ वहा दे ? घोसला वहाये जाने पर पछता पछता कर तू सिर धुनेगा, और जब तुझे यहाँ अपना कोई सहायक न मिलेगा तव तू इस दु:ख को विचारेगा। देख, अभी उड़ चल, यह नद वड़ा ही बहुरगी एव चपल है, यहाँ रहना ठीक नहीं।

तात्पर्य—चचल प्रकृति और निरकुश व्यक्ति के आश्रय मे रहना अच्छा नहीं।

(विशेष विहग)—तत्र शुक

मूल—सुनिये हे सुक यह नहीं सुखद रसाल रसाल।
है सेमल छल रूप मति भ्रमो सुमन लखि लाल॥
भ्रमो सुमन लखि लाल भँवर रस गंध न पायो।
जानि अंगार चकोर प्यार करि डार लुभायो॥
बरने दीनदयाल कला याकी बहु गुनिये।
पीछे तूल बढ़ाय सूल हूलत है सुनिये॥४८॥

शब्दार्थ—रसाल=(१) आम (२) रसवाला, मीठा। तूल=(१) रुई (२) बखेड़ा, लंबी चौड़ी बातें। सूल हूलत है=कष्ट देता है।

भावार्थ—हे शुक सुनो, यह सुखदायी रसीला आम नहीं है। यह साक्षात् कपट का ही रूप सेमल है। इसके लाल फूल को देख कर धोखे में मत आओ। भौंरा इसको लाल फूल समझ कर मकरंद और सुगंध के लोभ से इसके पास आया पर कुछ भी उसके हाथ न लगा। चकोर भी इन फूलों को अँगार समझ कर बड़े प्रेम से इसकी शाखा से ललचा गया। इसकी अनेक कपट कलाओं का वर्णन कहाँ तक किया जाय? अंत में जब इससे केवल रुई निकलती है तो सब को बड़ा भारी कष्ट प्रतीत होता है।

तात्पर्य—वंचक और धूर्त लोग बड़ी लंबी चौड़ी बातें कह कर सब को झूठी आशा में रख कर जो कुछ उनसे बन पड़ता है लूट खसोट लेते हैं। अंत में कोई न कोई बखेड़ा खड़ा कर बैठते हैं जिन से सज्जनों को कष्ट होता है।

मूल—नहिं दाडिम, सेंभल यह सुक! न भूलि भ्रम लागि।
दलतें सूलिन को झऱ्यो, चोंच बचै तौ भागि॥
चोंच बचै तौ भागि, जाहु ना तो पछितैहो।
याके फल के बीच बड़ो श्रम कछू न पैहो॥

वरनै दीनदयाल लाल लखि लोभ्यो है किम ।
यह तो महाकठोर, भूलि, सुक है नहिं दाडिम ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—सैलूख=(स० शैलूष) विल्वफल, वेल । दलतें=पत्तो से । सूलिन (शूलिन)=त्रिशूली, महादेव । किम=(किम्) क्यो ।

भावार्थ—हे शुक, यह दाडिम नहीं है, वेल है । भ्रम मे पड कर भूल मत । यह वडा छली है । अपने पत्तों के द्वारा इसने महादेव जी तक को छल लिया । (विल्व पत्र महादेव जी के सिर पर चढ़ाए जाते हैं । जैसे तुलसीदल के विना भगवान् की पूजा अपूर्ण ही समझी जाती है वैसे ही विल्वपत्र विना शिवजी की अर्चना भी अधूरी ही मानी जाती है) वेल वडा कठोर होता है । इस पर ठोकर मारने से यदि तेरी चोच वच जाय (टूटे न) तो भाग्य ही समझ, जा यहां से चला जा, नहीं तो पछितापगा । इस फल मे तुझको परिश्रम तो वहुत करना पडेगा पर हाथ कुछ नहीं आएगा । हे सुगे, इस को लाल देख कर क्यो ललचाया है ? यह तो वडा कठोर है । छोड इस को, यह दाडिम नहीं है ।

तात्पर्य—किसी कठोर हृदयवाले कपटी पुरुष को प्रसन्न करने मे केवल व्यर्थ परिश्रम के और कुछ लाभ नहीं है । उसको प्रसन्न करने के उद्योग मे कहीं उलटी हानि ही न सहनी पडे तो धन्य भाग्य समझो । सारांश यह कि निठुर हृदय मनुष्य अनत उद्योग करने पर भी नहीं पिघल सकता ।

मूल—तजि कै दाडिम मूढ सुक खान गयो कित वेल ।
काटनि सो वेधित भयो भूलि गयो सव खेल ॥
भूलि गयो सव खेल पख लासा लपटायो ।
गिरयो राख मे जाय जगत में काग कहायो ॥

वरनै दीनदयाल कहा वहु रोवै लजिकै।
कर मनि को धिक्कार कठिन सेयो मृदु तजि कै॥ ५०॥

शब्दार्थ—लासा = एक प्रकार का गोंद जो चपचपा होता है। बहुधा बहेलिये इस पदार्थ को चिड़ियों को फँसाने के काम में लाते हैं।

भावार्थ—हे मूर्ख शुक, दाडिम छोड़ कर तुम बेल खाने क्यों गए, एक तो काँटों मे विध जाने के कारण अपना सब खेल भूल गये दूसरे तुम्हारे पख लासा में चिपक गये। इसके वाद ज्यों त्यों उड़ने का उद्योग किया भी तो राख के ढेर मे गिर पड़े। तुम्हारी सूरत काली हो जाने के कारण लोगों ने तुमको कौआ समझा। अब लज्जित होकर इतना रोते क्यों हो ? तुमने कोमल पदार्थ छोड कर कठोर की सेवा की, इसीका तुमको यह फल मिला। अतएव अपनी बुद्धि को धिक्कार दो।

तात्पर्य—उदारचेता सज्जन की शरण लेना छोड़ कर जो मूर्ख अज्ञानतावश निठुर व्यक्ति की सेवा करता है उसको अंत में निराश होने पर लज्जित एव खिन्न होना पड़ता है।

मूल—हे सुक प्रीति न कीजिये इन कागन के सग।
कहुँ भुलाय लै जायकै करिहैं चोंचहि भग॥
करिहैं चोंचहि भग नारियल फल के माहीं।
निरफल जैहैं सकल कला पैहैं कछु नाहीं॥
वरनै दीनदयाल जानि इनको दुख-हेतुक।
न तु पछतैहै अंत खोय अपनो गुन हे सुक॥ ५१॥

शब्दार्थ—काग = कौआ। कला = उद्योग, उपाय। हेतुक = कारण ("क" प्रत्यय यहां पर स्वार्थ—अपने अर्थ—को ही सूचित करता है, जैसे, बालक, पुत्रक आदि में।)

भावार्थ—हे सुगे, इन कौओं के साथ मेल मिलाप मत करो। ये तुमको धोखा देकर नारियल के वन मे लेजाकर तुम्हारी चोच तुड़वा देंगे। तुम्हारे नारियल-फल को खाने के सब उद्योग निष्फल होजायँगे पर हाथ कुछ नहीं लगेगा (उलटे नारियल के कठोर फलों पर ठोकर मारलेसे तुम्हारी कोमल चोच टूट जायगी) अत हे शुक, इनको दु खदायी समझ कर छोड दो, नहीं तो अंत मे अपना (फल खाने का) गुण खोकर पछताते रह जाओगे।

तात्पर्य—दुष्ट और कपटी का साथ कभी हितकर नहीं होता, ऐसे लोग भोले भाले लोगो को चकमा देकर विपत्ति मे फँसा देते हैं और स्वय अलग होजाते हैं। बेचारो को अन्त मे अनेक अपमान भी सहने पड़ते हैं और उनके गुणो की भी हानि होती है। अपना यश और मान सम्मान खोकर सिवाय पछताने के उनके हाथ कुछ नही रहजाता, अत अयोग्य का साथ न करना ही श्रेयस्कर है।

मूल—पछितान्यो इक बेर तू यह सेमर फल बीच।
फिरि सुक सेवन ताहि को लगो कहा रे नीच॥
लगो कहा रे नीच वहै तरु जानत नाहीं।
लखि लखि लाल प्रसून सून मोहत ता माहीं॥
बरनै दीनदयाल अजौं लौंगि नहि पहिचान्यो।
बेर बेर लै तूल सूल सहि तू पछितान्यो॥ ५२॥

शब्दार्थ—सून=(शून्य) निस्सार। अजौं लगि=अब तक भी। तूल=रुई। सूल=(शूल) कष्ट।

भावार्थ—हे सुगे, तू एक वार सेमल के फल में धोखा खा कर पछता चुका, परन्तु अरे नीच, फिर तू उसी की सेवा करने लगा! यह वही सेमल का वृक्ष है, क्या तू नहीं जानता? जिसके लाल लाल निस्सार फूलो को देख कर तू उसमें मोहित होजाता है। वार

वार उस में रुई पाकर और कष्ट सह कर तू पछिताया, पर तूने अभी तक उसे नहीं पहिचाना।

तात्पर्य—मद बुद्धि लोग वार वार पाखडियो के द्वारा वचित होने पर और अनेक कष्ट सह कर भी नहीं सँभलते।

मूल—तोरे चोंच न कीर ! तू यह पजर है लोह।
खुलिहै खुले कपाट के तजि कुल्हिया को मोह॥
तजि कुल्हिया को मोह यही बंधन है तो को।
या सो प्रेम लगाय छुटन पाए कहु को को॥
बरनै दीनदयाल छूटै जो नेह न जोरै।
तो बसिहै आनद बाग हठि चोंच न तोरै॥ ५३॥

शब्दार्थ—कीर=तोता। यह पजर है लोह=यह पींजडा लोहे का है। कपाट=(स०) किवाड। कुल्हिया=मिट्टी का बर्तन, जो पिंजड़े मे रहता है (यहाँ कोई प्रिय सासारिक वस्तु)।

भावार्थ—हे तोते, तू इस मिट्टी के बर्तन का मोह छोड दे। इसको पाने के प्रयत्न मे पिंजडा तोड़ने की चेष्टा करके अपनी चोंच मत तोड। यह पिंजडा लोहे का है (तेरी चोंच से न टूटेगा) और किवाड खोलने पर ही खुल सकता है। यही कुल्हिया तेरे लिये बधन है, अत इसका मोह छोड़, जरा सोचो तो इससे प्रेम लगा कर कौन कौन इस पिंजडे से छूटने पाया। देखो, हठ करके चोंच मत तोडो। यदि तुम इससे प्रेम करना छोड दोगे तो आनद वाटिका में विहार करोगे।

तात्पर्य—सांसारिक प्रिय वस्तु को त्यागे विना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

(कोकिल)

मूल—कोकिल लोचन ललित करि करिय न कोप विखाद।
भयो कि ? मूढ द्रवो न जो सुनि कै पचम नाद॥

सुनि कै पचम नाद द्रवैं सुर-चतुर विवेकी।
ते न द्रवै जिहि लगै सुखद वानी कौवे की॥
बरनै दीनदयाल लगै प्रिय सांपिनि को विल।
कहा करै ते रगभौन सुनिये हे कोकिल ॥५४॥

शब्दार्थ—ललित=लाल। विखाद=(विषाद) खेद, दुख। भयो कि=क्या हुआ*। द्रयो=द्रवीभूत हुआ, प्रभावित हुआ। पचम नाद=पचम स्वर से गाना। सुर-चतुर=स्वर (ज्ञान) में चतुर। विवेकी=सद् असत् को जाननेवाले, ज्ञानी। रगभौन=विहार-भवन।

भावार्थ—हे कोकिल, यदि कोई मूर्ख तुम्हारे पचम स्वर को सुन कर मुग्ध न हुआ तो क्या विगडा? तुम आँखे लाल करके उसके ऊपर क्रोध मत करो, और इस बात का बुरा भी न मानो। (क्योकि वह मूर्ख है) जो स्वर-ज्ञान में चतुर होते हैं वे ही तुम्हारे पचम स्वर को सुनकर मुग्ध हो सकते हैं, जिनको कौए की कॉव कॉव ही रुचती है वे भला तुम्हारी वाणी की सराहना क्या करेंगे? हे कोकिल सुनो, सांपिन को तो अपना विल ही अच्छा लगता है वे वडे वडे महलो मे रहकर भला क्या करेंगी?

तात्पर्य—गुणवानो के गुणो का मूल्य गुणग्राही ही जान सकते हैं मूर्ख और अरसिक पुरुष नहीं, अतएव कोई मूर्ख यदि गुणवान् की निन्दा करने लगे तो बुरा मानने की कोई बात नहीं, क्योंकि "वन्दर अदरख का स्वाद क्या जाने।"

---

*(नोट)—इस छन्द में "भयो कि" एक विलक्षण हिन्दी प्रयोग है जो बँगला भाषा से मिलता है। तुलसीदास ने भी ऐसा प्रयोग किया है, यथा—

कोउ नृप होइ हमैं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी?

मूल—हे पिक पंचम नाद को नहिं भीलन को ज्ञान।
यहै रीझिबो मानि तू जो न हनैं हिय बान॥
जो न हनैं हिय बान बड़ी करुना इन केरी।
मारे ये मृग-जूथ कहा गिनती है तेरी॥
बरनै दीनदयाल थको रटिकै तुम केतिक।
ये नहिं रीझनिहार जाहु बन को तजि हे पिक॥ ५५॥

शब्दार्थ—पिक=कोकिल। पंचम नाद=पंचम स्वर से गाना। जूथ=(सं० यूथ) समूह।

भावार्थ—हे कोकिल, भीलों को तुम्हारे इस पंचम स्वर से गाने का ज्ञान नहीं। तुम्हारे हृदय में ये बाण नहीं मार देते यही इनका प्रसन्न होना समझो, यही इनकी बड़ी भारी कृपा समझो। नहीं तो ये, झुंड के झुंड पशुओं को मार डालते हैं, तुम हो ही किस गिनती में। हे कोकिल, कितना ही रटते रटते थक जाओ, पर ये रीझने से रहे, अतः इस (भीलो के) वन को छोड़ कर चल दो।

तात्पर्य – नृशंस अविवेकी हो जाते हैं। उनकी सहृदयता उनकी क्रूरता के कारण दब जाती है। अतः वे किसी के गुणों की प्रशंसा नहीं कर सकते। अतः ऐसे नीरस हृदयों के सामने अपने गुणों का प्रकाश करने से कुछ लाभ नहीं। तुम्हारे प्राण न लेलें यही कुशल समझो, नहीं तो उन्हें किसीका सर्वनाश करते देर ही कितनी लगती है?

मूल—कोकिल दिल दै कीर सों करिये प्रेम सुहात।
दुहुँ रसाल वन सघन के विहरन सील कहात॥
विहरन-सील कहात कंठ कल कोमल दोऊ।
सुजस जगत के माँहि नाहिँ तुव पटतर कोऊ॥

सुनि कै पंचम नाद द्रवै सुर चतुर विवेकी।
ते न द्रवैं जिहिं लगै सुखद बानी कौवे की॥
बरनै दीनदयाल लगै प्रिय साँपिनि को बिल।
कहा करै ते रंगभौन सुनिये हे कोकिल ॥५४॥

शब्दार्थ—ललित=लाल। बिखाद=(विषाद) खेद, दुःख। भयो कि=क्या हुआ*। द्रयो=द्रवीभूत हुआ, प्रभावित हुआ। पंचम नाद=पंचम स्वर, से गाना। सुर-चतुर=स्वर (ज्ञान) में चतुर। विवेकी=सद् असत् को जाननेवाले, ज्ञानी। रंगभौन=विहार-भवन।

भावार्थ—हे कोकिल, यदि कोई मूर्ख तुम्हारे पंचम स्वर को सुन कर मुग्ध न हुआ तो क्या बिगड़ा? तुम आँखें लाल करके उसके ऊपर क्रोध मत करो, और इस बात का बुरा भी न मानो। (क्योंकि वह मूर्ख है) जो स्वर-ज्ञान में चतुर होते हैं वे ही तुम्हारे पंचम स्वर को सुनकर मुग्ध हो सकते हैं, जिनको कौए की काँव काँव ही रुचती है वे भला तुम्हारी वाणी की सराहना क्या करेंगे? हे कोकिल सुनो, साँपिन को तो अपना बिल ही अच्छा लगता है वे बड़े बड़े महलों में रहकर भला क्या करेंगी?

तात्पर्य—गुणवानों के गुणों का मूल्य गुणग्राही ही जान सकते हैं मूर्ख और अरसिक पुरुष नहीं, अतएव कोई मूर्ख यदि गुणवान् की निन्दा करने लगे तो बुरा मानने की कोई बात नहीं, क्योंकि "बन्दर अदरख का स्वाद क्या जाने।"

---

*(नोट)—इस छन्द में "भयो कि" एक विलक्षण हिन्दी प्रयोग है जो बँगला भाषा से मिलता है। तुलसीदास ने भी ऐसा प्रयोग किया है, यथा—

कोउ नृप होइ हमैं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥

तो मुख परयो न नीर नदी नद सबही भरिगे।
पालि किये बहु सालि-बालि जगमे जस करिगे॥
बरनै दीनदयाल करो मति तुम आमरषा।
बुझै नहीं तुव प्यास करै जो केतो बरषा॥ ५९॥

शब्दार्थ—धरा=पृथ्वी। धाराधर=(धारा=जल की धारा+धर) बादल। सालि बालि=धान की बाल। आमरषा=(आमर्ष) क्रोध।

भावार्थ—हे चातक, वर्षा ऋतु भर बादल लगातार पृथ्वी मे जल बरसाते रहे, पर तुम्हारे मुख मे यदि इतने पर भी जल की एक बूँद न पडी तो उनका क्या दोष? देखो, वर्षा के जलसे सभी नदी नद जल से भरगए। धान की बालो को अपने जल से पुष्ट कर बादल ससार मे यशस्वी बन गए। अत तुम व्यर्थ ही क्रोध मत करो। कितनी ही वर्षा क्यो न करें तुम्हारी प्यास बुझने से रही।

तात्पर्य—यदि किसी उपकारी के उपकार से किसी व्यक्ति को सतोष न हो तो उपकारी का क्या दोष? असतोषी तो किसी प्रकार सतुष्ट हो ही नहीं सकता।

मूल—काहे चातक बूँद हित सहत उपल-पवि पात।
कहा सरित सर सूखिगे जे भूखित जलजात॥
जे भूखित जलजात हस अवली धवली तें।
सीतल मधुर पुनीत जासु जल भाँति भली तें॥
बरनै दीनदयाल तिनै तजि सीकर चाहे।
सोचत लाभ न हानि सहै द्विज दुख को काहे॥ ६०॥

शब्दार्थ—बूँद=स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद। उपल=ओले, पत्थर। पविपात=वज्रपात। सरित=नदी। भूखित=

(शर) वाण। सरवर=(सरोवर) तालाव। वरजोर=बल पूर्वक। प्रान परयत=(पर्यन्त) मरने तक। चाह्यो=इच्छा की। स्वाति=अट्ठाईस नक्षत्रों में से एक नक्षत्र।

भावार्थ—(किसी बहेलिये ने एक चातक को वाण से मारा। वाण के लगने से वह किसी तालाब मे गिर पडा। पर कहीं तालाव का पानी मेरे जीते जी मेरी चोंच मे न चला जाय इस भय से उसने अपनी चोंच बादल की ओर करली, जिससे बादल के अतिरिक्त और कहीं से भी पानी उसकी चोंच मे न जा सके। इस प्रकार मरने तक उसने अपने व्रत को निवाहा) हे चातक, बहेलिये के वाण से घायल हो कर तालाब मे गिरने पर भी तुमने अपनी चोंच बादल की ओर करली। अतएव तुम्हारा प्रेम धन्य है। तुमने यथाशक्ति अपने प्राण की रक्षा की और प्राण रहते तक निर्वाह किया। जबतक जीवित रहे तबतक कुँए, नदी, नद, तालाब और समुद्र मे से किसी के जल की भी इच्छा नहीं की और स्वाति नक्षत्र के जल के अतिरिक्त सभी को छोड़ दिया, जन्म भर तुम को स्वाति के जल की बूँद की ही इच्छा रही, और इस समय वाण लगने पर भी वही आकांक्षा है। अतएव तुम्हारा ही प्रेम प्रशंसनीय है।

तात्पर्य—सच्चा प्रेमी अपने प्रेम का निर्वाह मृत्यु पर्यन्त करता है। अपना प्रेम-पात्र भला हो या बुरा, राजा हो या रंक, चाहे कैसा ही क्यों न हो उसके साथ अनन्य प्रीति का पालन करना ही सच्चे प्रेमी का लक्षण है।

मूल—चरणा भरि वरषत धरा धाराधर धरि धीर।
कहा दोख चातक! तिनै तो मुख पर्‌यो न नीर॥

(नोट)—गो० तुलसीदासकृत दोहावली में दोहा न० ३०२ में भी यही भाव है।

भोजन। भुजग=(भुज=टेढ़ा + ग=गमन) टेढी मेढी चाल से चलनेवाला, अर्थात् साँप। (भुजग, भुजग और भुजगम तीनो की व्युत्पत्ति एक ही है।)

भावार्थ—हे मयूर, तुम्हारी वाणी बड़ी मीठी है, निवास एकांत वन है, और शोभा भी अत्यन्त मनोहर है, परतु तुममे एक बड़ा भारी अवगुण यह है कि तुम बड़े भयकर जहरीले साँपो को खाजाते हो। तुम्हारी यह चाल अच्छी नहीं है। इस अयश के कारण तुम्हारे सब अच्छे गुण भी बुरे समझे जाएगे। कहाँ तुम्हारी यह मीठी सुदर वाणी, कहाँ यह साँपो का भोजन? दीनदयाल जी कहते हैं कि तुम्हारा हाल चाल सब हमने समझ लिया कि तुम कैसे हो।

तात्पर्य—अनेक सद्गुणो के होते हुए भी कोई एक बड़ा दुर्गुण सब गुणो को ढक देता है।

मूल—धुरवा नहि, दव-धूम है, नहिं गरजनि, तरु-मोर।
भ्रम वस कूक करे कहा मगै नाच नचि मोर॥
मगै नाच नचि मोर न ए दामिनि की दमकैं।
एतो घोर हुतास जोर चहुँ ओर सु चमकैं॥
बरनै दीनदयाल भूलि मति तू मन मुरवा।
तज यह सिखर कराल, जरैगो, नहि ये धुरवा॥६२॥

शब्दार्थ—धुरवा=बादल। दव धूम=दावाग्नि का धुआँ। हुतास=अग्नि। मुरवा=मोर।

भावार्थ—हे मोर, ये बादल नहीं है, वन मे लगी हुई आग का धुआँ है, यह गरज भी बादलो की नहीं है, पेड़ो के चटकने का शब्द है। तू बादलों के धोखे मे आनद मे कूक कर और नाच नाच कर क्यों हैरान होता है? जिस को तू बिजली की चमक समझे बैठा है

(भूपित) शोभायमान, सुसज्जित। जलजात=कमल। अवली= पंक्ति। धवली=सफेद। पुनीत=पवित्र। सीकर=बूँद। द्विज= पक्षी।

भावार्थ—हे चातक, केवल एक बूँद जल के लिये क्यों वृथा ओलो की चोट एव वज्रपात सहते हो? क्या वे नदी तालाव सूख गये हैं जो कमल एव श्वेत हसों की पंक्तियो से शोभायमान थे, और जिनमें अच्छे प्रकार से ठडा, मीठा और पवित्र जल भरा था? उनको छोड़ कर तुम एक स्वाति जल की-बूँद की ही अभिलाषा करते हो। हे पक्षी, तुम हानि लाभ का कुछ भी विचार नहीं करते, नाहक दु ख क्यो सहते हो?

तात्पर्य—किसी प्रेमी पर यह उक्ति घटित हो सकती है जो अन्य पात्रों को छोड़ किसी एक विशेष पात्र पर मरता हो।

(मयूर)

मूल—बानी मधुरी, वास वन, परभा परम बिसाल।
बरही! पैगुन एक अति भखत कुव्याल कराल॥
भखत कुव्याल कराल चाल या नहीं भली मैं।
ये सब गुनके जाल जाहिंगे अजस गली मैं॥
बरनै दीनदयाल हाल गति यह तो जानी।
कित वह असन भुजग किते यह मृदु वर बानी॥६१॥

शब्दार्थ—परभा=(प्रभा) शोभा। बरही (वर्ही)=मयूर। पैगुन=अवगुण। भखत=(भक्षत) खाते हो। कुव्याल=दुष्ट, जहरीला साँप। कराल=भयकर। चाल या नहीं भली मैं=इसकी गिनती अच्छी चालो मे नहीं है। जाल=समूह। जाहिंगे अजस गली मे=अयश ही कहलायेंगे। हाल गति यह तो जानी=यह हाल और यह चाल जान लीगई। तो=(तव) तेरी। असन=(अशन)

मत कर। जो तुझे प्राणों से भी प्यारा है वह (चन्द्रमा) तुझे अब शीघ्र ही मिलेगा, और तू उसे देख कर अपनी आँखें तृप्त करेगा।

तात्पर्य—दुःख के बाद सुख का आना अनिवार्य है। अतएव विपत्ति में घबड़ाना नहीं चाहिए। धैर्यपूर्वक कष्टों को झेलने के अनन्तर एक दिन फिर सुख के दिन देखने को नसीब होंगे।

मूल—सोवै किनै चकोर! तू सफल करे किन नैन।
चार दिना यह चाँदनी फिरि अँधियारी रैन॥
फिरि अँधियारी रैन सखे! लखि सोच मरैगो।
सजग रहै नहिं भूलि काल-कृत जाल परैगो॥
बरनै दीनदयाल लाल! यह काल न सोवै।
रोम रोम प्रति सोम-कला फैली, कित सोवै॥ ६४॥

शब्दार्थ—सजग=सावधान। काल-कृत जाल परैगो=काल के फंदे मे फँसना पड़ेगा, मर जाओगे। सोम=चन्द्रमा।

भावार्थ—हे चकोर, तू सोया क्यो है? इस चाँदनी को देख कर अपनी आँखों को सफल क्यो नहीं कर लेता? हे मित्र, यह चाँदनी थोड़े ही दिन रहेगी फिर वही अँधेरी रात होजायगी, इस लिये अभी अच्छे प्रकार देखले, नहीं तो पछताएगा। देख अचेत मत हो, सावधान रह। एक समय तुझे भी मरना पड़ेगा। अतः इस समय को मत खो। तेरे रोए रोए में चन्द्रमा की कला फैली हुई है, तू सोया क्या है? इसे देख ले।

तात्पर्य—(इस अन्योक्ति मे जीव को सावधान करते हैं) यह देह क्षणभंगुर है अतएव जबतक शरीर में शक्ति है, इन्द्रियो में सामर्थ्य है तबतक परमेश्वर का भजन, परोपकार आदि सत्कर्म करके उसे सार्थक क्यो न कर लिया जाय?

यह भी बिजली नहीं है, किंतु अग्नि की भयकर लपटें हैं, जो वन के चारो ओर चमक रही हैं। हे मोर, तू भूल कर भी मन मे इनको बादल मत समझ। ये बादल नहीं हैं। इस भयकर पहाड के (दावाग्नि युत) शिखर को छोड दे नहीं तो भस्म हो जायगा।

तात्पर्य—सासारिक विषय वासनाएं क्षणिक सुख का लालच देकर अथाह भव सागर मे ढकेल देती हैं। अत उनके बनावटी मनोहर रूप के धोखे मे आकर उनके वशवर्त्ती न होना चाहिए। साराश यह कि नकली पदार्थ अपने बाहरी आडम्बर से लोगो का चित्त आकृष्ट कर उनको धोखे मे डाल देते हैं। अतएव सावधान होकर अपने मन को ऐसे पदार्थों मे लालायित होने से रोकना ही उचित है।

(चकोर)

मूल—सोच न करै चकोर चित कुहू कु निसा निहारि।
सनै सनै ह्वै है उदै राका ससि तम टारि॥
राका ससि तम टारि दूरि दुख करि है तेरो।
धीर धरै किन वीर कहा अकुलाय घनेरो॥
बरनै दीनदयाल लखैगो तू भरि लोचन।
जो तेरा प्रिय प्रान मिलैगो सो अब साच न॥ ६३॥

शब्दार्थ—कुहू=अमावास्या। निहारि=देखकर। सनै सनै (शनै शनै)=धीरे धीरे। राका=पूर्णिमा। तम टारि=अंधकार को हटाकर।

भावार्थ—हे चकोर, अमावास्या की इस अंधेरी रात को देख कर मन मे शोच मत कर। धीरे धीरे पूर्णिमा का चद्रमा उदय होगा और अंधकार का नाश कर तेरे दु ख को दूर करेगा। हे वीर, इतना क्यो घबड़ाता है? धैर्य क्यो नहीं धारण करता? अब शोच

बरनै दीनदयाल दोख जनि दै उन केरे।
अपनो भाग विचार उतै बुध वदत हेरे॥ ९६॥

शब्दार्थ—दुरौ=छिपा है। दरी=गुफा। कूर=मूर्ख। दोख (दोष) जनि दै उन केरे=सूर्य को दोष मत दो। उतै=उधर, अर्थात् सूर्य को। बुध=पंडित लोग, ब्राह्मण। वदत=पूजा करते हैं। हेरे=देखने पर।

भावार्थ—अरे अन्धे नीच उल्लू! तू इस समय अँधेरी गुफा मे छिपा है। तेरी समझ मे अभी सूर्य भगवान् आकाश मे उदय ही नहीं हुए। सारा ससार इस समय सूर्य के अधीन हो रहा है, केवल तू ही एक महा मनहूस है। अत तेरे निन्दा करने से क्या होता है। अरे दुष्ट! यदि सूर्य के उदय होने से भी तुझे नहीं सूझता तो उनको व्यर्थ दोष मत दे। यह तेरा ही दुर्भाग्य है जो तुझे दिखलाई नहीं पड़ता। सूर्य को तो देखते ही लोग प्रणाम करते हैं (उदीयमान सूर्य को अर्घ्य आदि देकर लोग पूजते हैं)

तात्पर्य—जो ससार की दृष्टि मे पूज्य हैं, सारा ससार जिनके गुणो का कायल है, और जिनकी महिमा का मनीषी लोग मन से सम्मान करते हैं ऐसे महापुरुषो की यदि दो एक मनहूस निन्दा करें तो उससे क्या बनता विगड़ता है।

(वायस—कौआ)

मूल—वायस! तू पिक मध्य ह्वै कहा करै अभिमान।
ह्वैहै बस सुभाव की बोलत ही पहिचान॥
बोलत ही पहिचान कानकटु तेरी बानी।
वे पचम धुनि मञ्जु करै जिहि कविन बखानी॥
बरनै दीनदयाल कोऊ जौ परसै पायस।
तऊ न तजै मलीन मलहि खाये बिन वायस॥ ९७॥

(पतग)

मूल—वै तो मानत तोहि नहि, तै कित भर्यो उमग।
नहि दीपहि कछु दरद, क्यो जरि जरि मरै पतग॥
जरि जरि मरै पतग तासु ढिग कदर न तेरी।
तू अपनो हित जानि भावरै भरत घनेरी॥
वरनै दीनदयाल प्रान-प्रिय मान्यो तै तो।
मुख मलीन करि रहैं चहै नहि तो को वै तो॥ ६५॥

शब्दार्थ—ढिग=पास। कदर=सम्मान। हित=प्रिय। भाँवरैं भरत घनेरी=उसके आस पास अनेक चक्कर लगाता फिरता है। मलीन=काजलयुक्त, उदास।

भावार्थ—अरे पतग, वह (दीपक) तो तुझको कुछ मानता नहीं, तू क्यों उससे मिलने के लिये उमग मे भरा है। तू नाहक क्यों जलकर दीपक के लिये प्राण देता है? उसको तेरे मरने का कुछ भी दु ख नहीं, उसके यहाँ तेरा सम्मान नहीं हो सकता। तू तो उसको अपना प्राणप्रिय समझता है और प्रिय जान कर वार वार उसकी प्रदक्षिणा करता है, पर वह तुझे नहीं चाहता, तेरी ओर से मुख उदास किये रहता है।

तात्पर्य—जो अपना सम्मान नहीं करता, अपने ऊपर सहानुभूति प्रकट नहीं करता, अपने प्रेम का प्रतिदान नही करता, उसके लिये क्यो नाहक अपना प्राण खोया जाय।

(उलूक)

मूल—हैरे अन्ध उलूक तू दुरौ दरी मे नीच।
तेरे जान नहीं उदै भये भानु नभ वीच॥
भये भानु नभ वीच सकल जग तासु अधीने।
तू पकै खल क्रूर कहा तो निन्दा कीने॥

भावार्थ—अरे कर्णकटु कांव कांव रटनेवाले कौए ! तू सुग्गे को दोष क्या लगाता है ? इनकी मधुर वाणी को सुनकर राजा लोग मुग्ध होते हैं, इनको सोने के पींजड़े में रखते हैं, इन्हींका मुख देखा करते हैं, और इनके ही वचन सुनने की अभिलाषा करते हैं। परन्तु तेरी कांव कांव तो विष के समान लगती है, इसी कारण सब तुझ पर क्रोध करते हैं। अरे दुष्ट, जा भग यहां से।

तात्पर्य—मधुर और नम्र वचन बोलनेवाला सर्वत्र सम्मान पाता है। इसके विपरीत कठोर वचन बोलनेवाला सब से तिरस्कृत किया जाता है।

(वासा)

मूल—वासा ! यहि तरु पै तुमे वासा वासर एक।
बक नहि इत व्याधा जुरे बहरी और अनेक॥
बहरी और अनेक का कहाँ बाज रहै ना।
जाल परे वा होय जौन दुख सो कहु मै ना॥
बरनै दीनदयाल करै तू केकी आसा।
लाल ! मानि अब टेर भजो सर आवत वासा॥ ६६॥

शब्दार्थ—वासा=पक्षी विशेष। वासा=निवास। वासर=दिन। बक नहि=बक बक मत कर। व्याधा=बहेलिया। जुरे=इकट्ठा हुए हैं। बहरी=बाज की जाति का एक पक्षी विशेष। बाज रहना=किसी काम का करना छोड़ देना। केकी=किसकी। टेर=आवाज पुकार, (यहां) उपदेश।

भावार्थ—हे वासा ! इस पेड़ पर तुझे एक दिन रहना है, यहां बक बक मत कर, यहां अनेक व्याधा और बहरी एकत्र हैं। मैं तुझ से क्या कहूँ, तू बक बक नहीं छोड़ता। जाल में फँसने से जो दु:ख होता है सो मैं तुझसे नहीं कहता। दीनदयाल कहते हैं कि

शब्दार्थ—परसै=परोसै। पायस=खीर।

भावार्थ—हे कौए! तू कोकिलो के बीच में बैठकर क्या घमंड करता है? बोलते ही तेरे कुल और स्वभाव की पहिचान हो जायगी। तेरी कर्णकटु वाणी से पता लग जायगा कि तू कौआ है, और कोकिलो का अतिप्रिय पंचम स्वर जिसकी मधुरता की कवि लोग प्रशंसा करते हैं उनकी पहिचान करवा देगा। चाहे कोई खीर ही क्यों न परोस के रख दे पर नीच कौआ अपवित्र पदार्थ खाये बिना रह ही नहीं सकता।

तात्पर्य—कोई अपने को कितना ही छिपावे उसका वंश और स्वभाव छिप नहीं सकता। उसके व्यवहार से, उसके वचनों से, उसके आचरण से पता लग ही जाता है। चाहे कितना ही प्रयत्न करो दुर्जन अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकते।

तुलसीदास भी कहते हैं—

पायस (वायस) पलियहि अति अनुरागा।
कबहुँ निरामिष होहिं कि कागा॥

मूल—हे रे काग कठोर रट कीरहि दूखत काह।
सुनि कै इनकी मधुर धुनि मोहत हैं नरनाह॥
मोहत हैं नरनाह हेम-पिंजर में राखैं।
इनही के मुख लखैं बैन इनके अभिलाखैं॥
बरनै दीनदयाल लगे विपलो तव टेरे।
कोपैं सब इहि लागि भागि ह्वाँतें खल हेरे॥ ६८॥

शब्दार्थ—कठोर रट=कर्णकटु काँव काँव करनेवाला। कीरहि=सुग्गे को। दूखत=दोष लगाता है। नरनाह=(नाथ) राजा। हेम=सोना। बैन=(वचन) वाणी। इहि लागि=इसी कारण।

रहे हैं, पर बेचारा सिंह, जो इन सब पर राज्य करता था आज दाँतो और नाखूनो के टूट जाने से लँगड़ा हो गया है।

तात्पर्य—समय सब कुछ करा लेता है। जो एक समय सब पर शासन करता था, जिसका आतंक सर्वत्र छाया हुआ था, जिसकी वीरता का सभी जन लोहा मानते थे, वही सिंह आज असहाय है, परमुखापेक्षी हो रहा है। काल की गति बड़ी विचित्र है। इसके प्रभाव से राजा से रंक, रंक से राजा होते कुछ भी देर नहीं लगती।

(मातंग)

मूल—भाजत हे जिहि त्रास ते दिग्गज दीरघदंत।
नाहर नहि नेरे फिरैं देखि बड़ो बलवंत॥
देखि बड़ो बलवंत गिरैं गिरि-कंदर दर तें।
नदी कूल कुंज मूल परसि घिनसे रद कर तें॥
बरनै दीनदयाल रह्यो जो सब पै गाजत।
अहो सोई गजराज आज कलभनतें भाजत॥ ७१॥

शब्दार्थ—भाजत हे=भाग जाते थे। त्रास=डर। दिग्गज=(दिक्=दिशा+गज=हाथी) दिशा का हाथी, (श्रेष्ठ हाथी)। दीरघ (दीर्घ) दंत=लंबे दाँतोंवाला। नाहर=(नरहरि) सिंह। नेरे=निकट। कंदर=गुफा। दर तें=रगड़ से। कूल=किनारा। कुंज=(कु=पृथ्वी+ज=पैदा हुआ) वृक्ष। परसि=स्पर्श करके, छू करके। रद=दाँत। कर=सूँड़। गाजत=गरजता था। कलभ=हाथी का बच्चा। (मातंग=उन्मत्त हाथी को कहते हैं)।

भावार्थ—जिस मतवाले हाथी के भय से बड़े बड़े दाँतवाले दिशाओं के हाथी भाग जाते थे, जिसको बड़ा बलवान् समझ कर सिंह भी पास नहीं फटकते थे, जिसकी रगड़ से गिरिकंदराएँ गिर

तू किसकी आशा करता है। हे प्रिय वासा ! अब मेरा उपदेश मान और यहां से भाग जा, बाण आता ही है।

(नोट)—इसमें मुद्रालकार भी है। मुद्रा के लिये जिन पक्षियो के नाम लाये गये हैं वे ये हैं —

बक, बहरी, काक, बाज़, परेवा, सोक (शुक), मैना, करैतू, केकी, लाल, बटेर।

(सिंह)

मूल—टूटे नख रद केहरी वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइ कै यह दुख दियो बढ़ाय॥
यह दुख दियो बढ़ाय चहूँ दिसि जबुक गाजैं।
ससक लोमरी आदि स्वतन्त्र करैं सब राजैं॥
बरनै दीनदयाल हरिन विहरैं सुख लूटै।
पगु भयो मृगराज आज नख रद के टूटे॥ ७०॥

शब्दार्थ—रद=दांत। केहरी=सिंह। जरा=वृद्धावस्था। जबुक=गीदड़। गाजैं=गरजते हैं। ससक=(शशक) खरगोश। करैं सब राजैं=सब राज्य करते हैं। पंगु=लेंगड़ा, अगहीन। मृगराज=(मृग=पशु+राजा) पशुओं का राजा अर्थात् सिंह।

भावार्थ—सिंह के दांत और नाखून टूट गये हैं, पहिले का सा बल भी अब शरीर मे नहीं रहा। वह सब प्रकार से असहाय अवस्था मे हो गया है। पर इतना ही नहीं, वृद्धावस्था ने एक और भी दु:ख बढ़ा दिया है। वह यह कि जिस सिंह के सामने सभी जतु थर थर कांपते थे और उसके सम्मुख आने को उनका साहस नहीं होता था वे ही उसके सामने, आनद विहार कर रहे हैं, चारों ओर गीदड़ बोल रहे हैं, खरगोश, लोमड़ी आदि स्वतन्त्र होकर अपना अपना राज कर रहे हैं, और हरिण आदि मजे में सुख लूट

तात्पर्य—जो व्यक्ति संसार का भला करता है, जिससे प्रत्येक को लाभ ही पहुँचता है उसका सर्वनाश न करना चाहिए। हो सके तो उससे मित्रता करने और प्रीति जोड़ने में ही श्रेय है।

मूल—वारन ! वारन मति करै ये सारँग सुखदानि।
हे मदमाते अधमति ह्वैहै तुव छवि हानि॥
ह्वैहै तुव छवि हानि नहीं छति कछु अलिगन की।
करिहैं प्रभा प्रकास विकच वर वारिज वन की॥
बरनै दीनदयाल जाय जान्यो नहिं कारन।
बिभौ विनासि विसोक बिपिन मे विहरै वारन॥ ७३॥

शब्दार्थ—वारन = (१) हाथी, (२) निवारण करना, रोकना। सारंग = भ्रमर। छति = (क्षति) हानि। विकच = खिला हुआ। वारिज = कमल। बिभौ = (विभव) ऐश्वर्य।

भावार्थ—हे मदोन्मत्त मदबुद्धि हाथी! मद के लोभ से आए हुए इन सुखदायी भ्रमरों को अपने कपोलों पर बैठने से मना मत करो, ऐसा करने से भौंरो की तो कुछ भी हानि नहीं होगी, किंतु तुम्हारी ही शोभा नष्ट होजायगी। भौरो की क्या हानि, अगर तुम हटा दोगे तो ये सुंदर खिलेहुए कमलो के वन की शोभा बढ़ावेंगे। हे हाथी, तुम अपने ऐश्वर्य के चिह्नस्वरूप इन भौरों का नाश करके इस वन में सुख से (विगतशोक होकर) विहार कर रहे हो, इसका कोई कारण समझ में नहीं आता।

तात्पर्य—जिनसे अपनी शोभा बढ़ती है, अपना यश फैलता है, उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

मूल—आयो हुतो सरोज तजि बड़ी दूर तें भौर।
दान देन पीछे रह्यो मारि गिरायो ठौर॥
मारि गिरायो ठौर गौर गज! कछू न कीनो।

जाती थीं और नदी तट के वृक्ष जिसकी सूँड़ और दाँत के छूते ही नष्ट हो जाते थे और जो सबपर गरजता था, सबपर आतंक जमाये रहता था वही श्रेष्ठ हाथी आज साधारण हाथी के बच्चों को देख कर भागता है। आश्चर्य है।

तात्पर्य—समय के फेर से कभी बड़े बड़े लोगों को भी नीचा देखना पड़ता है।

मूल—तोरै मति तरु मूल तें फूल सहित हित नूर।
अरे निरंकुस दुरद बद दुखद महा मद पूर॥
दुखद महामद पूर लखै नहिं याकी सोभा।
फल दल भल सुखदानि सकल जग जातें लोभा॥
बरनै दीनदयाल प्रेम जो सबतें जोरै।
सो उपकारी मानि मीत ता प्रीति न तोरै॥ ७२॥

शब्दार्थ—हित नूर=अपनी शोभा के लिये। नूर=(फा०) शोभा, प्रकाश। निरंकुस=(निर्+अंकुश) जिस पर कोई अंकुश न हो, जिस पर कोई दबाव न हो अर्थात् स्वतंत्र, उच्छृंखल। दुरद=(द्विरद, दो दाँत हों जिसके—बहुव्रीहि समास) हाथी। बद=बुरा। फलदल=फलों का समूह।

भावार्थ—अरे निरंकुश, दुष्ट दुःखदायी मदोन्मत्त हाथी! शोभा बढ़ानेवाले इस फूले हुए वृक्ष को जड़ सहित मत तोड़। सुंदर सुख-दायी फलों को देनेवाले इस वृक्ष की उस शोभा को क्या तू नहीं देखता जिससे सारा संसार मुग्ध होगया है। जो सब से प्रेम रखता है, उसे परोपकारी समझ कर ऐसा काम न करना चाहिए जिससे उसके प्रति मित्रता और प्रेम करने का मार्ग ही सदा के लिये बंद होजाय।

तुम तो कृतघन बने प्रभा तजि अपजस लीनो ॥
वरनै दीनदयाल बूझि वेदन यों गायो ।
सुख यह जग के माहँ समद तें किनको आयो ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—हुतो=था। दान=(१) दान, (२) हाथी का मद। गैार=(अ०) ध्यान। प्रभा=शोभा। समद तें=मतवाले से। बूझि=समझ लो।

भावार्थ—हे हाथी! भौरा कमल को छोड़ कर बड़ी दूर से तुम्हारे आश्रय मे आया था, पर तुमने उसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया, और अपने मद का दान देना ता दूर रहा तुमने उसको उसी जगह मार डाला। उसके द्वारा तुम्हारी शोभा बढ़ती थी, सो उस शोभा से हीन तो हुए ही और कृतघ्न बनकर अपयश भी कमाया। देखो, वेदों ने भी यही गाया है कि इस ससार मे मतवाले से सुख किसको मिल सकता है। इस वात को अच्छे प्रकार समझ लो।

तात्पर्य—बड़ो की शोभा छोटो से ही होती है। अत अपने भरोसे पर आएहुए किसी व्यक्ति को दु ख देना अपनी महत्ता पर बट्टा लगाना है। वृथा घमड में भरकर अपने आश्रितों को निराश करनेवाले को सुख कभी मिल नहीं सकता।

मूल—भूपन तें आदर लयो दल को भयो सिँगार।
अजहूँ तजी न वानि गज सिर पर डारत छार ॥
सिर पर डारत छार भूल डारे मखमल की।
चल्यो छ्ठीली चाल भयो जग सीमा वल की ॥
वरनै दीनदयाल होत नहि कछु रूपन तें।
छुटै न वस सुभाय पाय आदर भूपन तें ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ—दल=सेना। दल को भयो सिँगार=चतुरगिणी सेना मे हाथियों को सेना सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। वानि=

(घर्षा) आदत। छार=धूल। भूल=पाखर। मखमल=एक प्रकार का बहुमूल्य कपड़ा। भयो जग सीमा बल की=संसार में बल की सीमा माने जाने लगे, संसार में सबसे बड़े बली माने गये। रुपन=रूपों से, सिंगार बनाव से।

भावार्थ—हे हाथी, राजाओं ने तुम्हारा समान किया, और चतुरंगिणी सेना के तुम आभूषण भी माने गये, तुम्हारे ऊपर मखमल की भूल भी डाली गई, खूब शान से मस्तानी चाल भी चलने लगे, संसार में सबसे बलवान् भी तुम गिने गये, इतना सब कुछ हुआ, पर तुमने अपने सिर पर (अपनी ही सूँड से) धूल डालने की आदत तब भी नहीं छोड़ी। ठीक है, केवल रूप से कुछ नहीं होता। अपना वंश परंपरागत स्वभाव राजाओं से आदर पाने पर भी नहीं छूट सकता।

तात्पर्य—वंशक्रमागत सहज प्रकृति किसी प्रकार नहीं छूटती।

(तुरग)

मूल—घोरे नीकी चाल चल जातें होय बखान।
छाँड़ि ऐब दै आड़ को पछलत्तड़ु जनि ठान॥
पछलत्तड़ु जनि ठान सान सो कदम दीजिये।
बहकि चलै मति राह सीख सिर मानि लीजिये॥
बरनै दीनदयाल समर तें भागि न भोरे।
मालिक के सँग घाय खाय बनिहै हे घोरे॥ ७६॥

शब्दार्थ—तुरग= (त्वरा=वेग+ग = गमन करनेवाला) शीघ्रगामी, घोड़ा। (विहग शब्द की भाँति इसके भी तीन रूप होते हैं "तुरग, तुरंग, तुरंगम"। इसी प्रकार "भुजग, भुजंग, भुजंगम", भी होते हैं।) बखान=प्रशंसा, बड़ाई। ऐब=

तुम तो कृतघन बने प्रभा तजि अपजस लीनो ॥
बरनै दीनदयाल बूझि बेदन यों गायो ।
सुख यह जग के माहँ समद तें किनको आयो ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—हुतो=था। दान=(१) दान, (२) हाथी का मद। गौर=(अ०) ध्यान। प्रभा=शोभा। समद तें=मतवाले से। बूझि=समझ लो।

भावार्थ—हे हाथी! भौंरा कमल को छोड़ कर बड़ी दूर से तुम्हारे आश्रय में आया था, पर तुमने उसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया, और अपने मद का दान देना तो दूर रहा तुमने उसको उसी जगह मार डाला। उसके द्वारा तुम्हारी शोभा बढ़ती थी, सो उस शोभा से हीन तो हुए ही और कृतघ्न बनकर अपयश भी कमाया। देखो, वेदों ने भी यही गाया है कि इस संसार में मतवाले से सुख किसको मिल सकता है। इस बात को अच्छे प्रकार समझ लो।

तात्पर्य—बड़ों की शोभा छोटों से ही होती है। अतः अपने भरोसे पर आए हुए किसी व्यक्ति को दुःख देना अपनी महत्ता पर बट्टा लगाना है। वृथा घमंड में भरकर अपने आश्रितों को निराश करनेवाले को सुख कभी मिल नहीं सकता।

मूल—भूपन तें आदर लयो दल को भयो सिँगार।
अजहूँ तजी न बानि गज सिर पर डारत छार ॥
सिर पर डारत छार भूल डारे मखमल की।
चल्यो छठीली चाल भयो जग सीमा बल की ॥
बरनै दीनदयाल होत नहिं कछु रूपन तें।
छुटै न बस सुभाय पाय आदर भूपन तें ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ—दल=सेना। दल को भयो सिँगार=चतुरंगिणी सेना में हाथियों की सेना सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। बानि=

बरनै दीनदयाल सुधा-जल प्यास न जावै।
हे कुरग तजि गग कहा मारू जल धावै ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ—देशमारू = मरुस्थल, रेगिस्तान । मुधा = व्यर्थ, कृत्रिम । मारु-जल=मृगतृष्णा का जल ।

भावार्थ—हे हरिन ! जिन्हे तू जल समझ रहा है ये जल की तरगें नहीं हैं। इनके पीछे दौड़ कर क्यों नाहक हैरान होता है। ये तो प्रचड ग्रीष्म के सूर्य की अनेक रग की किरणें हैं (मृग-तृष्णा का जल है ।) इस देश को मरुस्थल समझो। यहाँ न कहीं छाया मिलेगी, न कहीं विश्राम करने को उपयुक्त स्थान ही मिलेगा। हे कुरग, गगा के जल को छोड़कर मृगतृष्णा के पीछे क्या भटकता है ? यह वास्तविक जल नहीं है, केवल देखने ही भर को है, इससे प्यास नहीं बुझ सकती।

तात्पर्य—मनुष्य सुख और आनद की प्राप्ति मे सासारिक विषय वासनाओ का अवलबन लेता है । पर उसकी तृष्णा बुझती नहीं, प्रत्युत और भी बढ़ती ही जाती है। विषय वासना की लिप्सा उसके मन को कृत्रिम आनद का लोभ दिखलाकर अपनी ओर खींचती है सही, पर इससे उसकी तृप्ति नहीं होती, उसके चित्त को विश्राम नहीं मिलता। सच्चा सुख, वास्तविक आनद सासारिक पदार्थों के त्याग एव परमात्मा की उपासना से ही मिल सकता है।

(कस्तूरी मृग)

मूल—तेरे ही विच वस्तु वह जाको जगत सुगध।
खोजत कहा कुरग तू ! अवक आकृत अध ॥
अवक आकृत अध कहा दिसि दिसि भरमै है।
अपनी दिसि अवलोक तबै वाको सुख पैहै ॥

(अ०) अवगुण । आड़ को=अड़ने का । पछलत्तु जनि ठान=पीछे की टाँगों को उठा कर दुलत्ती भी मत झाड़ो । सान (शान) सों=अकड़ कर, सिर ऊँचा करके । बहकना=राह मे कुराह चलना । समर=युद्ध । घाय=(घात) घाव । बनि है=शोभा है । भोरे=भूल कर भी ।

भावार्थ—हे घोड़े ! ऐसी अच्छी चाल चलो जिससे लोग तुम्हारी चाल की प्रशसा करें । अपने अड़ने की बुरी आदत छोड़ दो, दुलत्ती भी मत झाड़ा करो, खूब अकड़कर (सिर ऊँचाकरके) चलो, पर राह छोड़ कर मत चलो । मेरी इन सब शिक्षाओं को शिरोधार्य करो । हे घोड़े ! युद्ध भूमि से तो कभी भूल करके भी मत भागना । अपने स्वामी के साथ चोट खाकर मरने में ही तुम्हारा गौरव है, तुम्हारी शोभा है ।

तात्पर्य—वीर पुरुष अपने मन को पथच्युत होने से रोकते हैं और अपने अवगुणों को दूर कर देते हैं । यही कारण है कि वे किसीसे नहीं डरते, किसीके समुख अपना सिर नीचा नहीं करते । सबके सामने गौरव से सिर उठा कर चलते हैं । जिससे लड़ना होता है समुख लड़ते हैं, पीछे से वार नहीं करते । युद्ध-भूमि मे कभी पीठ नहीं दिखाते, और अपने स्वामी के कार्य के लिये अपने प्राणों को निछावर करना ही अपना परम पवित्र कर्तव्य समझते हैं, इसीमे अपनी शोभा समझते हैं ।

(कुरग)

मूल—धावै कहा कुरग ए नहिं हैं तोय तरग ।
ए तो घोर निदाघ की रवि-किरनें बहु रग ॥
रवि-किरनें बहु रग देश मारू यह जानो ।
इतै न छाया कहीं नहीं विश्राम ठिकानो ॥

कहा केहरी माल ससन के बीच बकैं हैं।
पीछे निंदें नीच मीच को नाहि तकैं हैं॥
बरनै दीनदयाल कठिन दिन आयो ऐसो।
ये बद हद मद करैं जबुकन के गन कैसो॥ ७६॥

शब्दार्थ—काल=समय। शृगाल, जबुक=सियार, गीदड़। कुटिल=दुष्ट। माल=वस्तु। ससन=(शशन) खरगोशों। मीच=(सं० मृत्यु, प्रा० मिच्चु) मौत। तकैं हैं=ताकते, देखते हैं। बद=बुरे, खोटे। हद मद करैं=बहुत घमंड करते हैं।

भावार्थ—यह कैसा उलटा समय आ गया है! गीदड़ भी अब गरजने लगे हैं। ये दुष्ट गाल बजा कर कहते हैं कि हमारे सामने सिंह भी क्या वस्तु है? ये नीच यह नहीं देखते कि इनकी मौत निकट है, किंतु खरगोशों के बीच दम भरते हैं और सिंहों की निंदा करते हैं। देखो तो, यह समय ही ऐसा विपरीत आ गया है कि ये दुष्ट गीदड़ भी अब घमंड में भर कर बहकने लग गए हैं।

तात्पर्य—क्षुद्र प्रकृति के निर्बल मनुष्य शक्तिमतों का बिगाड़ तो कुछ सकते नहीं, सामने देखते ही उनकी नानी मर जाती है, पर पीठ पीछे अपने ही समान लोगों में बड़ी बड़ी डींगें मारते हैं कि वे हमारा क्या कर लेंगे। पीठ पीछे निंदा करना ही उनका काम है।

(सूकर)

मूल—सुनि रे सूकर नीचतर कहा करै अभिमान।
जीत्यो मे यो बकत क्यो अति मृगपति बलवान॥
अति मृगपति बलवान जगत जानै तिहि बल को।
तू मलीन मतिहीन सदा सेवै मलथल को॥

बरनै दीनदयाल आपने बल को गुनि रे।
कहाँ प्रबल मृगराज कहाँ लघु सूकर सुनि रे॥ ८०॥

शब्दार्थ—नीचतर=नीच से भी नीच। मृगपति=सिंह।

भावार्थ—अरे अधम सुअर! सुन, तू इतना इतराता क्यों है? "मैंने सिंह को भी जीत लिया" ऐसा कहकर व्यर्थ क्यों डींग मारता है। सिंह को जीतना कोई साधारण काम नहीं है। वह बड़ा बलवान् जंतु है। सारा संसार उसकी सामर्थ्य से परिचित है। तू तो अशुद्ध एवं निर्बुद्धि है और सदा गंदे स्थलों पर निवास करता है। अरे नीच सुअर! जरा अपने बल का विचार तो कर, कहाँ प्रबल बलशाली सिंह और कहाँ तू तुच्छ सुअर, तेरी और सिंह की क्या बराबरी।

तात्पर्य—(अपनी जितेंद्रियता आदि की व्यर्थ डींग मारनेवाले नीच लोगों पर यह अन्योक्ति घटित होती है।) अरे नीच, तू अपनी जितेन्द्रियता पर क्यों व्यर्थ इतराता है। इंद्रियों को वश में करना कोई आसान काम नहीं है। सारा संसार—बड़े बड़े योगीश्वर—इस बात से परिचित हैं। जब बड़े बड़े महात्मा, तपस्वी, मुनिजन तक अपने को संयत नहीं रख सके तो महा-पापी, निर्बुद्धि, और दुष्कर्मों में ही लिप्त तेरी सामर्थ्य क्या कि तू इंद्रियविजयी हो सके?

(शशक)

मूल—बाँके सर नाके धरे करे भयानक भेख।
किते छिप्यो तृन ओट मैं, ससे! खोलि दृग देख॥
ससे खोलि दृग देख भाग आनँद घन बन मे।
ना तो तोको सही हन्यो चाहत कोउ छन मे॥
बरनै दीनदयाल कहा ह्वैहै दृग ढाँके।
डर छुटिहै नहिं व्याध लिये सर आवत

शब्दार्थ—बाँके=तीक्ष्ण। नाके=कोने। बाँके सर नाके घेरे=अपने तेज बाणों से तुझको घेरे हुए। ससे=हे शशक! न तो=(न तु) नहीं तो। सही=सचमुच।

भावार्थ—हे शशक! तृण (घास) की आड़ में क्या छिपा बैठा है, जरा आँख खोलकर सामने तो देख। अपने तीक्ष्ण बाणों को सधान कर यह विकराल मूर्ति व्याधा तुझे घेरे हुए है। अपना भला चाहता है तो किसी आनद पूर्ण घने वन मे भग जा (जहाँ किसीका भय नहीं है)। नहीं तो सचमुच कोई व्याधा तुझको क्षण भर मे मारना ही चाहता है। अरे शशक, आँखे मूँद लेने से क्या होगा? व्याध (बहेलिया) तो तीक्ष्ण बाण लिये तुझे मारने के लिये आता ही है, इस प्रकार देखी अनदेखी करने से तेरा डर नहीं छूट जायगा।

तात्पर्य—(अपने को अमर समझकर सुखभोग मे ही लिप्त रहनेवाले व्यक्ति को चेतावनी है।) अरे मनुष्य, तू यह जानतेहुए भी कि तेरी मौत निकट है इस प्रकार अजान बन कर क्यो बैठा है? अब भी समय है। जा शीघ्र 'सच्चिदानद' की शरण ले। इस प्रकार अनजान बनने से तो तू अमर हो नहीं सकता। मृत्यु तुझे घेरे है। वह अपना काम करेगी ही।

(दोहा)

यह अन्योक्ति सुकल्पद्रुम साखा दुतिय बखानि।
विरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि॥ ८२॥

इति श्रीकाशीनिवासी दीनदयालगिरि विरचिते
अन्योक्ति—कल्पद्रुम—ग्रन्थे
द्वितीया शाखा समाप्ता

तीसरी शाखा

मनुष्य जाति विशेष

(ब्राह्मण)

मूल—हे पांडे यहि बात को को समुझै या ठाँव।
इतै न कोऊ है सुधी यह ग्वारन को गाँव॥
यह ग्वारन को गाँव नाँव नहि सूधे बोलैं।
बसै पसुन के सग अग ऐंडे करि डोलै॥
बरनै दीनदयाल छाँछ भरि लीजे भांडे।
कहा कहो इतिहास सुनै को इत हे पांडे॥ १॥

शब्दार्थ—पांडे=(पाण्डेय) पडित जी, (सदसद्विवेकिनी बुद्धि को 'पडा' कहते हैं। जिसमे भले बुरे का विवेक हो वह 'पाण्डेय' या 'पडित' है)। ठाँव=(स्थान) जगह। इतै=यहाँ। सुधी=(सु=अच्छी+धी=बुद्धि) बुद्धिमान्। अग ऐंड़े करि=अकड़ कर। भांडे=(स० भाण्ड) वर्तन में।

भावार्थ—हे पडित जी! यह तो अहीरो की बस्ती है, बुद्धिमान् तो यहाँ कोई है ही नहीं। ये ग्वाले लोग पशुओ (मूर्खों) के साथ रहते हैं, बड़ी शान से अकड़ अकड़ कर चलते हैं, और सीधे मुँह बात भी नहीं करते। इसलिये आप यहाँ कथा पुराण क्या बाँचते हो? कोई सुने भी तो? आपकी विद्वत्ता को समझनेवाला पडित यहाँ कोई नहीं है। हाँ, यहाँ आप छाँछ जितनी चाहें ले सकते हैं (पर गुणों की कदर यहाँ नहीं होने की)

तात्पर्य—विद्वान् या कलावान को चाहिए कि अपने गुणों को मूर्खों के समाज मे न दिखलाकर किसी गुणग्राही सज्जन के समुख प्रकाश करे।

अलंकार—अन्योक्ति।

(क्षत्रिय)

मूल—पैहौ कीरति जगत मे पीछे धरौ न पाँव।
छत्रीकुल के तिलक हे महासमर या ठाँव॥
महासमर या ठाँव चलैं सर, कुंत, कृपानैं।
रहे बीरगण गाजि पीर उर में नहिं आनै॥
बरनै दीनदयाल हरखि जौ तेग चलैहौ।
ह्वै हौ जीते जसी मरे सुरलोकहि पैहौ॥ २॥

शब्दार्थ—सर=(शर) बाण। कुंत=भाला, बरछी। कृपाण=तलवार। गाजि रहे हैं=गर्ज रहे हैं, ललकार रहे हैं। तेग =(अरबी 'तेग') तलवार।

भावार्थ—हे क्षत्रिय शिरोमणि! यहाँ बड़ा भीषण युद्ध हो रहा है, बाणों, भालो और तलवारो के असख्य प्रहार चारो ओर से हो रहे हैं, वीरगण अपने मन मे भय को दूर कर (निर्भय होकर) एक दूसरे को ललकार रहे हैं और पीड़ा-को कुछ ध्यान ही में नहीं लाते। दीनदयालजी कहते हैं कि यदि प्रसन्न चित्त से (उत्साहपूर्वक) युद्ध करोगे तो जीतने पर यश प्राप्त करोगे। अगर मर गये (तो भी कोई चिंता नहीं) तुम्हे स्वर्गलोक मिलेगा।

तात्पर्य—सत्कार्य में कभी पीछे न हटना चाहिए। जीजान से प्रयत्न करनेपर यदि सफलता मिल गई तो अच्छा ही है, न भी

मिली तो दु:ख की कोई वात नहीं। अपने मन में कर्तव्य पालन करने का सतोप तो होगा।

(वैश्य)

मूल—वारे को तू वनिक है सोदा लै इहि हाट।
चौमुख वनो वजार है वहु दुकान की ठाट॥
वहु दुकान की ठाट कोऊ साँचो कोऊ झूठो।
आछो भाँति विचारि वस्तु लै वड़ी अनूठी॥
वरनै दीनदयाल खोउ धन वृथा न प्यारे।
घर आवैगो काम इते सव लूटनवारे॥ ३॥

शब्दार्थ—वारे को=वचपन से ही। वनिक=(वणिक्) वनिया, व्यापारी। हाट=(हट्ट) वाजार। चोमुख=(चतुर्मुख) चारों दिशाओं में, चौक। अनूठी=अनोखी, अद्भुत।

भावार्थ—हे वैश्य, तू खानदानी वनिया है (अपने काम में दक्ष और अनुभवी है), अत इस वाज़ार में सौदा कर ले। देख, चौमुखा वाजार लगा हुआ है, और वहुत सी दूकानें सजी हुई हैं, किसी दूकान का माल खरा है, किसी का खोटा। अत हे प्यारे, खूव सोच विचार कर कोई वड़ी अनुपम वस्तु ले, और निस्सार वस्तुओं में व्यर्थ धन मत खर्च कर। यहाँ तो सव लूटनेवाले हैं (अत अपने धन को सुरक्षित रख)। (सौदा करने के उपरात) यदि धन वच भी गया तो घर जाने पर काम आवेगा।

तात्पर्य—ससार एक वाज़ार है, समय धन है, और सदसत्कर्म ही इस हाट के विक्रय्य पदार्थ हैं। अपने समय का एक पल भी व्यर्थ न खोकर किसी सत्कार्य में—परमात्मा के भजन में—लगाना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि इस ससाररूपी हाट के लुटेरे हैं और मनुष्यों के चित्त को सत्कार्यरूपी अनुपम वस्तु से

हटा कर असत्कर्मरूपी बुरी वस्तु की ओर आकृष्ट करते हैं। इस लिए विवेकी पुरुष का कर्तव्य है कि इन लुटेरों से अपने समय-रूपी धन की रक्षा करे और इहलोक परलोक दोनों मे सुयश प्राप्त करे।

मूल—भारी भार भरयो बनिक तरिबो सिंधु अपार।
तरी जरजरी फँसि परी खेवनिहार गँवार॥
खेवनिहार गँवार ताहि पर पौन झकोरे।
रुकी भँवर में आय उपाय चले न करोरै॥
बरनै दीनदयाल सुमिरि अब तू गिरधारी।
आरत जन के काज कला जिन निज सभारी॥ ४॥

शब्दार्थ—भार=बोझ। तरी=नैया, छोटी नाव। जरजरी=(जर्जरी) पुरानी। खेवनिहार=खेनेवाला, मल्लाह। पौन=(पवन) वायु। भवर=पानी का चक्करदार बहाव। जिन निज कला सँभारी=जिन्होने अपनी कला प्रकट की, अवतार धारण किया। आरत= (आर्त)दुःखी।

भावार्थ—हे वणिक, तुम्हें अपार समुद्र तरना है, नैया है तुम्हारी बहुत पुरानी, उस पर बेअन्दाज बोझ लाद दिया है, माँझी भी महा मूर्ख है, तिसपर भी आँधी के झोंके से डगमगाती हुई भँवर मे आकर रुक गई है और करोड़ो उपाय करनेपर भी भँवर से उसका निकलना असमभव है। बस अब केवल एक ही उपाय रह-गया है। वह यह कि अब तुम भक्तो के कष्टों को दूर करने के निमित्त अवतार धारण करनेवाले भगवान् का स्मरण कर लो, (तुम्हारा,कष्ट अवश्य दूर होगा)।

तात्पर्य—सासारिक मोहमाया मे फँसे हुए व्यक्ति के प्रति कवि का कथन है कि अभी तुम्हें अपार भवसागर को तरना है,

वृद्धावस्था सिर पर सवार है, पापों का बोझ अपने ऊपर लादे हुए हो, काम क्रोधादि तुम्हारे चित्त को और भी चलायमान कर रहे हैं, तिसपर तुम्हारा पथप्रदर्शक भी महा मूर्ख है, अब तुम मायाजाल मे इस प्रकार फॅस गये हो कि अनेक प्रयत्न करनेपर भी तुम्हारा इससे उद्धार पाना कठिन है। बस, अब ईश्वर का स्मरण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहा, अत भक्त-भय-भजन भगवान् का भजन कर लो।

(माली)

मूल—माली तेरे बाग मे चदन लगो विसाल।
ताप करै किन दूरि तू खोजत कितै बिहाल॥
खोजत कितै बिहाल तिहूँ गुन यामै देखो।
कटु अरु सीत सुगध भली विधि करो परेखो॥
बरनै दीनदयाल भूलि भरमै कित खाली।
जाको बरनै वेद सोई यह चदन माली ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—चदन=चदन वृक्ष। विशाल=बड़ा। ताप=गर्मी, दु ख। किन=क्यो नहीं। कितै=किधर। बिहाल=व्याकुल होकर। तिहूँ=तीनों। परेखो करो=(परीक्षा) जॉच करो। भरमै=भ्रमता है, भटकता है।

भावार्थ—हे माली, तू शीतलता की खोज मे व्याकुल होकर कहाँ मारा मारा फिर रहा है ? तेरे ही बगीचे में बड़ा भारी चदन का वृक्ष लगा हुआ है, उससे तू अपने तापजन्य दु ख को दूर क्यों नहीं करलेता ? अच्छे प्रकार विचारपूर्वक देखेगा तो तुझ को मालूम होगा कि इस (चदन) मे ताप दूर करने के लिये तीनो उपयुक्त गुण—कड़ुवापन, शीतलता और सुगध—वर्तमान हैं। तू व्यर्थ ही कहाँ भटकता फिरता है, यह वही चदन-वृक्ष है जिसकी प्रशसा वेदों मे गाई गई है।

विशेष—चंदन में कटुता, शीतलता और सुगंध ये तीन गुण होते हैं, और आयुर्वेद के अनुसार ताप (गर्मी) से होनेवाले रोगों के लिये वही औषधि लाभप्रद हो सकती है जिसमें उक्त तीनों गुण वर्तमान हों।

तात्पर्य—परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के अन्त करण में वर्तमान है। उसकी खोज में दूर दूर भटकने की आवश्यकता नहीं। उस त्रिगुणात्मक (सत्व-रज-तमो गुण से युक्त) परमात्मा का अपने ही मन में ध्यान करो। इससे तीनों प्रकार के (दैहिक, दैविक, भौतिक) ताप दूर हो जाएँगे।

मूल—आली चंदन की न क्यों पाली माली क्रूर।
मतवाली मति तो भई सींचत बेरि, बबूर॥
सींचत बेरि, बबूर दुखद कटक हैं ताके।
सेवन क्यों नहिं अंध गंध मुदकर वर जाके॥
बरनै दीनदयाल सबै श्रम जैहै खाली।
पालत है किन ताप-समन चंदन की आली॥ ६॥

शब्दार्थ—आली=पंक्ति, कतार। क्रूर=नीच। मुदकर=आनंद देनेवाले। खाली=व्यर्थ, निष्फल। ताप-समन=गर्मी शांत करनेवाले।

भावार्थ—हे नीच माली, तू चंदन के वृक्षों की कतार क्यों नहीं पालता? जान पड़ता है कि दु खदायी कँटीले बेर और बबूर वृक्ष सींचते सींचते तेरी बुद्धि मतवाली होगई है। अरे अंधे, उस चंदन के वृक्ष की सेवा क्यों नहीं करता जिस की सुगंध आह्लाद-कर है।

तेरा बेर और बबूर सींचने का सारा परिश्रम निष्फल जायगा, अत ताप को नाश करनेवाले चंदन के वृक्षों को क्यों नहीं सेता।

तात्पर्य—प्रत्येक कार्य को उसके हानिलाभ पर विचार करके आरभ करना चाहिए, जिस कार्य का परिणाम हितकर हो उसी मे श्रम करना श्रेयस्कर है।

मूल—माली नीव रसाल सँग लाय करी अनरीत।
काग आम, पिक नीव पै बैठारे विपरीत॥
बैठारे विपरीत रीति तू कछू न बूझै।
स्याम स्याम सब एक नहीं ऐगुन गुन सूझै॥
बरनै दीनदयाल कौन यह तेरी चाली।
कोकिल तें करि ऊँच काग को मानत माली॥७॥

शब्दार्थ—रसाल=आम। अनरीति=(अरीति) अनुचित। पिक=कोकिल। विपरीत=विरुद्ध। ऐगुन=अवगुण।

भावार्थ—हे माली, पहिले तो तुमने आम और नीम के वृक्ष एक साथ लगा कर ही अनुचित किया (दोनो को अलग अलग लगाना चाहिए था), फिर आम के वृक्ष पर कौए को, तथा नीम के पेड़ पर कोकिल को बैठा कर और भी उलटा काम किया। (उचित तो यह था कि कोकिल को आम पर बैठाते और काग को नीम पर) तुमको गुण और अवगुण की पहिचान नहीं है। किससे कैसा व्यवहार करना चाहिए यह भी तुम नहीं जानते। काले काले सभी एकसे नहीं होते। हे माली, यह तुम्हारा कैसा वर्ताव है जो तुम कौए को कोकिल से बढ़कर मानते हो।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति ऐसे लोगों पर है जिनके लेखे "सब धान बाइस पसेरी" हैं। जो विद्वान् और मूर्ख को एकसा समझते हैं—विद्वानों का कोई विशेष सम्मान नहीं करते।

(कुलाल)

मूल—कैसो मदमे है भरो याको करो पिछान।
यहि कुलाल को देखिये अहो प्रपच-निधान॥
अहो प्रपच-निधान रच काहू नहिं मानै।
आपै बने बिरञ्चि समो बहु रचना ठानै॥
बरनै दीनदयाल समै अब आयो ऐसो।
विधि की समता करै कुलाल कूर यह कैसो॥ ८॥

शब्दार्थ—मद=घमड। पिछान=पहिचान। कुलाल=कुम्हार। प्रपच-निधान=(१) ब्रह्मा, जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्वो से सारी सृष्टि (प्रपच) रचता है, (२) कुभकार, जो उक्त पाच तत्वो मे ही नाना प्रकार के पदार्थो की सृष्टि करता है। रच=थोड़ा भी। आपै=स्वय ही। समता=बराबरी।

भावार्थ—यह कुम्हार किस प्रकार घमड से भरा है, जरा इसकी परख तो करो। इसे देखो, ओह! पचतत्वो के सहारे कैसी कैसी रचना करता है। बडा रचनाकार है, किसी को कुछ समझता ही नहीं है। आप स्वय ब्रह्मा समान बना हुआ बहुत प्रकार के भाँडे बनाता है। दीनदयाल कहते हैं कि अब ऐसा समय ही आगया है। (देखो) यह कुम्हार कैसी नीच प्रकृति का है कि ब्रह्मा की बराबरी करता है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति मन पर घटती है, जो अनेक प्रकार के सकल्प विकल्प किया करता है।

(दरजी)

मूल—दरजी सीयत तोहि गे दिन बहु बरने कौन।
कौन बीच घसि क्या करे अंधकार इहि भौन॥

अंधकार इहि भौन आय कै छाय रह्यो है।
टूटि गई है सुई सूत अरुझाय रह्यो है॥
वरनै दीनदयाल लोग सब अपने गरजी।
जामा जीरन भयो कहा अब सीवै दरजी॥ ६॥

शब्दार्थ—कौन=(कोण) कोना। भौन=(भवन) घर। गरजी=स्वार्थी, मतलबी। जामा=(फा०) कपड़ा। जीरन=(जीर्ण) पुराना।

भावार्थ—हे दरजी, कपड़ा सीते सीते तेरी न जाने कितनी अवस्था बीत गई। इस घर में तो अंधकार फैला हुआ है, सुई टूट गई है, सूत उलझ गया है, तू यहाँ कोने मे बैठा हुआ क्या कर रहा है? हे दरजी, यह कपड़ा तो पुराना हो चुका है अब तू इसे क्या सीता है? हाँ, ठीक है, सारा ससार स्वार्थी है। अपनी गरज की धुन में लाभ हानि सूझते ही नहीं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति मोह मे फँसे हुए मनुष्य पर घटती है जो वृद्ध होने पर भी ईश्वर-भजन मे न लगकर सासारिक व्यवहारो मे ही उलझा रहता है।

(रजक)

मूल—एरे मेरे धोबिया तोसो भाखत टेरि।
ऐसी धोनी धोइ जो मैलो होय न फेरि॥
मैलो होइ न फेरि चीर इहि तीर न आवै।
साबुन लाउ विचार मैल जातें छुटि जावै॥
वरनै दीनदयाल रग चढ़िहै चहुँ फेरे।
जो तू दैहै धोय भले जल उज्जल एरे॥ १०॥

शब्दार्थ—चीर=वस्त्र। तीर=तट (तालाब या नदी के तट पर) साबुन=(अरबी) कपड़ा साफ करने का मसाला। लाउ=लगाओ। चहुँ फेरे=चारों ओर।

भावार्थ—अरे धोबी, तुझसे मैं पुकारके कहता हूँ कि कपडे इस प्रकार धो जो फिर मैले न हो, और उनको (धोने के लिये) फिर तालाव (या नदी) के तट पर न जाना पडे। देख, खूब विचार कर (ठीक अंदाज से) साबुन लगाना, जिससे कपडो का मैल छूट जाय। अगर तू इन कपड़ो को साफ जल से धो देगा तो इनमें रग अच्छी तरह से चढेगा।

तात्पर्य—यदि अपने अत करण को निष्कपट और पवित्र बना लोगे तो फिर जन्म न लेना पड़ेगा, स्वच्छात्मा होने पर ही ईश्वर-कृपा का रग चढेगा और तुम मुक्त हो जाओगे।

(नट)

मूल—धारत नट बहु स्वाँग हो कला अनेक प्रवीन।
कबहूँ करी न वह कला जहाँ कला सब लीन॥
जहाँ कला सब लीन कला सफला है सोई।
और कला जग चला जथा चपला घन होई॥
बरनै दीनदयाल भागि जनि आगि निहारत।
धरे सती को स्वाँग कहा पग पीछे धारत॥ ११॥

शब्दार्थ—प्रवीन=(प्रवीण) चतुर। वह कला=ईश्वर-भजन। जहाँ कला सब लीन=जिस कला मे सभी कलाओ का समावेश हो जाता है। चला=चचला, नाशमान क्षणस्थायी। चपला=बिजली।

भावार्थ—अरे नट, तुम अनेक प्रकार के स्वाँग रचते हो, और नाट्यकला मे दक्ष हो। किंतु तुमने कभी वह कला (ईश्वर भजन) नहीं की जिसमें सभी कलाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि कला तो वही फल-दायिनी है, और सब कलाएँ ऐसी ही क्षणस्थायी (अतएव निष्फल) हैं जैसे बादल में बिजली।

अगर तुमने सती का स्वाँग (वेष) रचा हो तो पीछे क्यों हटते हो ? आग को देख कर भागो मत ।

तात्पर्य—इस संसार में जन्म लेकर मनुष्य को अनेक कर्म करने के साथ साथ कुछ हरिभजन भी अवश्य करना चाहिए। बिना ईश्वर के भजन के अन्य सब कर्म निष्फल हैं। यह संसार कर्मभूमि है। अतः मनुष्यदेह धारण करके कर्तव्य पालन करने से हटना सरासर अनुचित है।

मूल—राजा ह्याँ है आँधरो मूक बधिर अज्ञान।
सभा सबै तैसी भरी ताने कहा वितान॥
ताने कहा वितान अरे नट बुद्धि विहीने।
लखै सराहै कौन सुनैगो, दृग-श्रुति हीने॥
बरनै दीनदयाल सुनाट्य कला सुर बाजा।
ह्वैहैं बन के फूल, भूल मति तू गुनि राजा॥ १२॥

शब्दार्थ—ह्याँ=(यहाँ) इस सभा में। वितान=चँदोवा। दृग=आँख। श्रुति=कान। सुर=(स्वर) षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, संगीत के सप्त स्वर (सा, रे, ग, म, प, ध, नि)। बाजा=(सं० वाद्य)। बन के फूल ह्वैहैं=निरर्थक हो जाएँगे, किसी के काम न आएँगे। (जैसे वन में फूल खिलते हैं किंतु गुणग्राहक के अभाव में वे किसीके काम नहीं आते और योंही गिरकर सूखजाते हैं वैसे ही ये सब नाट्य-कला आदि भी इन मूर्खों की सभा में व्यर्थ ही जाएँगे, कोई इन को पूछेगा भी नहीं)। गुनि राजा=राजा समझ कर।

भावार्थ—अरे निर्बुद्धि नट, यहाँ राजा अंधा, गूँगा और बहिरा है, और सारी सभा ऐसे ही लोगों से भरी है, अतः तू अपनी कला कुशलता प्रदर्शित करने के लिए यहाँ चँदोवा क्यों तान रहा है ?

यहाँ तो सब आँख कान से रहित हैं, कौन देखेगा, कौन सुनकर तेरी कला की प्रशंसा करेगा ? तू इसे राजा समझ करके ही भूल मत जा (यह राजा है तो क्या, गुणग्राही तो नहीं है)। गुण-ग्राहियों के अभाव में तेरी यह सब सुंदर अभिनय कुशलता, गाना बजाना आदि व्यर्थ ही जाएँगे (कोई इनकी सराहना नहीं करेगा)।

तात्पर्य—गुणग्राहकता से अनभिज्ञ एवं अरसिक व्यक्ति कितना ही धनी क्यों न हो उसके सामने अपने गुण प्रकट करना निष्फल है।

दारुनटी (कठपुतली)

मूल—तेरी है कछु गति नहीं दारु चीर को मेल।
करै कपट पट ओट में वह नट सबही खेल॥
वह नट सबही खेल खेलि फिरि दूर रहै है।
द्वै बिन बनै प्रपंच कहो को कूर कहै है॥
बरनै दीनदयाल कला यापै बहुतेरी।
जो जो चाहै नाच कढ़ै सो सो गति तेरी॥ ९३॥

शब्दार्थ—दारु=(सं०) लकड़ी। चीर=वस्त्र। पट=पर्दा, (माया)। ओट=आड़। वह नट=सूत्रधार, जो कठपुतलियों को डोरे से बाँध कर पर्दे की आड़ से उन्हें नाना प्रकार के नाच नचाता है, (ईश्वर जो इस संसाररूपी नाट्यशाला का सूत्रधार है)। द्वै बिन=दो के बिना अर्थात् (१) कठपुतली और सूत्रधार के बिना, (२) जीव और ईश्वर अथवा प्रकृति और पुरुष के बिना। प्रपंच=(१) कठपुतलियों का नाच, (२) पंच तत्त्वों से निर्मित यह सृष्टि, पांचभौतिक सृष्टि। कूर=(सं० क्रूर) मूर्ख, मंदबुद्धि। यापै=उस (१) सूत्रधार या (२) ईश्वर के पास।

भावार्थ—अरी कठपुतली, तू तो लकडी और वस्त्र से निर्मित एक खिलौना मात्र है, तुझमें यह सब नाच नाचने की कहाँ सामर्थ्य ? पर्दे की आड में स्थित सूत्रधार ही अनेक प्रकार के कपट करता हुआ तुझे ये सब खेल खिला रहा है। तुझे अच्छे प्रकार नाच नचाकर वह स्वयं अलग हो जायगा। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो यह कहे कि कठपुतलियों का नाच बिना सूत्रधार और कठपुतलियों के सपन्न हो सकता है ? (अर्थात् कठपुतलियाँ बिना किसी की सहायता के स्वयं नाचती हैं, ऐसा कहना अज्ञता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है)। सूत्रधार अनेक कलाएँ जानता है। वह जिस जिस प्रकार से चाहेगा उसी प्रकार से तुझे नाच नचावेगा।

तात्पर्य—समस्त सृष्टि द्वन्द्वमय है। बिना जीव और ईश्वर के (किंवा प्रकृति और पुरुष के) यह विश्वप्रपंच चल ही नहीं सकता। इनमें से जीव पाँचभौतिक पुतला मात्र है। बिना ईश्वर की सहायता के उसमें कुछ करने की सामर्थ्य नहीं है। ईश्वर ही स्वयं निर्लिप्त रहते हुए माया के पर्दे से आच्छन्न हो जीव को नाना प्रकार से नचाता है। अकेला जीव कुछ नहीं कर सकता।

(नटी)

मूल—नीकी विधि चलि री नटी अति सूक्ष्म इह राह।
राम राम मुख, ध्यान पद ह्वैहै तबै निबाह॥
ह्वैहै तबै निबाह सबै गो-गोचर अपने।
बस करिकै चलि सुध नहीं चित चालै सपने॥
बरनै दीनदयाल डिगे फिरि खोज न जी की।
ये सब देखनिहार न ह्वैहैं उपमा नीकी॥ १४॥

शब्दार्थ—नीकी विधि=अच्छे प्रकार, सावधानी से। सूक्ष्म=(सूक्ष्म) पतली। इह राह=यह (रस्सी का) मार्ग (वह

रस्सी जिस पर चढ़ कर नट लोग नाच करते है)। गो=इन्द्रिय। गोचर=इन्द्रियो के विषय। डिगे=रस्सी से पैर फिसलने से। फिर खोज न जी की=फिर प्राणो का पता न चलेगा, अर्थात् तुम मर जाओगी। न दैहैं उपमा नीकी=अच्छी उपमा न देंगे, निंदा करेंगे।

भावार्थ—अरी नटी, इस अत्यन्त सूक्ष्म रस्सी के मार्ग में खूब सावधान होकर चल। मुख से तो ईश्वर का नाम ले, और अपने पैरो पर ध्यान रख, तभी काम बनेगा। सभी इन्द्रियो (५ ज्ञानेन्द्रियों और ५ कर्मेन्द्रियो) और उनके (रूप, रस आदि) विषयो को अपने वश में करके सीधी हो कर चल, और स्वप्न में भी अपने चित्त को चलायमान न कर। अगर कहीं तनिक भी चूकने से तेरा पैर फिसल पड़ा तो फिर प्राणो की खैर नहीं। (प्राणो से तो हाथ धोना ही पडेगा, साथ ही) दर्शक-समुदाय भी तेरे कर्तव्यो की प्रशंसा न करेगा।

तात्पर्य—कर्मपथ बड़ा विकट है। जितेन्द्रिय होकर और परमात्मा का नाम लेकर बड़ी सावधानी से अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर होने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। जहां चित्त तनिक भी चलायमान हुआ तहां अपनेको कर्तव्यच्युत ही समझो। कर्तव्यभ्रष्ट व्यक्ति को इस ससार मे अमित लाञ्छना एव निंदा सहनी पड़ती है।

(ग्वालिनी)

मूल—वारि विलोवै, डारि दधि अरी आँधरी ग्वारि।
हैहै श्रम तेरो वृथा नहिं पैहै घृत हारि॥
नहिं पैहै घृत हारि हँसैगी सखी सयानी।
तू अपने मन मान रही घर की ठकुरानी॥

वरनै दीनदयाल कहा दिन योंही खोवै।
पछितैहै री अन्त कत ढिग बारि बिलोवै॥ १५॥

शब्दार्थ—वारि=जल। बिलोवै=मथती है। हारि=थकने पर भी, हैरान होकर भी। सयानी=(सज्ञानी) चतुर। ठकुरानी= मालकिन, स्वामिनी। कत ढिग=अपने पति के पास जाने पर।

भावार्थ—अरी अधी ग्वालिन! तू दही को छोड़कर पानी को क्या मथ रही है? तेरा परिश्रम व्यर्थ ही जायगा, मथते मथते थक जाओगी तब भी तुमको घी नहीं मिलेगा, तुम्हारी हैरानी को देख कर चतुर सखियाँ तुम पर हँसेंगी। तू अपनेको ही घर की स्वामिनी समझे बैठी है। इस प्रकार जल मथ मथ कर सारा दिन योंही (व्यर्थ ही) नष्ट कर रही है। पर जब अपने पति के पास जायगी (और वह तुझसे पूछेगा कि आज दिन भर क्या किया) तब अन्त में तुम्हें अपने बेकार परिश्रम के लिये पछताना पड़ेगा। (इसलिये अभी चेत जा)।

तात्पर्य—शरीर अपने वश का नहीं है। न जाने कब उसका नाश हो जाय। इसलिये जबतक प्राण हैं तबतक ईश्वर-भजन, परोपकारादि सत्कर्मों मे ही अपने जीवन का सदुपयोग करना समीचीन है। व्यर्थ हास विलास मे ही समय नष्ट करने से जीवन सफल हो नहीं सकता। साराश यह कि नरदेह पाकर यदि सुकर्म न किया तो मृत्यु के अनतर परमात्मा के सामने अपने कृतकर्मों के लिये पछताना पड़ेगा।

विशेष—इस अन्योक्ति द्वारा कवि ने केवल द्वैतवाद के सिद्धात ही को पुष्ट नहीं किया है, किन्तु अज्ञानता के वश करणीय और लाभदायक कर्तव्य की उपेक्षा कर अनुचित एव निष्फल अथवा परिणाम-दुःखद कार्यों की ओर झुकनेवाले व्यक्ति को चेतावनी भी दी है। यही सच्चा रहस्य-वाद है।

(किरातिनी)

मूल—गुंजन को बन देखिकै मुकुतन दीनो त्यागि।
अरी अबूझ किरातिनी धिक धिक तेरी लागि॥
धिक धिक तेरी लागि न पेगुन गुन पहिचानै।
ऊपर ही के रंग ठगी मति मूढ़ न जानै॥
बरनै दीनदयाल परीं यह तो सब कुंजन।
कौडी याको मोल लाल लखि भूलि न गुंजन॥ १६॥

शब्दार्थ—गुंजा=घुँघुची। मुकुतन=मोती। अबूझ=(अबोध) बेसमझ। किरातिनी=भिल्लिनी। लागि=लगन, प्रेम। पेगुन=(अवगुण)।

भावार्थ—अरी बेसमझ किरातिनी, तूने गुंजों का बन देखकर मोतियों को छोड़ दिया। तेरे इस प्रेम को धिक्कार है। हे मन्दमति! तू गुण अवगुण कुछ नहीं पहिचानती, केवल इसके बाहरी (लाल) रंग को ही देखकर तेरी बुद्धि छली गई है। मूर्खा! तुझे क्या यह ज्ञात नहीं है कि ये तो सब कुंजों में गिरी पड़ी मिल सकती हैं और इनको कोई कौडी के मोल भी नहीं खरीदता? अतः केवल इनकी लालिमा ही देखकर मत भूल जा।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति उन व्यक्तियों के प्रति कही गई है जो बाह्य सौंदर्य को देखकर ही ठगे जाते हैं। यह ठगा जाना वस्तुओं और मित्रों दोनों के संग्रह के संबंध में लागू हो सकता है। सारांश यह कि वास्तविक गुणों की परख किये बिना न तो कृत्रिम पदार्थों का संग्रह ही करना उचित है, न केवल वेषभूषा से ही बिना उसके हृदय की थाह लगाये किसी व्यक्ति को सज्जन समझकर मित्र ही बनाना उपयुक्त है। ऐसे कृत्रिम पदार्थों और पाखंडी मनुष्यों का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि इनकी कमी नहीं है।

(पनिहारिन)

मूल– पनिहारी इहि सर परे लरति रही सब पॉह।
रीतो घट लै घर चली उतै मारिहै नाह॥
उतै मारिहै नाह काह तिहि उत्तर दैहै।
रोय रोय पति खोय फेरि सर पै फिरि ऐहै॥
बरनै दीनदयाल इतै हँसिहैं सब नारी।
ख्वारी दुहुँ दिसि परी अरी ग्वारी पनिहारी॥ १७॥

शब्दार्थ—पॉह=(स० प्रति) से । रीतो=(स० रिक्त) खाली। नाह=(नाथ) स्वामी। पति खोय=प्रतिष्ठा खोकर। ख्वारी=(फा०) बरबादी, सर्वनाश। ग्वारी=गँवारी।

भावार्थ—अरी गँवार पनिहारी! इस तालाब मे आकर सबसे लड़ती रही, और जल भी नहीं भरा। खाली घडा लेकर घर लौट रही हो। वहाँ जब तुम्हारा पति तुमको मारेगा (और पूछेगा कि जल क्यों नहीं लाई) तो तुम उसको क्या उत्तर दोगी। आखिर रो धोकर अपनी इज्जत मिट्टी मे मिलाकर फिर इस तालाब को लौट आना पड़ेगा। यहाँ आने पर सब स्त्रियाँ भी तुम पर हँसेंगी और तुमको घर और बाहर दोनों ओर से लज्जित होना पड़ेगा।

तात्पर्य—इस ससार मे जन्म लेकर अपने जीवन को दुराचार में लगानेवाले व्यक्ति के प्रति कवि की चेतावनी है कि रे मूर्ख, जीवन भर तू दुष्कर्म में लगा रहा, और एक भी सत्कर्म नहीं किया। मरने पर जब तू परमपिता परमात्मा के पास खाली हाथ जायगा, तो उसे अपने कर्मों के लिये क्या उत्तर देगा? आखिर तुझे अपने दुष्कर्मों का दड भोगना पड़ेगा और पुन इस संसार मे जन्म लेना पड़ेगा। इस ससार मे भी तुझको बहुत बदनामी उठानी पड़ेगी।

लोग तेरे दुराचरण के लिये तेरी निंदा करेंगे। इस प्रकार तेरे इहलोक और परलोक दोनो बिगड़ जाएँगे।

(तमोलिनी)

मूल—बौरी दौरी में धरे बिन सींचे मति भूल।
फेरें क्यो न तमोलिनी ! सूखे सड़े तमूल॥
सूखे सड़े तमूल बहुरि पाछे पछितैहैं।
ऐहैं गाहक लैन कहा तब ताको दैहै॥
बरनै दीनदयाल चूक जनि तू इहि ठौरी।
आछी भाँति सुधारि बस्तु अपनी रखि बौरी ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—तमोलिनी = (ताम्बूलिनी) पानवाली । दौरी = टोकरी। तमूल = (ताम्बूल) पान। गाहक = (ग्राहक) खरीददार। बौरी = बावली, पगली, नासमझ।

भावार्थ—अरी पगली तमोलिनी, दौरी मे रक्खे हुए ये पान सूख रहे हैं और सड़ रहे हैं, इनको बिना सींचे मत छोड़, तू इनको फेरती क्यों नहीं है ? (फेरने और सींचने से पान सूखने और सड़ने नहीं पाते) तेरी असावधानी से यदि ये नष्ट हो जाएँगे तो तू पीछे पछताएगी। जब कोई ग्राहक पान खरीदने आएगा तो तू उसे क्या देगी ? हे बावरी, अपनी वस्तु को अच्छे प्रकार सुधार कर सुरक्षित रख। इस काम में असावधानी न कर।

तात्पर्य—सदुपयोग ही गुणों का उत्कर्ष बढ़ाता है।

(किसान)

मूल—आछी भाँति सुधारि कै खेत किसान बिजोय।
न तु पाछे पछितायगो समै गयो जब खोय॥
समै गयो जब खोय नहीं फिर खेती ह्वैहै।
लैहै हाकिम पोत कहा तब ताको दैहै॥

वरनै दीनदयाल चाल तजि तू अब पाछी।
सोउ न, शालि सम्हालि विहगन ते विधि आछी॥ १६॥

शब्दार्थ—बिजोय=(बीज वप) बीज वो। न तु=नहीं तो। हाकिम=(अ०) अधिकारी। पोत=कर, रकम, लगान। पाछी-चाल=अपना पिछला अकर्मण्य स्वभाव। शालि=धान, अनाज। विहग=पक्षी।

भावार्थ—हे किसान, खेत को अच्छे प्रकार सुधार कर अभी बीज वो दो, नहीं तो पीछे पछताओगे, क्योंकि बीज बोने का अनुकूल समय नष्ट हो जाने पर फिर खेती नहीं हो सकेगी। (तुम्हारी खेती हो चाहे न हो) हाकिम लगान लेने आएगा तो उसे क्या देगो? अत (यदि अपना भला चाहते हो तो) अपने पिछले आलसी स्वभाव को छोड़ दो, सोओ मत (अकर्मण्य मत बनो) और पक्षियों से धान के खेत की अच्छे प्रकार (सावधानी से) चौकसी करो।

तात्पर्य—अपने समय का सदुपयोग करो। अकर्मण्यता तथा आलस्य में समय को मत गँवाओ। अनुकूल समय के बीत जाने से फिर कार्यसिद्धि में सफलता नहीं प्राप्त होगी। सावधान, कुसंगति तुम्हारे समय का सर्वनाश न करने पावे।

(गढ़धनी)

मूल—साथी पाथी भे सबै गढ़ी ढहै चहुँ फेरि।
आनि बनी अरि की अनी धनी खोलि दृग हेरि॥
धनी खोलि दृग हेरि धवल धुज आय विराजे।
बोलन लगे नकीब डंक अब तो तिहुँ बाजे॥
बरनै दीनदयाल साजि अब अपनो हाथी।
हरि को टेर सहाय, गये सब तेरे साथी॥२०॥

शब्दार्थ—पायी मे=चले गये। सभै=सबही। गढ़ी=(यह शरीर) छोटा किला। आनि बनी=सज कर आगई। अनी=सेना। धवलधुज=सफेद झंडा (यहाँ सफेद बाल)। नकीब=(अ०) बंदीजन। डक=डका।

भावार्थ—हे गढ़पति (जीवात्मा), तेरे सब साथी चले गये, तेरी गढ़ी (शरीर) चारों ओर से ध्वस्त हो रही है। शत्रुओं की सेना ने तुझे घेर लिया है। हे धनी, आँख खोल कर देख। (सजग हो जा)। सफेद झंडे आ गये, बंदीजन बोलने लगे, तीनो डके बजने लगे (कूच की तैयारी हो गई)। दीनदयाल कहते हैं कि अब तू भी अपना हाथी साज और मदद के लिए ईश्वर को पुकार, तेरे साथी सब चले गये।

तात्पर्य—शरीर की नश्वरता बतला कर ईश्वर-भजन का उपदेश।

(चौपर खेलारी)

मूल—अहे खेलारी चूक मति पजा बिलै सम्हाल।
परो डाव तेरो खरो करि लै सारी लाल॥
करि लै सारी लाल लाल निज चाल न छूटे।
सनमुख ही मुख राखि देखु जुग कहूँ न फूटै॥
बरनै दीनदयाल जीति बाजी इहि बारी।
हारो मूढ़न सग बार बहु अहे खेलारी॥२१॥

शब्दार्थ—पजा=पाँच वाला दाँव (पच इद्रिय)। सारी=गोट। लाल करना=पका लेना। चौपड़ के खेल में जब कोई खिलाड़ी चालें चलकर अपनी सब गोटियों को एक नियत स्थान तक पहुँचा देता है तब कहा जाता है कि गोटें लाल हो चुकीं

या पक गई। जुग=जोड़ा। दो गोटों का एकत्र रहना (इस दशा मे गोटें मारी नहीं जा सकतीं)।

भावार्थ—हे खेलाड़ी! अब की बार तू अपने पाँचवाले दाँव को सँभाल (पंच इंद्रियों को वश मे रख) तेरा अच्छा दाँव पड़ा है, इस समय अपनी गोटें लाल कर ले। अपनी चाल मत छोड़। आगे बढ़ता जा, देख जोड़ा न फूटने पावे। दीनदयाल कहते हैं कि अब की बार बाजी को जीत ले, क्योंकि कई बार मूर्खों के साथ पड़कर तू बाजी हार चुका है।

तात्पर्य—जीव प्रति उपदेश है कि बहुत दिन चौरासी मे भटका, अब नरजन्म पाकर सब इंद्रियों को वश मे करके ऐसी चाल चल कि मुक्ति प्राप्त हो।

(चंग उड़ायक)

मूल—काँचे गुन छाँडे नहीं अरे उडायक कूर।
जैहै कर तें टूटि कै उडी गुडी कहुँ दूर॥
उड़ी गुड़ी कहुँ दूर लूटि लरिका सब लैहैं।
तो को जानि गँवार हँसी करतारी दैहैं॥
बरनै दीनदयाल मांजु गुन को बिन आँचे।
ह्वै है गुनी प्रवीन छाँडि जनि तू गुन काँचे॥ २२॥

शब्दार्थ—काँचे=कच्चा, विना माँजे हुए। गुन=(१) पतंग की डोरी, (२) गुण। उड़ायक=उड़ानेवाला। कूर=(सं० क्रुद्द) मूर्ख। (अन्वय—गुड़ी करतें टूटि कै कहुँ दूर उडी जैहै)। गुडी= पतङ्ग, गुड्डी, चंग। करतारी दैहैं=ताली पीटेंगे, थपोड़ियाँ बजाएँगे। गुन को माँजु=पतंग की डोरी को मजबूत करने के लिए काँच

के चूर्ण और भात से मांजते हैं,* जिससे दूसरे की पतंग की डोरी आसानी से कटजाय। प्रवीण=चतुर।

भावार्थ—अरे मूर्ख पतंग उड़ानेवाले, पतंग की डोरी को कच्चा (बिना मांजे हुए) मत छोड़, नहीं तो पतंग तेरे हाथ से टूट कर कहीं दूर उड़ जायगी, सब लड़के उसे लूट लेंगे, और तुझे मूर्ख समझ कर हँसते हुए तालियाँ पीटेंगे। देख, यदि तू बिना विचारे (आगा पीछा किये) डोरी को मांज लेगा तो चतुर पतंग बाजों में गिना जायगा। अतः डोरी को कच्चा मत रहने दे।

तात्पर्य—बिना पूर्ण निपुणता प्राप्त किये किसी काम में आगे बढ़ने से स्वयं हानि तो उठानी ही पड़ती है साथ ही लोगों का उपहासास्पद भी होना पड़ता है। अतः पुनः पुनः अभ्यास कर अपने गुण में दाक्षिण्य प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

(जौहरी)

मूल—मैली थैली लखि न तू भ्रमै प्रेम करि खोल।
अहे जौहरी! है खरी यामें मनि अनमोल॥
या में मनि अनमोल तोल करि ताको लीजै।
कीजै कछू न खोटि कोटि धन तापै दीजै॥
बरनै दीनदयाल जथा मजनू मन लैली।
तैसे ही अनुरागि, त्यागि मति मैली थैली॥ २३॥

शब्दार्थ—जौहरी=रत्नों का व्यापारी। भ्रमै=सन्देह में मत पड़। खरी=सच्ची। अनमोल=अमूल्य। खोटि=दोष। अनुरागि=प्रेमकर ('अनुराग' संज्ञा से 'अनुरागना' क्रिया बनाली है। ऐसी क्रियाओं को "नामधातु" कहते हैं)। यथा मजनू मन

* इस क्रिया को 'माझा देना' कहते हैं।

लैली=इसे मजनू के मन मे लैली के प्रति अपूर्व प्रेम उत्पन्न हो गया था।

भावार्थ—अरे जोहरी! इस थैली को मैली देख कर तू इस भ्रम मे न पड़ कि इस थैली के भीतर कुछ नहीं है। जरा प्रेम से खोल तो, इसमे सच्ची अमूल्य मणि है। इसका मोल तोल कर ले, व्यर्थ ही इसमे खोटापन मत निकाल और इसको बहुत सा धन देकर खरीद ले। देखे, इस थैली को मैली समझ कर छोड़ मत दो, वरन् ऐसा ही प्रेम करे जैसा मजनू ने (कुरूपा) लैली के प्रति किया था।

विशेष—लैली के प्रति मजनू का प्रेम प्रसिद्ध है। ये दोनों अरब देश के प्रेमी और प्रेमिका थे। फारसी साहित्य में इनका बहुत वर्णन है।

तात्पर्य—किसी पदार्थ की बाह्य आकृति से ही उसकी वास्तविकता नही ज्ञात हो सकती। बहुधा "गुदडी मे छिपे लाल" भी मिल जाते हैं। पर आवश्यकता है सच्ची लगन और विश्वास की।

मूल—नीकी मुकुतन की लरी पै ह्याँ गाहक नाहिं।
इत सबरी सबरी भरी सगरी नगरी माहिं॥
सगरी नगरी माहिं फिरनहारी कुजन की।
कबरी भारनि रचै आनि अवरी गुजन की॥
बरनै दीनदयाल वृक्ष कैसी तब ही की।
अरे जोहरी! जौन कौन पै बरनै नीकी॥ २४॥

शब्दार्थ—लरी=माला। सबरी=सब। सबरी (स०शबरी)= भिल्लिनी। सगरी=(सकल) सारी। कबरी=(स०) केश-

रचना, चोटी । अवरी=(अवली) पंक्ति । बूझ=(बोध) समझ, ज्ञान । ही=हृदय ।

भावार्थ—हे जौहरी ! तेरी मुक्तामाला सच्ची है, पर यहाँ ग्राहक कोई नहीं है । इस नगरी मे तो सब की सब कुजों में फिरनेवाली (गँवार) भिल्लिनियाँ ही हैं, वे घुँघुची की माला से अपनी माँग सँवारती हैं (तेरे इन मोतियो के मूल्य को क्या पहिचानें)। हे जोहरी, तेरी बुद्धि कैसी है ? तू जिनके सामने इन मोतियो की प्रशसा कर रहा है वे कौन हैं, जरा विचार तो कर ?

तात्पर्य—रत्नों की परख जौहरी ही कर सकता है। अत किसी गुणवान् को ऐसे व्यक्तियो के पास जाना ही नहीं चाहिए, जो या तो गुणों को पहिचानते ही नहीं अथवा पहिचानते हुए भी उनकी कद्र नहीं करते। सच्चे गुणग्राही ही गुणवानो का मान करते हैं।

(सौदागर)

मूल—सौदागर तू समुझि कै सौदा करि इहि हाट।
जैहै उठि दिन दाँय में पछितैहै फिरि बाट॥
पछितैहै फिरि बाट वस्तु कछु भली न लीनी।
योंही लपट होय खोय सब सपति दीनी॥
बरनै दीनदयाल कौन विधि ह्वैहै आदर।
गये आपने देस बिना सौदा सौदागर॥ २५॥

शब्दार्थ—लपट = व्यभिचारी, कुकर्मी । बाट=(स०)मार्ग ।

भावार्थ—हे सौदागर ! जबतक यह बाजार लगा है तबतक खूब सोच विचार कर सौदा कर ले, नहीं तो दो एक दिन मे यह बाजार उठ जायगा और तू मार्ग मे चलते चलते मन में पछताएगा कि मैं कुछ नहीं खरीद सका। देखो, तुम जितना धन सौदा करने

उपदेश को न मानेगा तो तेरा धन तो नष्ट होगा ही, सब लोग तेरी मूर्खता पर हँसेंगे भी।

तात्पर्य—जनता पर उपदेश की अपेक्षा आचरण का विशेष प्रभाव पड़ता है। पहिले अपना सुधार करलो तब दूसरे को सुधारने का प्रयत्न करो।

(छैल)

मूल—ए जू छैल छबील मन तुमै कहो समुझाय।
यह काजर की ओवरी निकरो अग बचाय॥
निकरो अग बचाय चातुरी तो जग जागै।
सिर पै चादर सेत बीच जो दाग न लागै॥
बरनै दीनदयाल बोध यह बुधन दए जू।
को न कुसगति पाय कुलीन मलीन भए जू॥ २८॥

शब्दार्थ—छैल=(छवि+इल्ल) सुन्दर पुरुष। काजर की ओबरी=काजल की कोठरी, कलक की जगह। जागै=प्रसिद्ध होगी। दाग = धब्बा, कलक। बोध=ज्ञान। बुधन=पडितो ने। कुलीन=सद्वशजात।

भावार्थ—हे छैल छबीले मन, मै तुम्हें समझाकर कहता हूँ कि यह ससार काजल की कोठरी है, अपने अगो को बचाकर निकल आओ। तुम सिर पर सफेद चादर डाले हो। अगर तुम इस कोठरी से साफ बचकर निकल आये और तुम्हारी चादर में जरा भी धब्बा न लगा तो ससार मे तुम्हारे चातुर्य की ख्याति हो जाएगी। क्योंकि बुद्धिमान् लोग यह उपदेश सदा से देते आए हैं कि "कुसगति मे पड़कर कोन कुलीन व्यक्ति ऐसा है जो कलंकित न हुआ हो।"

तात्पर्य—(यह अन्योक्ति किसी ऐसे यशस्वी पुरुष से कही गई है जिसको समय के फेर मे कुसगति के बीच मे रहना पड रहा है) अरे मन, देख तुझे इस समय कुसगति मे रहना पड रहा है, पर तू यशस्वी है यदि तू कुसगति मे रहते हुए भी कलक से साफ बचजाय तो अवश्य सराहनीय है । पर सावधान, जरा भी विचलित हुआ तो तेरे निर्मल यश मे धब्बा लग जायगा ।

(विशेष)—यह अन्योक्ति निम्न प्रकार से भी घटाई जासकती है —विषय-वासनाओ के बीच रहते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहना ज़रा टेढ़ी खीर है । एकात अरण्य में, ससार से दूर रहते हुए अपने मन को विषय-वासना से अलग रखना कोई कठिन काम नही, पर प्रशसनीय तो वही व्यक्ति कहा जा सकता है जो ससार में रहते हुए भी ससार से निर्लिप्त रहे । पापियों के बीच में रहते हुए भी पाप से निर्मुक्त रहे । पर ऐसे व्यक्ति ससार में हैं कितने ?

(वजत्री)

मूल—अहे वजत्री हरिन-भ्रम कहा बजावै बीन ।
या ठठेर-मजारिका सुर सुनि मोहैगी न ॥
सुर सुनि मोहैगी न सुने इन ठक-ठक बाजैं ।
किनै थकै करि कला अजों नहिं आवति लाजैं ॥
बरनै दीनदयाल कहा याके ढिग तत्री ।
ह्यां ते होय निरास जाय घर अहे वजत्री ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—वजत्री=(वाद्य+यत्र) बाजा बजानेवाला । ठठेर मजारिका=(मार्जारिका) ठठेरे की बिल्ली । अजों=(अद्यापि) अब भी । तत्री=वीणा ।

भावार्थ—अरे बजानेवाले, तू हरिण के भ्रम से इस (बिल्ली) के सामने वीणा क्या बजाता है ? यह तो ठठेरे की बिल्ली है और इस के कानो को ठठेरे की ही ठक-ठक सुनने का अभ्यास सा हो गया है, अतएव यह तेरी वीणा के मधुर स्वर सुनकर मुग्ध नहीं होगी। तू अनेक उपाय कर थक गया (पर इसपर कुछ भी प्रभाव न पडा) इतने पर भी तुझे इसके सामने वीणा बजाते लाज नहीं आती। अरे बजत्री, इसके सामने तेरी इस वीणा का क्या मूल्य ? अत अपना भला चाहता हो तो यहाँ से निराश होकर घर चले जा।

तात्पर्य—अरसिक एव पाषाणहृदय व्यक्ति किसी कला पर मुग्ध हो नहीं सकते। अत ऐसो के समुख अपनी कला प्रदर्शित करना केवल श्रममात्र है।

(मृदग)

मूल—सारगी हित त्यागि कित रह्यो मृदग दुराय।
करिहै सिर पै थाप लै धिग धिग तू सिख पाय॥
धिग धिग तू सिख पाय तवै कछु मधुर बोलिहै।
सुघर बजत्री जबहि पिड गहि पटहि खोलिहै॥
बरनै दीनदयाल ढूंढ गुर सुर मिलि सगी।
मिलो नहाँ चलि जहाँ बीन बाजत सारगी॥३०॥

शब्दार्थ—सारगी = (१) तार का एक वाद्य विशेष, (२) शारग धनुर्द्धारी विष्णु (शार्ङ्गी)। हित = प्रेम। मृदग = (१) ढोल के आकार का एक चर्मवाद्य, पखावज, (२) मिट्टी के पुतले (मृत् = मिट्टी + अंग), अर्थात् मनुष्य। दुराय रह्यो = छिप रहे। थाप = चोट। धिग धिग = तबले या मृदग की ध्वनि विशेष जो उसपर थाप पड़ने से निकलती है। सुघर = कुशल, दक्ष। पिड =

तबले या मृदंग के चमड़े के बीच का भाग जो काला होता है, और जिस पर थाप पड़ती है। पटहि=चमड़े की बद्धी (तबले की)। गुर=गुरु, उस्ताद। सुर=स्वर।

भावार्थ—हे मृदंग! तू सारंगी का साथ छोड़कर कहाँ छिप रहा है। (हे मिट्टी के पुतले! भगवान् से प्रेम छोड़कर कहाँ अपनी शक्ति को छिपाये हुए है)। जब सिर पर थाप पड़ेगी तब चोट खाकर धिग् धिग् शब्द निकालेगा। (जब संसार की चोटें खायेगा, तब अपने को धिक्कार देगा)। जब कोई सुघर बजानेवाला तेरे पिंड को पकड़कर बद्धी ढीली करेगा और ठोंकेगा तब तू कुछ मधुर बोलेगा। (जब कोई उत्तम गुरु तुझे भजन की शिक्षा देकर ठीक करेगा तब तू हरिनाम उच्चारण करेगा)। दीनदयाल कहते हैं कि किसी गुरु को ढूँढ़ और उसके स्वर से स्वर मिला कर उसका संगी होजा और वहाँ जाकर मिल जा जहाँ वीणा और सारंगी बज रहे हों (गुरु करके भगवान् के भजनानंदी भक्तों में मिल जा)।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

(शंख)

मूल—जनमे हो बर कुल विपे जग गुन गने असंख।
बजे बिजे बहुवार पै रहे संख के संख॥
रहे संख के संख सख तुम हो भीतर तें।
कहा करो अभिमान धरयो हरिजो निज कर तें॥
बरनै दीनदयाल विमल छवि छाई तन में।
ऊँच नीच सुर लगो कहा भो बर कुल जनमे॥ ३१॥

शब्दार्थ—बर कुल=उत्तम कुल। विपे=(विषये) में। बिजे=विजय प्रकट करने के लिये। संख के संख रहे=(कदापन)

जड़ ही रहे, निरे मूर्ख ही बने रहे। खख=खोखले। मुखलगना=(१—शब्दार्थ) बजाने के निमित्त मुख से स्पर्श होना। (२—कहावत) बहस करना।

भावार्थ—हे शख, तुम सत्कुल (समुद्र) में उत्पन्न हुए हो, ससार मे तुम्हारे गुणों की भी कमी नहीं है। अनेक बार विजय प्राप्ति के समय बजाये भी गये हो, पर हो तुम अब भी निरे मूर्ख। (बाहर से भले ही स्वच्छ एव सुचिक्कण होओ, पर) भीतर से तो तुम खोखले ही हो। भगवान् विष्णु ने तुमको अपने हाथो में लिया इस बात का वृथा घमड क्या करते हो? यद्यपि तुम्हारा शरीर स्वच्छ और सुदर है और तुम सद्वश मे पैदा भी हुए हो, पर इसमे क्या? तुम तो ऊच नीच सब के मुख मे लगते हो, (छोटे बडे सभी तुम को मुख में लगाकर बजाते हैं)।

तात्पर्य—सत्कुल मे जन्म लेने, ससार मे ख्याति प्राप्त करने, सुदर आकृति होने एव बडो का कृपापात्र होने से ही कोई वास्तविक बडा आदमी नहीं हो सकता। बडा आदमी बनने के लिये केवल बाह्य आकृति से ही कुछ नहीं होता। इसके लिये आवश्यकता है निष्कपट एव पवित्र हृदय की, और नम्रता एव सहिष्णुता की। छोटे बड़े सबसे लड बैठनेवाला व्यक्ति बड़ा कहे जाने के सर्वथा अयोग्य है।

(पाषाण)

मूल—मूरख हृदय कठोर लखि हारे करि करि मान।
तातें मज्जत जल विषे अहो सलज्ज पषान॥
अहो सलज्ज पषान बड़ी तुममे गरुआई।
जोरे तें जुरि जात अहैं ये द्वै अधिकाई॥
बरनै दीनदयाल कितौ करिये बहु पूरख।
जुरै न जाये हेत होत अतिसै जो मूरख॥ ३२॥

शब्दार्थ—मज्जत=डूब जाता है। गरुआई=भारीपन।

अन्वय—किनो करिये वह पुरुख जो अतिसै मूरुख होत, हेत लाये न जुरे। अतिसै=(अतिशय) अत्यत।

भावार्थ—अहो, पाषाण की सलज्जता तो देखो। मूर्खों का हृदय मुझसे भी कठोर है इस बात का विचार कर जब वह कठोरता में मूर्खों को समता न कर सका तो आत्मगौरव की रक्षा के लिये पानी में डूब गया। परन्तु हे पाषाण, इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। तुममें मूर्ख से ये दो बातें विशेष हैं, एक तो यह कि तुम उससे भारी हो, दूसरे यह कि जोड़ने से जुड़ भी सकते हो। किंतु जो मनुष्य वज्रमूर्ख होता है, आप कितने ही उपाय क्यों न करो वह प्रेम से समझाने बुझाने पर भी नहीं जुड़ सकता (किसी से मेल नहीं रखता)।

तात्पर्य—मूर्ख पत्थर से भी कठोर और निर्लज्ज होता है।

(बाण)

मूल—हे सर परवस नहिं करो कुटिल धनुख सो सग।
सूधे हो, कहुं फेंकिहै, टूटि जाहिंगे अंग॥
टूटि जाहिंगे अंग सग तासो निवहै नहिं।
गुन पै राचे कहा कोटि रचना याके महिं॥
वरनै दीनदयाल कहाँ कारिख कहँ केसर।
तैसेई है सग बक सूधे को हे सर ॥ ३३॥

शब्दार्थ—सर=(शर) बाण। परवस=पराधीन होकर। गुन=(१) धनुष की प्रत्यचा, (२) दिखौआ गुण। राचे कहा=क्या अनुराग करता है। कोटि=(१) धनुष के दोनो सिरे, जिनपर प्रत्यचा बाँधी जाती है, (२) करोड़ो। कोटि रचना याके महिं=(१) इस प्रत्यचा में धनुष की कोटियाँ

पर (मर जाने पर) ये सब सांसारिक सौंदर्य स्वप्नवत् हो जाएँगे।

तात्पर्य—संसार निस्सार है, इसके क्षणस्थायी सौंदर्य पर मुग्ध होना महामूर्खता है। सांसारिक पदार्थ सब असत्य हैं। सत्य है केवल परमेश्वर। अतः उसीके सौंदर्य का ध्यान करना श्रेयस्कर है। आँखों का फल तभी मिलता है जब ईश्वर का दर्शन हो जाय।

(श्रवन)

मूल—खोए दिन बहु श्रवन हे सुनत वृथा बकवाद।
सुने न हरिहर मधुर जस जासु सुधा सम स्वाद॥
जासु सुधा सम स्वाद अमर पद देत सुने ते।
थके धीर गुन गाय छके रस पाय न केते॥
बरनै दीनदयाल काल तुम बादि बिगोए।
अजहूँ सुनि करि प्यार कहा दिन डारत खोए॥ ३६॥

शब्दार्थ—श्रवन=(श्रवण) कान। बादि=(सं०) व्यर्थ। बिगोए=(बिगोपन) बिगाड़ा, खोया।

भावार्थ—हे श्रवण, तुमने बहुत समय व्यर्थ बकवाद सुनने में ही बिता दिया, और अमृत के समान स्वादिष्ट एवं सुनने से अमर-पद देनेवाले श्रुतिप्रिय हरिहर-यश न सुना। कितने ही धीर पुरुष न जाने हरि-हर गुणगान करते करते हार मान गये, कितने ही सुनने मात्र से उस सुधा रस को पीकर तृप्त हो गये। पर तुमने इतना समय व्यर्थ गँवा दिया। अब भी हरिहर-यश सुन लो, भगवान् से प्रेम करलो, समय क्यों नष्ट किये जा रहे हो।

तात्पर्य—व्यर्थ गप्पाष्टक सुनने में अपने समय को न गँवाकर भगवद्भजन एवं सदुपदेश सुनकर अपने समय का सदुपयोग

करना चाहिए। परमात्मा ने कान निरर्थक बातें सुनने के लिये नहीं बनाए हैं। कानों का फ़र्ज़ 'हरिहर-यश' सुनना ही है।

(दोहा)

यह अन्योक्ति-सुकल्पद्रुम साखा तृतिय बखानि।
बिरची दीनदयालगिरि कवि द्विजबर सुखदानि ॥३७॥

इति श्रीकाशीवासी दीनदयालगिरि विरचिते
अन्योक्ति—कल्पद्रुम—ग्रंथे
तृतीया शाखा समाप्ता।

चौथी-शाखा

(कैवर्तक)

(सिंहावलोकन)

मूल—तारे तुम बहु पथिन कौ या नद-धार अपार।
पार करो इहि दीन कौ पावन खेवनिहार ॥
पावन खेवनिहार तजौ जनि क्रूर कुबरनै।
बरनै नहीं सुजान, प्रेम लखि लेहु सुबरनै ॥
बरनै दीनदयाल नाव गुन हाथ तिहारे।
हारे कौ सब भाँति सुबनिहैं पार उतारे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कैवर्तक=केवट। सिंहावलोकन=ऐसी रचना को कहते हैं, जिसमें यह नियम रखा जाता है कि प्रत्येक लाइन का अंतिम शब्द या दो तीन अक्षर आगे आनेवाली लाइन के आदि में अवश्य आवें, और अंतिम लाइन का अंतिम शब्द प्रथम लाइन

पर (मर जाने पर) ये सब सासारिक सौंदर्य स्वप्नवत् हो जाएँगे।

तात्पर्य—ससार निस्सार है, इसके क्षणस्थायी सौंदर्य पर मुग्ध होना महामूर्खता है। सांसारिक पदार्थ सब असत्य हैं। सत्य है केवल परमेश्वर। अत उसीके सौदर्य का ध्यान करना श्रेयस्कर है। आँखों का फल तभी मिलता है जब ईश्वर का दर्शन हो जाय।

(श्रवन)

मूल—खोए दिन बहु श्रवन हे सुनत वृथा बकवाद।
सुने न हरिहर मधुर जस जासु सुधा सम स्वाद॥
जासु सुधा सम स्वाद अमर पद देत सुने ते।
थके धीर गुन गाय छके रस पाय न केते॥
बरनै दीनदयाल काल तुम बादि बिगोए।
अजहूँ सुनि करि प्यार कहा दिन डारत खोए॥ ३६॥

शब्दार्थ—श्रवन=(श्रवण) कान। बादि=(स०) व्यर्थ। बिगोए=(विगोपन) बिगाड़ा, खोया।

भावार्थ—हे श्रवण, तुमने बहुत समय व्यर्थ बकबाद सुनने में ही बिता दिया, और अमृत के समान स्वादिष्ट एव सुनने से अमर-पद देनेवाले श्रुतिप्रिय हरिहर-यश न सुना। कितने ही धीर पुरुष न जाने हरि-हर गुणगान करते करते हार मान गये, कितने ही सुनने मात्र से उस सुधा रस को पीकर तृप्त हो गये। पर तुमने इतना समय व्यर्थ गँवा दिया। अब भी हरिहर-यश सुन लो, भगवान् से प्रेम करलो, समय क्यों नष्ट किये जा रहे हो।

तात्पर्य—व्यर्थ गप्पाष्टक सुनने मे अपने समय को न गँवाकर भगवद्भजन एव सदुपदेश सुनकर अपने समय का सदुपयोग

राखि=रक्षा करो, रखाओ। नेरे=निकट ही हैं। कोपि तकैं=क्रुद्ध हो होकर ताक रहे हैं।

(नोट)—यहाँ, पथिक=जीवात्मा, पथ=संसार। बटपार=काम क्रोध, मोहादि। पार=मोक्ष। वार=संसार। धन=ईश्वरांश होने का आत्मगौरव। इसी प्रकार आगे के छंदों में भी समझना होगा।

भावार्थ—सरल ही है।

(अलंकार)—रूपकातिशयोक्ति।

मूल—राही खडे असोक क्यों ? बकुल ध्यान इहि बेल।
है इकैन छाया तजौ, लख्यो न याको खेल॥
लख्यो न याको खेल सिरसि पाकर वर चोटैं।
कोऊ नहिं सहकार अकेला लगिहो लोटैं॥
बरनै दीनदयाल जटे इन जटी न काही।
जाहु चले या बेर कदम गहि पति लै राही॥ ३॥

शब्दार्थ—राही=पथिक। असोक=निश्चिन्त। बकुल ध्यान=बगले का सा ध्यान लगाये हुए। बेल=(बेला) समय। छाया=पेड की छाँह। सिरसि=(शिरसि) सिर में। वर चोटें=कड़ी चोटें। सहकार=सहायक। जटे=ठगे। जटी=जटाधारी। या बेर=इस समय। कदम गहि=कदम बढ़ाते हुए, लवे डगों से। पति=प्रतिष्ठा।

भावार्थ—हे पथिक ! तुम इस समय यहाँ निश्चिंत क्यों खड़े हो। यह बकुलध्यानी (जिसे तुम जटाधारी साधु समझते हो) डाकू है, इसके पास छाया में खड़े हो सो छाया को छोड़ो, तुमने अभी इसका खेल नहीं देखा। इसके हाथों सिर में चोट खाकर तुम भूमि पर लोटने लगोगे, क्योंकि कोई तुम्हारा सहायक नहीं है,

१ (नोट) इस छंद में एकवचन 'याको' और बहुवचन में 'इन' भी चिंतनीय हैं।

के आदि मे हो । पथिन=मुसाफिरो । क्रूर=पापी, निकम्मा। कुवरन=नीच जाति का । बरनै नहीं सुजान=सुजान लोग बड़ाई नहीं करेंगे। बरनै नहीं सुबरनैं=यदि तुम केवल प्रेमी और कुलीन को ही अपनी नौका में सवार करानोगे (क्रूर और नीच को न लोगे) तो सुजान लोग तुम्हारी बडाई न करेंगे। बरनै=कहता है (पाँचवीं लाइन मे)। नाव-गुन=नौका की रस्सी। हारे कौ=थके हुए पथिक को। हारे कौ सब भाँति=सब प्रकार से थके हुए को।

(भाव)—हे भगवन्! चौरासी मे भटकते भटकते मैं थक गया हूँ, मुझे भवसरिता से पार करो, मेरी अकर्मण्यता और नीच कुलोद्भवता के कारण सकोच न करो, नहीं तो तुम्हारे विरुद में फर्क आजायगा।

(पथिक)

(सिंहावलोकन)

मूल—मारे जैहो पथिक हे! या पथ है बटपार।
पार होन पैहौ नहीं मारि डारिहै घार॥
मारि डारिहै घार भजौ ये फिरैं अनेरे।
नेरे तुमको कोपि तकै ज्यो बाज बटेरे॥
टेरे दीनदयाल सुनौ हित हेत तिहारे।
हारे परिहौ सखे! रासि धन कहे हमारे॥ २॥

शब्दार्थ—बटपार=(बाट+पार) राह मे लूट लेनेवाले, डाकू। घार=इसी ओर। भजौ=भागो। अनेरे=(सं० अनय+रत) अन्यायी, दुष्ट, अन्याचारी। हित हेत तिहारे=तेरी भलाई के लिये। हारे परिहौ=नुक्सान मे रहोगे, हानि उठानी पडेगी।

सब सो सहित उमग बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव सँजोग फेरि यह मिलिहै नाहीं ॥
बरनै दीनदयाल पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल पथी जैहैं सब कोई॥ ५ ॥

शब्दार्थ—सगी=साथ रहनेवाला। उतै=उस देश में (मृत्यु के बाद)। इत=यह ससार। पथी=जीवधारी लोग। तरनी=नाव। तरनी के माहीं=नाव में। नदिया नाव सजोग=यात्रियों का ऐसा मिलन जैसा नदी उतरते समय नाव पर हो जाता है, क्षणिक मिलन। गैल=राह। पथी=यात्री।

भावार्थ—सरल ही है।

(अलकार)—प्रस्तुतांकुर।

(नोट)—जीवों के प्रति उपदेश है कि इस ससार में जीवितावस्था भर सब से हिल मिल कर रहो।

मूल—ग्राहैं[1] प्रबल अगाध जल यामे तीछन धार।
पथी पार जो तू चहै खेवनिहार पुकार॥
खेवनिहार पुकार धार नहिं कोऊ साथी।
और न चलै उपाव नाव बिन पहो पाथी॥
बरनै दीनदयाल नहीं अब बूड़ै थाहैं।
रहे महा मुख वाय ग्रसन को भारी ग्राहैं॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पाथी=यात्री (यहाँ कोई जीव)। खेवनिहार=केवट (यहाँ ईश्वर)। धार=इसी ओर का तट। थाह=उथला जल।

---

१ (नोट)—यहाँ 'ग्राहैं' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंगत्व प्रकट करता है, जो गलत है। ऐसी गलतियाँ इस पुस्तक में अनेक हैं।

तुम अकेले ही हो। दीनदयाल कहते हैं कि ऐसे जटाधारियो ने किसको नहीं छला। हे पथिक! इस समय तुम अपनी प्रतिष्ठा लिए हुए कदम बढ़ाए चले जाओ।

(नोट) – इस छद में पेड़ो के नाम से मुद्रालकार है। इसी कारण असोक, बकुल (मौलसिरी), बेल, कैत, छाया, सिरस, पाकर, बर, सहकार (आम), केला, जटी, (जटामासी), काही, बेर, कदम, तिल और राही, (लाही) इत्यादि शब्द प्रयुक्त हैं।

(उपदेश)—जीवात्मा के प्रति उपदेश है कि सांसारिक छलमय पदार्थों पर श्रद्धा-भक्ति रखना अच्छा नहीं, इनसे दूर ही रहना अच्छा है।

मूल—सोई देस विचारि कै चलिये पथी सुचेत।
जाके जस आनद की कवि बर उपमा देत॥
कविबर उपमा देत रक भूपति सम जामैं।
आवागमन न होय रहै मुद मंगल तामैं॥
बरनै दीनदयाल जहाँ दुख सोक न होई।
पहाँ पथी प्रवीन देस को जैये सोई॥ ४॥

शब्दार्थ—पथी=मुसाफिर, यात्री। सुचेत=अच्छी समझ-वाला। उपमा देत=बखान करते हैं। सम=समान, एक से। आवागमन न होय=वहाँ से फिर कोई कहीं जाता नहीं।

भावार्थ—सरल ही है। 'पथी' से तात्पर्य जीव और 'देस' से तात्पर्य है निर्वाण पद।

(नोट)—छायावादी या रहस्यवादी कवि देखें कि रहस्यवाद की कविता ऐसी होती है।

(अलकार)—प्रस्तुतांकुर।

मूल—कोई सगी नहिं उनै है इत ही को सग।
पथी लेहु मिलि ताहि तें सब सों सहित उमग॥

मूल—सबल जल इत लै पथी आगे नहीं निवाह।
दूर देस चलिबो महा मारूथल की राह॥
मारुथल की राह सग कोऊ नहिं तेरे।
सजग होय धन राख लगैं पथ चोर घनेरे॥
बरनै दीनदयाल कठिन बचिबो है कवल।
सखे! परैगी जानि उतै, इत लै जल सबल॥ ८॥

शब्दार्थ—सबल=कलेवा, राह का भोजन। मारूथल=(स० मरुस्थल), बलुवा मैदान (Desert)। सजग=होशियार। घनेरे=बहुत से।

भावार्थ—सरल ही है।

(नोट)—सच्ची रहस्यवादमय कविता यह है।

मू०—जैण गैल सुछैल बनि पथी सुपथ विचारि।
भ्रमो न ठगिनी मारि है तुम्हैं ठगोरी डारि॥
तुम्हैं ठगौरी डारि छीनि सबही धन लैहै।
महा-अंध बनकूप बीच या नीच छपै है॥
बरनै दीनदयाल लाल! निज माल बचेए।
अहै ठगन को पुज कुज इत गुनि कै जेए॥ ९॥

शब्दार्थ—गैल=राह। छैल=चिकनिया, शौकीन (यहाँ) सजग, होशियार। ठगिनी=ठग स्त्री, (यहाँ) वासना। ठगौरी=मोहनी, जादू। महा-अंध बनकूप=जगल का बड़ा अंधकूप (जल रहित गिरा पड़ा कुँआ)। छपै है=छिप जायगा। पुज=समूह। गुनि कै=समझ बूझकर।

भावार्थ=सरल ही है।

मूल—सपने परी सराय परि कहा रचत हैं राज।
भोर भये छुटिहै यह तोहि सगाय समाज॥

भावार्थ—सरल ही है।

(उपदेश)—यह कि हे जीव, इस ससार में अनेक प्रबल बाधाएँ हैं, अत मुक्ति चाहते हो तो, ईश्वर का नाम पुकारो।

(अलकार)—अप्रस्तुतांकुर।

मूल—राही सोवत इत किते चोर लगै[1] चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को गिनैं नींद की स्वास॥
गिनै नींद की स्वास वास बसि तेरे डेरे।
लिये जात बनि मीत माल ये साँझ सबेरे॥
बरनै दीनदयाल न चीन्हत है तू ताही।
जाग! जाग रे! जाग! इतै कित सोवत राही॥ ७॥

शब्दार्थ—इतै=यहाँ। कित=(स०कुत्र) कहाँ। पास=(स० पार्श्व) ओर। निज=खास। गिनै नींद की स्वास=निद्रा आने के समय का इतजार कर रहे हैं (कि कब यह नींद मे बेखबर हो, कब हम चोरी करना आरभ करें)। बास बसि=बसेरा लेकर। माल= धन। चीन्हत है=पहचानता है। ताही=उसको। जाग जाग रे जाग=सावधान हो जा।

भावार्थ—सरल है।

(उपदेश)—किसी जीव को काम क्रोध लोभादि (चोरो) से सावधान रहने के लिये चेतावनी है।

१(नोट)—सावधानी से देखो कि पहली लाइन में "चोर लगै" बहुवचन में है, चौथी लाइन में 'ये' बहुवचन में है, पाँचवीं लाइन में 'ताही' एक वचन में है। ये भाषा के दोष हैं। पर इस पुस्तक में ऐसे दोष बहुतायत से पाये जाते हैं।

आश्चर्य की बात है। पाथी=यात्री। बिलम=(स० विलम्ब) देरी।

भावार्थ=सुगम ही है।

मूल—बहुत विधि दुकानै हैं लगी तू न जानै।
बनिक बहुबिधा के मोहते रूप जाके॥
निपुन निरखि लीजै वस्तु मे चित्त दीजै।
पथिक नहिं ठगावै, देखि तू गैनि आवै॥ १३॥

शब्दार्थ—बनिक=व्यापारी। बहु विधा=बहुत तरह के। निपुन=निपुणता से।

भावार्थ—सुगम है।

(उपदेश)—जीव को ससार के व्यापारो से सावधान करना ही तात्पर्य है।

(नोट)—'जाके' एक वचन लिख कर फिर वही गलती की गई है।

मूल—निपट निसि अंधेरी नाहि सूझै हथेरी।
बहु विधि ठग घेरे मीत कोऊ न तेरे॥
पथिक इत न सोवै भूलि वित्तै न खोवै।
जगत रहि सुचेतै हो कहौं तोहि हेतै॥ १४॥

शब्दार्थ—निपट=अत्यत। मीत=मित्र। वित्त=धन। जगत रहि सुचेतै=ससार मे सावधान होकर रहो। हेतै=भलाई के लिये।

मूल—अभिनव घनस्यामे घ्याउ आभा सु-जामे।
बिसद बकुलमाला सोभती है बिसाला॥
द्विजगन हरषावैं ध्यान के मोद पावैं।
पथिक नयन दीजै ताप को सांत कीजै॥ १५॥

तोहि सराय समाज छूटि साथी सब जैहैं।
भटिहारी सो नेह करै मति तै पछितैहै॥
वरनै दीनदयाल सोचि नीके चित अपने।
मनोराज पथ बीच कौन सुख पायो सपने॥ १० ॥

शब्दार्थ—सराय=(फा०) यात्रियो के ठहरने का स्थान। राज, मनोराज=(मनमानी अभिलाषाएँ)। भटिहारी=सराय मे रहकर यात्रियो को भोजनादि का प्रबध करनेवाली स्त्री (यहाँ) विषयवासना।

भावार्थ—सरल ही है।

(मालिनी छद)

मूल—सुनहु पथिक भारी कज लागी दवारी।
जहँ तहँ मृग भागे देखिये जात आगे॥
फिरत कित भुलाने पाँय ह्वैहैं पिराने।
सुगम सुपथ जाहू बूझिए क्यो न काहू॥ ११ ॥

शब्दार्थ—दवारी=(स० दावाग्नि) बाँस की रगड़ से लगी· हुई जगल की अग्नि। पिराने=पीड़ा होना। बूझिए क्यो न काहू=किसी से पूछ क्यो नही लेते।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—बहुत दिवस बीते गैल में तोहि मीते।
मुख रुख कुम्हिलाने बैठिले या ठिकाने॥
अहह! सँग न साथी दूर है देस पाथी।
बिलम नहि भलो जू सम्बलै लै चलो जू॥ १२ ॥

शब्दार्थ—मीते=हे मित्र। मुख रख कुम्हिलाने=मुख की आभा मलीन होगई है। ठिकाना=अच्छा स्थान। अहह=

आश्चर्य की बात है। पाथी=यात्री। बिलम=(स० विलम्ब) देरी।

भावार्थ=सुगम ही है।

मूल—बहुत विधि दुकानै हैं लगी तू न जानै।
बनिक बहुविधा के सोहते रूप जाके॥
निपुन निरखि लीजै वस्तु में चित्त दीजै।
पथिक नहिं ठगावै, देखि तू रैनि आवै॥ १३॥

शब्दार्थ—बनिक=व्यापारी। बहु विधा=बहुत तरह के। निपुन=निपुणता से।

भावार्थ—सुगम है।

(उपदेश)—जीव को ससार के व्यापारों से सावधान करना ही तात्पर्य है।

(नोट)—'जाके' एक वचन लिख कर फिर वही गलती की गई है।

मूल—निपट निसि अँधेरी नाहि सूझै हथेरी।
बहु विधि ठग घेरे मीत कोऊ न तेरे॥
पथिक इत न सोवै भूलि वित्तै न खोवै।
जगत रहि सुचेतै हो कहौ तोहि हेतै॥ १४॥

शब्दार्थ—निपट=अत्यत। मीत=मित्र। वित्त=धन। जगत रहि सुचेतै=ससार मे सावधान होकर रहो। हेतै=भलाई के लिये।

मूल—अभिनव घनस्यामे ध्याउ आभा सु-जामे।
बिसद बकुलमाला सोभती है बिसाला॥
द्विजगन हरपावैं ध्यान पै मोद पावैं।
पथिक नयन दीजै ताप को साँत कीजै॥ १५॥

शब्दार्थ—अभिनव=अति नवीन, ताज़े, नये। घनस्याम=(१) बादल, (२) कृष्ण। आभा=कांति। सु=सुंदर। बिसद=सफेद। बकुलमाला=(१) मौलसिरी का बाग (२) मौलसिरी की माला। बिसाला=लंबी। द्विजगन=(१) मोर चातकादि पक्षी (२) ब्राह्मणगण। ताप को सांत कीजे=(१) राह चलने की गरमी मिटा लो, (२) मेरी कामपीड़ा को शांत करदो।

भावार्थ-(१) हे पथिक! (संसारी जीव), नवलकिशोर कृष्ण का ध्यान कर जिनकी सुंदर कांति बादलवत् श्याम है, और जिनके गले में मौलसिरी की सफेद और लंबी माला शोभा देती है। इस रूप को देखकर ब्राह्मणगण हर्षित होते हैं और ध्यान करके आनंद पाते हैं। हे पथिक! तुम भी उसी मूर्ति के दर्शन करके अपने संसारी दुःखों की गरमी को शांत करो। (२)—(कोई स्वयं दूती किसी पथिक के प्रति कहती है)। हे पथिक! नवीन उठे हुए बादलों (पयोधरों) को तो देखो कैसी सुंदर आभा है और यहाँ मौलसिरी का बाग भी शोभित है (घनी ओट है)। मयूर चातकादि पक्षीगण हर्षित होरहे हैं। अपने अपने जोड़े का ध्यान करके आनंदित होते हैं (जोड़ी सहित विहार करते हैं)। हे पथिक! ऐसे समय मेरी ओर देखो और मेरे (वा अपने) कामताप को शांत करो।

(अलंकार)—प्रस्तुतांकुर।

(कुंडलिया)

मूल—बीती सोवत रैनि सब होन चहै अब भोर।
पथी चेत कर पथ कौ चिरियन लायो सोर॥
चिरियन लायो सोर देखि चहुँ ओर घोर घन।
चोर जगैं बरजोर मखे यहि ठौर राखि धन॥

बरनै दीनदयाल न गाफिल है, इत भीती।
साथी पाथी भये जाग अजहूँ निसि बीती ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—सोर लायो=शोर करने लगी हैं। राखि धन=अपने धन की रक्षा करो। गाफिल= (अरबी) असावधान। भीती=डर, भय। पाथी भये=चल पडे, चले गये।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—हारे भूली गैल में गे अति पायँ पिराय।
सुनो पथी अब तो रह्यो थोरो सो दिन आय ॥
थोरो सो दिन आय रहे हैं सग न साथी।
या बन हैं चहुँ ओर घोर मतवारे हाथी ॥
बरनै दीनदयाल ग्राम सामीप तिहारे।
सूधे पथ को जाहु भूलि भरमौ कित हारे ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—हारे=थके हुए। पायँ पिराय गे=पैरो मे पीड़ा होने लगी। ग्राम=गाँव, ठहरने का स्थान। सामीप=समीप, निकट।

भावार्थ—सुगम ही है।

(उपदेश)—जीवात्मा को उपदेश है कि ससार के झगडे छोड़, अब तो ईश्वर-भजन में लग।

(अलकार)—प्रस्तुताकुर।

मूल—चारो दिसि सूझै नहीं यह नद धार अपार।
नाव जर्जरी भार बहु खेवनिहार गँवार ॥
खेवनिहार गँवार ताहि पर है मतवारो।
लिए भौंर में जाय जहाँ जल जतु अखारो ॥
बरनै दीनदयाल पथी बहु पौन प्रचारो।
पाहि पाहि रघुबीर नाम धरि धीर उबारो ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—नद=(यहाँ) ससाररूपी नद। जर्जरी=पुरानी। नाव=(यहाँ) वृद्ध शरीर। भार=बोझा (यहाँ) वासनाओं का समूह। खेवनिहार=(यहाँ) मन। जलजतु=मगर घडियालादि। अखारो=समूह। वहु पौन प्रचारो=हवा भी खूब जोर से चलती है। उचारो=बोलो, रटो।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—देखो पथी उघारि कै नीके नैन विवेक।
अचरजमय इहि बाग मे राजत है तरु एक॥
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा।
द्वै खग तहाँ अचाह एक, इक बहुफल चाखा॥
वरनै दीनदयाल खाय सो निबल विसेखो।
जो न खाय सो पीन रहै अति अदभुत देखो॥ १६॥

शब्दार्थ—बाग=सृष्टि। तरु=ससाररूपी वृक्ष। मूल ऊरध=जड़रूपी ब्रह्म, सत्यलोक मे रहते हैं। अध साखा=साखारूपी मनुष्य नीचे भूलोक में हैं। (मिलाओ—ऊर्ध्वमूलमध शाखं अश्वत्थ प्राहुरव्ययम्—गीता)। द्वै खग=(मिलाओ—द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया —श्रुति) जीवात्मा, परमात्मा। अचाह=निरीह (परमात्मा) निबल=कमजोर। पीन=पुष्ट, मोटा ताजा।

भावार्थ—हे पथिक (जीव), विवेक के नेत्र खोल कर अच्छी तरह से देखो, इस सृष्टि मे एक अद्भुत वृक्ष शोभा देता है। वह ऐसा है कि उसकी जड़ ऊपर है, और शाखाएँ नीचे हैं। उसपर दो पक्षी हैं, एक कुछ नहीं खाता और दूसरा वहुत से फल खाता है। दीनदयाल कहते हैं कि आश्चर्य की बात यह है कि जो बहुत खाता है वह विशेष दुर्वल है, और जो नहीं खाता वह हृष्ट-पुष्ट है।

(अलकार)—रूपकातिशयोक्ति।

मूल—देखो पथी अचभ यह जमुना तट धरि ध्यान ।
मद्दि मैं विहरैं कज द्वै करैं मञ्जु अलि गान ॥
करैं मञ्जु अलि गान नील खभा तहँ दो पर ।
पिक ध्वनि दामिनि बीच तहाँ सर हस मनोहर ॥
बरनै दीनदयाल सख पै सोम विसेखो ।
ता ऊपर अहि-तनै ताहि पर बरही देखो ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अचभ = (स० असभव) अद्‌भुत वस्तु । कज द्वै = (दो कमल) चरण । अलि = (भौंरे) नूपुर । नील खभा = नीले रग के जघा । पिक = (कोयल) किंकिणी । दामिनि = (बिजली) पीतांबर । सर = (कुड) नाभी । हस = मोतीमाला । सख = ग्रीवा । सोम = (चद्र) मुखमडल । अहि-तनै = (सर्प के बच्चे) बाल । बरही = (मोर) मोरपखो का मुकुट ।

(नोट)—इसमें अन्योक्ति तो कुछ भी नहीं, केवल रूपकातिशयोक्ति अलकार द्वारा श्रीकृष्ण का नखशिख रूप वर्णन है । 'पथी' शब्द से किसी जन का ध्यान करने का उपदेश मात्र है । इसी को चाहे तो अन्योक्ति कह लीजिये ।

मूल—या वन मे करि केहरी कूप गँभीर अपार ।
द्वै पहार की ओट मे बसत एक बटपार ॥
बसत एक बटपार उभै धनु सर सधाने ।
ता पीछे इक स्याम नागिनी चाहत खाने ॥
बरनै दीनदयाल इनै लखि डरिये मन मे ।
पथी सुपथ विहाय भूलि जनि आ या वन में ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—वन = (स्त्री) । करि = (हाथी) चाल । केहरी = (सिंह) कटि । कूप = (नाभि) । पहार = (कुच) बटपार = (डाकू) सुदर मुख । उभै धनु = दोनो भृकुटी । सर = (बाण)

कटाक्ष । स्याम नागिनी = वेणी । खाना = डसना । विहाय = छोड़ कर ।

(उपदेश)—स्त्रीरूपी वन मे अनेक भयकर और विनाशक बाधाएँ हैं । हे जीव ! तू इस वन मे भूल कर भी मत जा । यही उपदेश है ।

(नोट)—इसमें स्त्री को 'वन' मानकर रूपकातिशयोक्ति कही गई है ।

मूल—फूली है सुखमामई नई लहलही जोति ।
छई ललित पल्लवनि तें लखि दुति दूनी होति ॥
लखि दुति दूनी होति चपल अलि या पै दो हैं ।
लगे गुच्छ द्वै बीच यहै जन को मन मोहैं ॥
बरनै दीनदयाल पथिक हे कित मति भूली ।
या तो मारक महाकुली विषवल्ली फूली ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सुखमामई = अत्यत सुदर । लहलही = ताजी, टटकी । छई = छाई हुई, आच्छादित । पल्लव = यहाँ हाथ, पैर, ओठ इत्यादि । चपल = चचल । अलि = (भौरे) यहाँ 'नेत्र' । गुच्छ = (यहाँ) स्तनद्वय ।

(नोट)—स्त्री को विषबेलि मानकर उससे बचने का उपदेश है ।

अलकार—रूपकातिशयोक्ति ।

मूल—मोहै चपक छबिन तें पथिक न यहि आराम ।
कुदकली अवली भली लसत बिंब वसु जाम ॥
लसत बिंब वसु जाम कीर खजन सग मिलिकै ।
सजैं भौर तित लोल बोल बिलसै कोकिल के ॥
बरनै दीनदयाल बाग यह पथ को सोहै ।
पथी गौन है दूरि, देरा ! बीचहि मति मोहै ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—चंपक छवि=चंपे का सा वर्ण। आराम=बाग। कुंदकली=दाँत। विंब=(विंबाफल) ओठ। वसु=आठ। जाम=पहर। कीर=(शुक) नासा। खंजन=नेत्र। भौंर=(यहाँ) केश। कोकिल=वाणी।

(उपदेश)—यह कि स्त्री की छवि पर आसक्त न हो, परलोक का ध्यान रखो।

(नोट)—स्त्री को बाग मानकर रूपकातिशयोक्ति कही गई है। बड़ी सुंदर उक्ति है।

मूल—चारों दिस लहरी चलें बिलसैं वनज बिसाल।
चपल मीन गति ललित अति तापर सजे सिवाल॥
तापर सजे सिवाल हंस अवली सित सोहै।
कोक जुगल रमनीय निरखि सर में मति मोहै॥
बरनें दीनदयाल मकरपति यामें भारो।
त्रास मानि हे पथी! ग्रास करिहै लखि चारो॥ २४॥

शब्दार्थ—लहरी=सौंदर्य की तरंगें। वनज=(कमल) यहाँ मुखमंडल। मीन=नेत्र। सिवाल=केशपाश। हंसअवली=मुक्तामाला। सित=सफेद। कोक=कुच। सर में मति मोहै=(१) नाभि में मति मोहित होती है, (२) इस सरोवर पर मोहित न होना, सावधान! मकरपति=(१) मगर, (२) कामदेव। ग्रास करिहै=ग्रस लेगा, पकड़ लेगा। चारो=(अपना) भोजन।

(नोट)—स्त्री को सरोवर मान कर अतिशयोक्ति कही गई है।

(सूचना)—अंतिम चार उक्तियों में कवि ने 'कविचातुरी' का कमाल दिखलाया है। दीनदयाल जी सन्यासी थे, वैराग उनकी प्रकृति में समाया था। पर कवि होने के कारण रसिकता को नहीं त्याग सके। नारी निंदा नहीं कर सके। सँभल कर और अलंकारों

का आश्रय लेकर अपने पद के अनुसार स्त्री पर आसक्त न होने का सुंदर और उपकारी उपदेश दे ही डाला। ऐसी ही कविताओं से कवि की प्रकृति, उसकी चातुरी और अलंकार शास्त्र की उपयोगिता समझी जा सकती है।

अथ शांत-शृंगार-संगम

मूल—भूलै जोवन के न मद अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन चारि को अंत कंत सों काम॥
अंत कंत सों काम तंत सब ही तजि दे री।
जाते रीझै नाह नेह नव तातें कै री॥
बरनै दीनदयाल भूप भूषन अनुकूलै।
चलि पिय गेह सनेह साजि, लखि देह न भूलै॥ २५॥

शब्दार्थ—नैहर=(सं० ज्ञातिगृह=ज्ञातिघर=नाइघर=नैहर) पितृगृह। तंत=प्रबंध, (यहाँ) खेलकूद। कै=कर। भूप=भूपित कर, पहिन ले। बाम=(यहाँ) मानव मति जीवात्मा।

भावार्थ—सरल ही है।

(नोट)—यहाँ से लेकर कुंडलिया नं० ३६ तक जीवात्मा के प्रति कवि का उपदेश है कि ईश्वर के यहाँ चलना है, संसार में मन न लगा। अच्छे काम करके वहाँ चलने की तैयारी कर।

मूल—गौने को दिन निकट अब होन चहै पिय मेल।
अजहूँ छुट्यौ न तोहि री गुड़ियन को यह खेल॥
गुड़ियन को यह खेल खेलि सब समय बिगारे।
सिखे नहीं गुन कछू पिया मन मोहनवारे॥
बरनै दीनदयाल सीख पैहै पिय भौने।
ये री भूषन साजि भट्ट! दिन आवत गौने॥ २६॥

शब्दार्थ—गौना=द्विरागमन । गुड़ियन को खेल=(यहाँ) सांसारिक व्यवहार । बिगारे=नष्ट किया । सीख पैहै=दण्ड पावेगी, पीटी जायगी । भौने=भवन मे । भट्ट=वधू ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—तू मत सोवै री परी कहैा तोहि मैं टेरि ।
साजि सुभ भूषन बसन अब पिया मिलन की बेरि ॥
पिया मिलन की बेरि छाँड़ि अजहूँ लरिकापन ।
सूधे दृग सो हेरि, फेरि मुख ना, दै तन मन ॥
बरनै दीनदयाल छमैगो चूकन हू पति ।
जागि चरन मे लागि सभागिनि सोवै तू मति ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—बेरि=बेला । चूकन हू=दोषो को भी । पति=ईश्वर । सभागिनि=सोहागिन, सौभाग्यवती ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—पिय तें बिछुरे तोहि री बिते बहुत हैं रोज ।
पिय पिय पपिहा जड़ रटै तू न करै पिय खोज ॥
तू न करै पिय खोज किते दुरमति मे भूली ।
होन लगे सित केस कैान मद में अब फूली ॥
बरनै दीनदयाल सुमिरि अजहूँ तेहि हिय तें ।
है सब तेरी चूक नहीं कछु तेरे पिय तें ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—बिते=व्यतीत हुए । रोज=(फा०) दिन । जड़=अज्ञान । किते=कहाँ । सित=सफेद ।

भावार्थ—सरल है ।

मूल—औरी पिय सो सब तिया मिलीं महल में जाय ।
तू बोरी पौरी धरे बाहर ही पछिताय ॥

बाहर ही पछिताय रही अपनी करनी तें।
अली लगी अति देर चली कौनी सरनी तें॥
बरनै दीनदयाल चूक तेरी यहि ठौरी।
अब तो लगे कपाट भई यह बेला औरी॥ २६॥

शब्दार्थ—औरी=अन्यान्य। महल=रंगसारी। पौरी धरे=द्वार पर। सरनी=(सं० सरणि) पद्धति, मार्ग। ठौरी=स्थान। कपाट=किवाड़। बेला=वक्त।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—मोहै नाहिं निहारि तू परी नारि गँवारि।
ये दूती हैं जार की तोहि बिगारनि-हारि॥
तोहि बिगारनि हारि कहैं मधुरी मृदु बातें।
तै सुनिकै ललचाइ लखै नहि इनकी घातें॥
करिहैं दीनदयाल कंत सो तोहि बिछोहै।
अंत धरम बिनसाय कलंक लगाय बिमोहै॥३०॥

शब्दार्थ—जार=परपति। घातें=युक्तियाँ। बिछोह=वियोग।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—पति के ढिग जनि जार पै मार नयन के बान।
जानत सब व्यभिचार तव गुनत न नाह सुजान॥
गुनत न नाह सुजान कृपामय मानि अपानी।
बाँह गहे की लाज बिचारत स्वामि सुज्ञानी॥
बरनै दीनदयाल बैन सुनि परी मति के।
हैं अपजस अघ अंत किये छल सनमुख पति के॥३१॥

शब्दार्थ—व्यभिचार=परपति सबंध। गुनत न=चित्त मे नहीं देता। मानि अपानी=अपनी (स्त्री) समझ कर। मति के=समझदारी के। अपजस=बदनामी।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—स्वामी सुंदर सीलजुत अपनो गुनी कुलीन।
ताहि त्यागि पर नाह सठ सेवति कहा मलीन॥
सेवति कहा मलीन हीनमति कुलटा बौरी।
सुधासिंधु तजि मुधा फिरै मृगजल को दौरी॥
बरनै दीनदयाल अगे ह्वै है बदनामी।
जार गँवारहि भजे तजे वर अपनो स्वामी॥३२॥

शब्दार्थ—नाह=(नाथ) पति। कुलटा=परपति-गामिनी स्त्री। मुधा=व्यर्थ। मृगजल=मृगतृष्णा का जल। बदनामी=अपजस। जार=यार, उपपति। वर=श्रेष्ठ, उत्तम।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—औरे सब जग के पुरुष अपने पति पर वार।
जैसो तैसो निज भलो दुहूँ कुल तारनिहार॥
दुहूँ कुल तारनिहार सुजस गति तासों लहिये।
इतर संग भय हाय खोय कीरति दुख सहिये॥
बरनै दीनदयाल सील लाजहु या टारे।
राखि राखि री राखि छाँटि जग के पति औरे॥३३॥

शब्दार्थ—वार=वारने कर दे, निछावर कर दे। जैसो तैसो=जैसा हो वैसा ही। गति=मुक्ति। इतर=अन्य।

भावार्थ—सरल है।

मूल—तेरे ही अनुकूल पति कित बिनवै प्रिय बोलि।
घट में खटपट मति करे घूँघट को पट खोलि॥
घूँघट को पट खोलि देखि लालन की सोभा।
परम रम्य बुधि-गम्य जासु छबि लखि जग लोभा॥

बरनै दीनदयाल कपट तजि रहु पिय नेरे।
विमुख करावनिहार तोहि सनमुख बहुतेरे ॥३४॥

शब्दार्थ—अनुकूल पति=वह पति जो निज स्त्री पर अति सतुष्ट हो। रम्य=सुदर। बुद्धिगम्य=जो बुद्धि से समझा जा सके।

भावार्थ—सरल है। इतना याद कर लो कि यहाँ पति=परमात्मा। घूँघटपट=माया का आवरण। विमुख करावनिहार=काम क्रोधादि। प्रिय=जीवात्मा है।

मूल—येरी जोवन कनक है सुनि री बाल अजान।
निज नायक अनुकूल ते नहीं चाहिये मान॥
नहीं चाहिये मान देख यह समै सोहाई।
द्विजगन के कल गान स्याम सुधि देत धराई॥
बरनै दीनदयाल सीख सुनि सुदरि मेरी।
विहरि विहारी नाह पाहँ तेहि छाहँ अये री॥३५॥

शब्दार्थ—नायक=पति। सोहाई=शोभा दे रहा है, सुन्दर है। सुधि धराय देत=याद दिला देता है॥ सीख=शिक्षा। विहरि=विहार कर। नाह=पति। अये री=(सबोधन है)।

भावार्थ—सरल है।

मूल—विछुरी तू बहु काल ते पौढ़ी पीतम पाहँ।
कछु बीती निसि नींद में कछु कलहन के माहँ॥
कछु कलहन के माहँ रही मुख फेरि कठोरी।
पिय हिय लाई नाहि मोद नहि पायो बोरी॥
बरनै दीनदयाल रही अब निसि ना किछु री।
तू प्यारे परजंक पौढ़ि अजहूँ लौं विछुरी॥३६॥

शब्दार्थ—पाहँ=(पार्श्व) निकट। कलह=प्रणय-कलह। हिय लाई नाहि=हृदय मे नहीं लगाया। किन्तु=कुछ भी। परजक=(स० पर्यंक, पल्यक) पलग। पौढ़ि=लेट कर।

भावार्थ—हे स्त्री, तू अपने खाविद के साथ लेटी हुई भी बहुत देर से वियोगिनी है। कुछ रात्रि तो नींद मे बीत गई और कुछ प्रणय कलह मे गुजर गई। कुछ ही कलह के कारण तू ने मुहँ फेर लिया, अत तू बड़ी कठोर हृदया जान पडती है। इसी से प्रियतम ने भी तुझे हृदय से नहीं लगाया, और इसीसे तुझ बैरी ने कुछ सुख नहीं पाया। दीनदयाल जी कहते हैं कि अब तो कुछ भी रात्रि बाकी नहीं रही, और तू प्रियतम के पलग पर लेटी हुई भी अबतक वियोगिनी बनी है।

नोट—यहाँ तक जीवात्मा को स्त्री मानकर और ईश्वर को पति मानकर उससे विमुख न रहने का उपदेश है।

मूल—कासो पाती हौं लिखौ कापै कहौ सँदेस।
जे जे गे ते नहि फिरे वहि पीतम के देस॥
वहि पीतम के देस बड़ो अचरज या भासै।
कहँ न तम को लेस तहाँ बिनु भानु प्रकासै॥
बरनै दीनदयाल जहाँ नित मोद-मवासो।
जन्मादिक दुख द्वद नहीं चर कहिए कासो॥२७॥

शब्दार्थ—कासों पाती हौं-लिखो=पत्रादि लिखने की सामग्री नहीं है। कापै कहौ सँदेस=किसके द्वारा सँदेसा कहला भेजूँ। गे=गये। मोद मवासो=मोद के रहने का सुरक्षित स्थान। दुखद्वद=दु ख देने वाले विरोधी भाव, जैसे—जन्म-मरण, शीत-उष्ण, रात-दिन इत्यादि। नहीं=इसका प्रयोग देहरी दीपक-न्याय है, अर्थात् पक्ति के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो में लगेगा। चर=दूत।

भावार्थ—सरल ही है।

(नोट) मिलाओ —

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

(गीता० अ० १५)

(सती)

मूल—पति की संगति री सती लै सुगती यहि आगि।
धरे सिंधौरा कर परै अब दे डगमग त्यागि॥
अब दे डगमग त्यागि भागि जनि चेति चिता को।
जरे मरे सिधि पाउ कलंक न लाउ पिता को॥
वरनै दीनदयाल वात यह नीकी मति की।
सुजस लोक, परलोक श्रेय, लै संगति पति की॥३८॥

शब्दार्थ—सुगती=मुक्ति। सिंधौरा=ब्याह समय की सिंदूर दानी। (रीति है कि ब्याह समय का सिंधौरा लेकर सती चिता पर बैठती है)। डगमग=विचलित होना। चेति=जला दे आग लगा दे। श्रेय=कल्याण।

भावार्थ—हे सती, इस आग मे पति के साथ जलकर मुक्ति पद प्राप्त कर। जब सिंधौरा हाथ पर रख ही लिया तब अब विचलित होना छोड़ दे। विचलित होना छोड़ दे, भाग मत, चिता को (अपने सत से) जला दे। जल कर सिद्धि प्राप्त कर, पिता को कलंक मत लगवा। दीनदयाल कहते हैं कि यही समझदारी की बात है। इसमे इस लोक में सुयश और परलोक मे मंगल होगा, अतः पति के साथ सती होकर पतिलोक को जा।

अथ मोह, विवेकादि वर्णन

(मोह)

मूल—जीवत हौ यहि जगत में देह मरे के अंत।
अहो मोह अति सिद्ध हौ तुम में कला अनंत।
तुममे कला अनत, सत गुनि अचरज मानै।
सोक अनल के माहँ हृदय वारिज को आनै।
बरनै दीनदयाल नेह मे नटी हौ,
देखि परो नहिं, ज्ञान दिव्य लोचन को, जीवत हौ।

शब्दार्थ—देह मरे के अत = देह की अंतिम ...
कला = हुनर। मोह = गलतफहमी (कुछ का कुछ समझ लेना)

भावार्थ—हे मोह ! तुम शरीरांत तक जीवित रहते हो ...
भारी सिद्ध पुरुष हो, तुम मे अनत हुनर (सिद्धि) ...
है कि सत लोग उसे समझ २ कर आश्चर्य हो जाते ...
रूपी अग्नि मे भी हृदयरूपी कमल को (प्रफुल्लित) ...
दीनदयाल कहते हैं कि तुम नटी के समान ...
आँख को जीवन पर्यन्त दिव्य ज्ञान न दिखाई ...
है।)

(काम)

मूल—हर तन धरि कोपागि जग जारत ...
तुम जारत जग जनक मन अतनु ...
अतन हँसन विन काल व्याल मनि ...
ये लीने कर शूल, फून मर, ...
बरने दीनदयाल जयो तेहि ...
हारि रहे सब भाँति लगत नव ...

शब्दार्थ—जग-जनक =शिव।

भावार्थ—कराल प्रलय के समय, शंकर तो तन धारण करके अपनी कोपाग्नि से संसार को जलाते हैं, पर हे काम! तुम देह-रहित होकर भी हँसते २ (बिना परिश्रम) अकाल में ही जगत्पिता शिव का मन जला देते हो। उनके लिये अकाल ही मुखरूपी शशि से अग्नि पैदा हुई, यह देखकर काम हँसता है। वे तो त्रिशूल लिये हुए हैं (तब संसार को जलाते हैं, पर) तुम्हारे पुष्प-सर उस त्रिशूल से भी अधिकतर संतप्त करनेवाले हैं। दीन-दयाल कहते हैं कि उनको तो खेल ही खेल में प्रतिज्ञा करके तुम ने जीत लिया। सब प्रकार से तनधारी शिव तेरे बल को देखकर हार गये (तुम ऐसे प्रबल हो)।

मूल—ह्यां मति आओ मार तुम मारे रथी अपार।
यह हर-ईछन तीसरो तीछन बड़ो विचार॥
तीछन बड़ो विचार तुम्हें लै छार करैगो।
सबही तो परिवार रोय बहु बार मरैगो॥
बरनै दीनदयाल काम!! ह्वैहै तब क्या गति।
उतै रहौ, कहुँ वहो प्रान लै, आओ ह्यां मति॥ ४१॥

शब्दार्थ—मार=काम। रथी=बली योद्धा। हर-ईछन=शिवनेत्र। कहुँ वहौ प्रान लै=प्राण लेकर कहीं भाग जाओ।

भावार्थ—सरल ही है।

(क्रोध)

मूल—जेहि मन ते उदभव भयो जेहि बल जग में सूर।
तेहि निसि दिन जारत अहो दुसह कोप गति क्रूर॥
दुसह कोप गति क्रूर बडो कृतघन जग मो है।
प्रथम दहत है आप बहुरि दाहत सब को है॥

वरनै दीनदयाल कोप तू सुनि सब जन तें।
अजस होत जनि दहै भयो उदभव जेहि मन ते॥४२॥

शब्दार्थ—उदभव भयो = पैदा हुआ। सूर = शूरवीर। क्रूर = निर्दय। कृतघन = कृतघ्न।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—भाजत लै भा, लखि तुम्हैं इन नैनन के ईस।
करत महा तम, क्रोध तुम! कौन करै तव रीस॥
कौन करै तव रीस, एक गुन में जग लावत।
अधर, दसन, भ्रू, नाक, निमिष में सबै नचावत॥
वरनै दीनदयाल घोर घन लौं क्रुन गाजत।
ए हो कोप प्रचंड कौन नहिं तुमतें भाजत॥ ४३॥

शब्दार्थ—भा = ज्योति। नैनन के ईस = सूर्य। रीस = बराबरी। एक गुन में जग लावत = समस्त संसार को एक गुणमय (तम गुणमय = अंधेरा) कर देते हो। लौं = समान। गाजत = गरजते हो। भाजत लै ईस = क्रुध मनुष्य को कुछ सूझता नहीं।

भावार्थ—सरल ही है।

(लोभ)

मूल—तुमरी लोभ! कलानि को अचरज कहैं प्रवीन।
ज्यों ज्यों वय ग्रासै जरा त्यों त्यों होत नवीन॥
त्यों त्यों होत नवीन सकल जन को तुम घेरत।
खरे रहो सब ठौर न कोऊ तो तन पेखत।
वरनै दीनदयाल अखिल महि तो मति घुमरी।
लही न पुरी बुराट कला यह चूकनि तुमरी॥४४॥

शब्दार्थ—वय ग्रासै जरा = जरावस्था आती जाती है। तो तन = तेरी ओर। पेखत = (सं० प्रेक्षण) देखता है। घुमरी = घूम

आई, चक्कर दिया। पुरी = पूर्ण, समूची। वराट = कौड़ी। तीर= निकट।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—अचयो कुभज नीरनिधि सो सिध बड़े कहात।
तुम जग जीवन निधि-निकर सीकर सम चटि जात॥
सीकर सम चटि जात लोभ तव प्यास न जाई।
तुम अकास, रिषि रेनु, कहा तिन केरि बड़ाई।
बरनैं दीनदयाल लोक तिहुँ असि कैं पँचयो।
तऊ भूख नहि प्यास गई, सन सागर अचयो ॥४५॥

शब्दार्थ—कुभज = अगस्त्य ऋषि। नीरनिधि = समुद्र। जीवननिधि = धन। निकर = समूह। सीकर = कण, बूँद। चटि जात = चाट जाते हो। तुम ... रेनु = तुम आकाश सम हो और अगस्त्य रेणुकण के समान है। अचयो = पी गये।

भावार्थ—सरल है।

मूल—आसा की डोरी गरे बाँधि देत दुख पोभ।
चित पितु को बंदर कियो अहो कलंदर लोभ॥
अहो कलंदर लोभ छोभ दै नाच नचावत।
जदपि निरादर चोट समुझि अतिसै दुख पावत॥
बरनै दीनदयाल लोग सब लखैं तमासा।
भरमाने जग बरहि तऊ नहि पूरति आसा ॥४६॥

शब्दार्थ—पोभ = खोभा, पीड़ा। कलंदर = बंदर नचाने-वाला। तमासा = खेल। पूरति = पूर्ण होती है।

भावार्थ—सरल ही है।

(दंभ)

मूल—देखो कपटी दंभ को कैसो याको काम।
बेचनहारो बेर को देत दिखाय बदाम॥

सेत दिखाय बदाम लिये मखमल की थैली।
बाहर बनी विचित्र वस्तु अंतर अति मैली॥
बरनै दीनदयाल कौन करि सकै परेखो।
ऊँची बैठि दुकान ठगै सिगरो जग देखो॥ ४७॥

(नोट)—अर्थ सरल ही है। दंभ की यही ठीक परिभाषा है।

(अभिमान)

मूल—करनी जम्बुक जून ज्यों, गरजनि सिंह समान।
क्यों न डरै जग लखि तुम्हैं अहो बीर अभिमान॥
अहो बीर अभिमान धरा की धीर धरैगो।
कोप करो न प्रचंड सबै ब्रह्मांड जरैगो॥
बरनै दीनदयाल गिरा भट तो मति बरनी।
धरनीधर लौं गई नई यह अद्भुत करनी॥ ४८॥

शब्दार्थ—जम्बुक=सियार। जून=(जीर्ण) बुड्ढा। जरैगो=(ऐसा प्रसिद्ध है कि जब सियार क्रुद्ध होकर चिल्लाता है, तब उसके मुँह से अग्नि की सी ज्वालाएँ निकलती देखी जाती हैं) भस्म हो जायगा। गिराभट=वाग्वीर, बोलने में शूर। धरनीधर=शेषनाग। लौं=तक।

भावार्थ—हे वीर अभिमान! तुम्हें देख कर संसार क्यों न डरे, क्योंकि तुम्हारा गरजना तो सिंह के समान है, परन्तु करतूत तो बूढ़े सियार की सी है (महाकायर हो)। हे वीर अभिमान! तुम्हें देख कर पृथ्वी में कौन धीरज धर सकता है। अतः प्रचंड कोप न करो, नहीं तो समस्त ब्रह्मांड भस्म हो जायगा। दीनदयाल कहते हैं कि तुम्हारी मति तो वाग्वीर ही कही गई है (बोलने बहुत हो, कर कुछ नहीं सकते)। तुम्हारी इस नवीन और अनोखी

करनी की चर्चा शेषनाग तक पहुँच गई है—(शेष भी ज्वाला वमन करने वाले और वाग्वीर हैं)।

(विवेक)

मूल—सुनिये वैन विवेक जू हो नृप धीरज धाम।
जो लगि जीवत काम यह तो लगि होय न काम॥
तो लगि होय न काम बड़ो खल है रिपुदल में।
याकी कला अनेक सकल जग जीते छल में॥
बरनै दीनदयाल विरति सों मिलि हित गुनिये।
भनै जो मंत्री साधु सीख साँची सो सुनिये॥४६॥

शब्दार्थ—काम=कामवासना। तौलगि होय न काम=तब तक शांति प्राप्त न होगी। विरति=वैराग। हित गुनिये=अपनी भलाई समझो। भनै=कहे। साधु=सज्जन।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—करिये वेगि विवेक जू शांति प्रिया को सोध।
सकुल कृतारथ होहुगे उपजत पूत प्रबोध॥
उपजत पूत प्रबोध बजैगी अनँद-बधाई।
धन्य कहैंगे धीर रहैगी कीरति छाई॥
बरनै दीनदयाल जगत के जाल न परिये।
मिलि नियमादि सखान शांति सो नित हित करिये॥५०॥

शब्दार्थ—प्रिया=पत्नी। सोध=खोज। प्रबोध=ज्ञान।
भावार्थ—सरल ही है।

मूल—सुनिये भूप विवेक तुम वासुदेव अवतार।
किय मन पितु वसुदेव को बंधन तें उद्धार॥
बंधन तें उद्धार कियो, कामादि कंस हनि।
जनकहि दे आनंद कृतारथ कुलहि किये धनि॥

वरनै दीनदयाल सुमति से नित हित गुनिये।
जाते पुत प्रबोध प्रकट ह्वै सो सिख सुनिये ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—वासुदेव=श्रीकृष्ण। नित हित गुनिये=हमेशा प्रेम रखो। ह्वै=(होय) होवे।

भावार्थ—सरल ही है।

(विचार)

मूल—सुनिये वेन विचार तुम या जग होते जौ न।
तो यह जीव मलीन को करत कृतारथ कौन॥
करत कृतारथ कौन ख्वार इहि मारहि मारत।
को करिकै निरधारहि सार असार विचारत॥
वरनै दीनदयाल वहै विधि गुरुगम गुनिये।
जाते होय प्रबोध उदय सो समति सुनिये ॥५२॥

शब्दार्थ—ख्वार=जलील। ख्वार इहि मारहि मारत=इसे तो काम ही जलील करके मार डालता। निरधार=निर्णय। गुरुगम=(स० गुरुगम्य) गुरुद्वारा समझने योग्य। प्रबोध=ज्ञान।

भावार्थ—सरल ही है।

(विराग)

मूल—एहो त्याग मृगेस! तुम विन यहि तन-वन राज।
करन स्यार कामादि अब, ह्वै स्वतत्र सिरताज॥
ह्वै स्वतत्र सिरताज फिरत कुकत के फूले।
किन गरजत घननाद, पराक्रम कित वह भूले॥
वरनैं दीनदयाल त्रास जौलौं नहि देहौ।
तोलौं नहि ये क्रुर कढ़ैंगे हिय ते ए हो ॥५३॥

शब्दार्थ—त्याग = विराग । मृगेस = सिंह । तन-वन = तन रूपी वन मे । राज करत = शासन करते हैं । फिरत कूकत, कै फूले = कूकते फिरते हैं वा फूले फिरते हैं । घननाद = बादल की सी गरज से । पराक्रम = बल ।

भावार्थ—सुगम ही है । (अलकार)—रूपक ।

(संतोष)

मूल—ए हो तोष कुलोभ तम को तौलों है बास ।
जौलों नहि रवि रूप तुम प्रगटत हृदय अकास ॥
प्रगटत हृदय अकास लाभ लघु मुद जुगुनू के ।
दुख दीनता मलीन उलूक रहैं ढिग ढुके ॥
बरनै दीनदयाल लोभ को कब भय देहो ।
तुम बिन सुख नहि रच सुनो संतोष अप हो ॥५४॥

शब्दार्थ—तोष = संतोष । तम = अंधकार । मुद = आनद । लाभ लघु मुद जुगुनू के = जुगुनू के प्रकाश से थोडा ही लाभ और आनद है । रहैं ढिग ढुके = निकट ही घात मे दुबके बैठे रहते हैं ।

भावार्थ—सरल ही है ।

(क्षमा)

मूल—बानी कटु सुनि कोप की क्षमा ! गहो न गिलान ।
कहा हानि मृगराज को भूँकत जौ लखि स्वान ॥
भूँकत जो लखि स्वान हारि मानैगो आपै ।
बैठि रहो हे बीर धीर तुम बोलत कापै ॥
बरनै दीनदयाल बात बुध बिमल बखानी ।
कीजै कछू न सोच सठन की सुनि कटु बानी ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—गिलान = ग्लानि । स्वान = कुत्ता । बुध = पडित ।

भावार्थ—सरल ही है।

(मन)

मूल—हे मन्न ये कामादि तव तनय नरक की खानि।
तुम जानत सुखदानि हैं ये निस दिन दुखदानि॥
ये निस दिन दुखदानि मीत बनि प्रीत प्रकासै।
अंतर अरि हैं अंत छीनि तो निज धन नासै॥
बरनै दीनदयाल संग इनके है छेम न।
सुत विवेक तें आदि करो तिनतें हित हे मन॥ ५६॥

शब्दार्थ—तनय=पुत्र। अंतर=भीतर ही भीतर, गुप्त रूप से। सुत विवेक तें आदि=विवेक, विचार, विराग इत्यादि पुत्र।

भावार्थ—सरल है।

मूल—हे मन बद मद मार को कछु न करो इतबार।
ये तो दैतन दैत हैं सुभ गुन भच्छनिहार॥
सुभ गुन भच्छनिहार कुमति रजनी में गाजैं।
होय प्रबोध प्रभात नहीं तब ते खल राजैं॥
बरनै दीनदयाल जगत मैं तौलगि छेम न।
जौलगि नहिं ये क्रूर कढ़ैंगे हिय तें हे मन॥ ५७॥

शब्दार्थ—बद = (फा०) खोटे। इतबार=(अ०) विश्वास। दैतन दैत हैं=दैत्यों के दैत्य हैं, बड़े बली दैत्य हैं। रजनी = रात्रि। प्रबोध=ज्ञान। राजैं=शोभा पाते हैं। तौलगि=तबतक।

भावार्थ—सरल ही है।

(अलंकार)—रूपक।

(प्रबोध प्रशंसा)

मूल—भारी भूपति जीव यह रह्यो अखिल को ईस।
भयो भूल बस कीट सम निज पद परयो न दीस॥

निजपद परयो न दीस ताहि सुर सीसहि चाढ्यो।
हे प्रवोध तुम धन्य जगत-सरि बूडत काढ्यो॥
वरनै दीनदयाल वेद हैं तव जसकारी।
'चिदानद संदोह' दियो सिंहासन भारी॥ ५८॥

शब्दार्थ—अखिल=सर्वससार। ईस (ईश)=मालिक। पद=पदवी स्थान। दीस न परयो=देख न पडा। सुर सीसहि चाढ्यो=देवताओं के सिर पर चढा दिया, सर्वश्रेष्ठ बना दिया। "चाढ्यो" क्रिया का यह रूप हमे ठीक नहीं जॅचता)। जसकारी=यश गानेवाला।

भावार्थ—यह जीवात्मा सबका मालिक एक बडा भारी राजा था। भूलवस कीड़ा समान हो गया, उसे अपना पद न देख पडा। ऐसे तुच्छ को (हे प्रबोध! तूने) सर्वश्रेष्ठ बना दिया। हे प्रबोध! तुम धन्य हो कि जीव को ससार नदी में डूबने से निकाल लिया। दीनदयाल कहते हैं कि वेद तुम्हारा यश वर्णन करता है, क्योंकि तुमने "चिदानदसदोह" का भारी पद जीव को दिया है।

नोट—छंद न० ३६ से यहाँ तक विवेकादि का वर्णन है। पाठक इसे अच्छी तरह समझ लें। इससे अधिक जानना चाहें तो 'कृष्णकवि' कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' और 'केशवदास' कृत 'विज्ञानगीता' को देखें।

फुटकर-प्रसंग

(विधि विडबना)

मूल—करनी विधि की देखिये अहो न बरनी जाति।
हरनी के नीके नयन बसै विपिन दिनराति॥
बसै विपिन दिनराति बरन बर बरही कीने।
कारी छवि कलकठ किये फिर काक अधीने॥

वरनै दीनदयाल धीर धन ते विन धरनी।
वल्लभ बीच वियोग, विलोकहु विधि की करनी॥ ५६॥

शब्दार्थ—वरही=मयूर। कलकंठ=कोयल। धीर=धैर्यवान (बुद्धिमान)। धन ते विन=बिना धन के (निर्धन)। वल्लभ=प्रियजन।

भावार्थ—ब्रह्मा की करतूत तो देखो, वर्णन नहीं की जा सकती। अच्छे नेत्रवाली हरणी रात-दिन जंगल में बसती है, मोर का सुंदर रंग किया है, कोयल को काली बनाकर कौवे के अधीन किया है, बुद्धिमानों को निर्धन बनाया, प्रियजनों का वियोग करा देता है। ब्रह्मा की इस करतूत को गौर से देखो (और समझो)।

मूल—आये काम न सांकरे रत्नक खरे अपार।
रतनाकर अरु चंद के हुते सकल हितकार॥
हुते सकल हितकार विबुध वर धीर बांकुरे।
और सूलधर ईस गदाधर धीर ठाकुरे॥
वरनै दीनदयाल रहे सब सखा सोहाये।
कुंभजात अरु राहु ग्रसत कोउ काम न आये॥ ६०॥

शब्दार्थ—सांकरे=संकट। खरे=सच्चे (खोटे नहीं)। रतनाकर=समुद्र। हितकार=शुभैषी। बांकुरे=बांके (विरदवाले)। ईस=शिव। गदाधर=विष्णु। ठाकुर=शक्तिमान। कुंभजात=अगस्त्य मुनि। काम न आये=सहायता न कर सके, बचा न सके, रक्षा न कर सके।

अलंकार—यथासंख्य।

मूल—द्वैज दिवस के चंद को वंदत सबै सप्रीति।
कहत कलंकी पूर ससि अहो कूर जगरीति॥

अहो क्रूर जग रीति बढ़े पर चौगुन दूषैं।
मिलै कुटिल कवहूँक ताहि महिमा करि भूपैं॥
बरनै दीनदयाल न प्रापति ह्वै दिन-दस के।
सबै करैं बहुमान जथा ससि द्वैज दिवस के॥ ६१॥

शब्दार्थ—पूरससि=पूर्णिमा का चद्रमा। क्रूर=निकम्मी। कवहूँक=कभी। भूपैं=भूपित करते हैं। महिमा करि भूपैं=बड़ाई से भूपित करते हैं। न प्रापति दस के=अच्छी दिन दशा के न प्राप्त होने पर (दीनावस्था में ही)। बरनै दस के=दीनदयाल जी कहते हैं कि अच्छी दशा के न प्राप्त होने पर भी (कभी २ छोटे कुटिलो की भी प्रशसा होती है)।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—जाको खोजत सो मिलै यामै ससय नाहिं।
विरचै माखी मधु सुधा भीपन वन के माहिं॥
भीपन वन के माहि सिंह गजराज बिदारैं।
मुकता मिलैं मराल, मिलिंद सरोज बिहारैं॥
बरनै दीनदयाल स्वाति जलऊ पपिहा को।
मिलै भली विधि आय जौन जग खोजत जाको॥ ६२॥

शब्दार्थ—ससय=सदेह। सुधा=मीठा। मिलिंद=भौरा।

भावार्थ—सरल ही है।

(भूप-कूप श्लेष)

मूल—कूपहिं आदर उचित है नही गुनिन को हेय।
अंतर गुन को ग्रहन करि फिरि फिर जीवन देय॥
फिरि फिरि जीवन देय गुनी गुन वृथा न जावै।
अति गभीर हिय दुहू झुके तें अमृत लगावै॥

बरनै दीनदयाल न देखत रूप कुरूपहिं।
जो घट अरपन करै ताहितें ममता कूपहिं ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ—(कूपपक्ष में)—कूप = कुँआ। गुनी = जिसके पास रस्सी हो। नहीं गुनिन को हेय = रस्सीवाले का अनादर कुँआ कर ,ही नहीं सकता। अंतर = अपने भीतर। जीवन = जल। अमृत = जल। घट = घड़ा। ममता = अपना समझना। अरपन करै = कुएँ में डाले। (राजा पक्ष में) —कु = पृथ्वी। कूप = (कु + प) पृथ्वीपति, राजा। गुनी = गुणवान व्यक्ति। अंतर = हृदय में। जीवन = जीविका। दुहू = कुँआ और राजा। झुके तें = झुकने से, अधीन रहने से। अमृत = धन, जो बिना माँगे मिलै। घट = शरीर। अरपन करै = सेवा मे लगा दे। ममता = प्रेम। कूपहिं = राजा को।

भावार्थ—शब्दार्थ के ज्ञानवल से दोनो अर्थ सरल और बोधगम्य हो जाते हैं।

(सज्जन-ढेंकुल श्लेष)

मूल—गुन को गहि यहि खेत मे नमै सुवसज होय।
कृसित तन जीवन देत हैं पीछे गुरुता होय ॥
पीछे गुरुता होय कूप तें आदर पावैं।
ऊँच कहैं सब कोय अमृत घट पुन्य सोहावैं ॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिये जग उनको।
सहि दुख, सुख दै सबै, सरल अति हैं गहि गुनको ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ—(सज्जन पक्ष में)—गुन = गुण। खेत = ससार। नमै = झुकते हैं। सुवसज = अच्छे वश से उत्पन्न। कृसित = दुर्बल, निर्बल। जीवन = जीविका। गुरुता = बड़ाई। कूप = (कु + प) राजा, पृथ्वीपति। अमृतघट = अमर शरीर। पुन्य = पवित्र। सरल = सीधे सादे। (ढेंकुल पक्ष मे)—गुन = रस्सी। खेत =

जोती हुई जमीन। नमैं=झुकते हैं। सुवसज=अच्छे वांस का। कृसितन=(कृषि+तन) खेती के तन को, खेतों को। जीवन=जल। गुरुता=भार, जो ढेंकुल के पीछे बँधा या चिपका रहता है। कूप=कुँवा। अमृतघट=पानी के घड़े। पुन्य=पवित्र। सरल=सीधा। गुन=रस्सी।

भावार्थ—शब्दार्थ बल से सुबोध हो जाता है।

(सूक्ष्मालंकार)

मूल—कासों हनिए कोप को, कापै पैए ज्ञान।
गुरु मौन सैनहि कह्यौ छिति छ्वै कै धरि कान॥
छिति छ्वै कै धरि कान दसन रवि-फेरि लखाये।
देखि केस की ओर सुनैन कपाट लगाये॥
बरनै दीनदयाल सिख्य गुरु की करना सों।
समुझि लई सब सैन बैन तिन कह्यौ न कासों॥ ६४॥

शब्दार्थ—सैनहि=इशारे से। छिति=पृथ्वी (जिसका पर्याय 'क्षमा' भी है)। कान=श्रुति (वेद)। दसन लखाये=हँस दिया। रवि=सूर्य (जिस का पर्याय 'हंस' भी है। हंस विवेकी प्रसिद्ध है)। केश=वाल। 'केश' शब्द का अर्थ 'विष्णु' भी है।

भावार्थ—एक शिष्य ने अपने मौनी गुरु से दो प्रश्न किये—(१) क्रोध को किस चीज से मारना चाहिए? (२) ज्ञान किस से मिल सकता है? गुरु ने जमीन छुई और कान पकड़ा (जिसका अर्थ हुआ क्षमा से और श्रुति अर्थात् वेद से)। पुनः यह विचार कर कि शायद शिष्य इन इशारो को न समझा हो—कुछ हँसदिया और सूर्य की ओर उँगली उठाई, जिसका अर्थ यह हुआ कि (१) हँस देने से और (२) हंस अर्थात् विवेकी बनने से। फिर विचार किया कि शायद अब भी न समझा हो, तब गुरु जी ने केशों की

ओर देख कर आँख मूद ली, जिसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर के ध्यान मे मग्न होने से। इसी एक क्रिया से कोप भी शात होजायगा और ज्ञान भी प्राप्त होगा।

नोट—सूक्ष्मालकार की परिभाषा यों है —
"सूछम पर आशय लखे करै क्रिया कछु भाय"। अर्थात् जहां इशारो से मन की बात समझाई जाय।

(मुद्रालकार)

मूल—कोई सा रस नहि मिलै मदन बान के बीच।
मीन केलकी कीच फँसि कुद भई मति नीच॥
कुद भई मति नीच निवारी जाइ नहीं है।
जुही समग्री, स्याम जपा कर नाम सही है॥
जाती दीनदयाल विमल बेला सन्बोई।
ताहि चेत कर वीर धीर बरनै सब कोई॥ ९९ ॥

भावार्थ—काम के बाणो के बीच पड़ने से कोई भी रस नहीं मिलता। काम की कीचड़ मे फँस कर मति भी मोथरी और नीच होगई है। कुद और नीच हुई बुद्धि उस ओर मे (काम की ओर जाने से) रोकी नहीं जा सकती (नष्ट होने की) सब सामग्री एकत्र होगई है, अत उचित यह है कि श्याम (कृष्ण) का अविनाशी नाम जपा कर। दीनदयाल कहते हैं कि यह सब निर्मल (अच्छी) बेला (समय) गुजरी जारही है। हे वीर! उसकी खबर कर, जिससे सब लोग तुझको धीर पुरुष कहके तेरी प्रशसा करें।

नोट—मुद्रालकार उसे कहते हैं जहाँ प्रस्तुत अर्थो के प्रकाशन में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जिसस एक सबध के अन्य शब्द भी निकल सकते हों। यहाँ जो अर्थ लिखागया है वह प्रस्तुत विषय है। पर इसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो पुष्पवाची हैं।

(देखिये)—कोई=कुमुदिनी। सारस=कमल। मदनवान=एक प्रकार का वेला। केतकी। कुद। निवारी। जाई। जूही। जपा=गुड़हर। करना। जाती=चमेली। वेला। शब्बो। करवीर। वरने=वरना (वरुना)। वकोई=(वकौरी) वकावली।

(पुन)

मूल—सो नाहीं नर सुघर है जो न भजे श्रीरंग।
पारावार अपार जग बूड़त भौर कुसग॥
बूड़त भोर कुसग ठौर तामहिँ नहि पावै।
सीसहु देत डुवाय भलो हाथहु न उठावै॥
वरनै दीनदयाल रूप हरि को तिहि माहीं।
ध्यान धरै दृढ़ नाव जानि, बूड़त सो नाहीं॥ ६७॥

नोट—प्रस्तुत अर्थ तो सरल ही है। यहाँ मुद्रा द्वारा धातुओं के नाम प्रकट होते हैं, यथा— सोना, रग=रॉगा। पारा। सग=(पत्थर) तामहि=तामा (ताम्र)। सीसा। लोहा। रूप=रूपा (चाँदी)। हरि=सोना। इसी प्रकार की रचना में मुद्रा अलकार माना जाता है।

(व्याजस्तुति)

मूल—कासी हाँसी मुनि करैं सुनि करनी तव एक।
दासी तपसी एक सी दै गति बिना विवेक॥
दै गति बिना विवेक, एक या और कुचाली।
अरपै कोऊ कोटि तिन्हैं लै करो कपाली॥
वरनै दीनदयाल काय तिहुँ तिनकी नासी।
परे सरन जे आय कहा यह कीन्ही कासी॥ ६८॥

शब्दार्थ—कपाली=(१) खोपड़ी लेकर भिक्षा माँगनेवाला, (२) शिव। काय तिहुँ=तीनों शरीर, अर्थात् स्थूल, लिंग, सूक्ष्म। काय नासी=मुक्त कर देती हो (तीनों शरीर नाश कर देती हो)

भावार्थ—सुगम ही है।

नोट—व्याजस्तुति की परिभाषा यो है—

"देखत तो निंदा लगै समुझे अस्तुति होय"।

मूल—सुरधुनि बंकित क्यों चलै चकित सुकवि यहि हेत।
अहो होत लज्जित नहीं खलन हंस-पद देत॥
खलन हंस-पद देत नहीं परिनाम विचारै।
बाँधै गहि लै जटा न वे उपकार निहारै॥
बरनै दीनदयाल परी सव तो सिर पै सुनि।
करी अकरनी जौन भोग ताको री सुरधुनि॥६६॥

शब्दार्थ—सुरधुनि=गंगा। बंकित=टेढ़ी, बाँकी। हंसपददेत=शिव बना देती है। परिनाम=अंतिम फल। सव=(सं०शव) मुर्दों की लाशें।

भावार्थ—सुगम है। व्याजस्तुति भी सरलता से समझी जाती है।

प्रेम-पचक

(सवैया)

मूल—छल वंचक हीन चलै पथ याहि, प्रतीति सुसंबल चाहनो है।
तहँ संकट वायु, वियोग लुवै, दिल की दुखदाव में दाहनो है॥
नद सोक, विषाद कुग्राह ग्रसे, खर धारहिं तो अवगाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनै अति अंत निवाहनो है॥७०॥

शब्दार्थ—वंचक=ठग। छल—वंचक—हीन=जिसके साथ छलरूपी ठग न लगा हो। संबल=राहखर्च। चाहनो है=जरूरत है। दाव=दावाग्नि। खर=तेज। अवगाहनो है=पार करना है। हित=प्रेम। अंत=ओर तक, अंत तक।

भावार्थ—सरल ही है।

अलंकार—रूपक।

मूल—सांजि सेज सुवारि वबूलन की तहँ मीत मतग सोवावनो है।
अरु नीर रखै सिकता घट मे, मकरीपट सिह बझावनो है॥
सुगमै वरु बारिधि पैरिबो है, पय ऊपर तारिबो पाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है॥७१॥

शब्दार्थ—बारिवबूला=पानी के बुलबुले। सोवावनो=लेटाना, पौढ़ाना। सिकता=बालू। मकरीपट=मकड़ी का जाला। बझाना=फँसाना। सुगम=सरल। पय=जल।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—रसना अहि की गहिवो सुगमै वन कटक गैान उवाहनो है।
गिरि तें गिरिबो, भिरिबो गज तें, तिरिबो वड़वागि को थाहनो है॥
रन एक अनेकन तें जु लरै तिमि ताहि न सूर सराहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है॥७२॥

शब्दार्थ—रसना=जीभ। सुगमै=यह शब्द देहरी दीपकन्याय से प्रयुक्त है, दोनो ओर लगेगा। गैान=गमन। उवाहनो=नगे पैर। वन है=कँटीले जगल मे नगे पैर चलना सहज बात है। तिमि . सराहनो है=उस सूर की वैसी प्रशसा न हो सकेगी जैसी उस सूरवीर की होगी जो अंत दम तक प्रेम का निर्वाह कर दे।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—पक्षलत्त तुरीन की हैं सुगमे, नख नाहर को हठि गाहनो है।
विष-नीर की पीर को धीर सहै चढ़ि चीर सरीरहि दाहनो है॥
मरुकूप के बीच फँसे सुगमै, वरु मीच तें वेर विसाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है, कठिनो अति अंत निबाहनो है॥७३॥

शब्दार्थ—पछलत्त=पिछली लातें। तुरी=घोड़ा। गाहनो=पकड़ना। चीर=चीड़ की लकड़ी। मरुकूप=मरुस्थल का कुँवा। बिसाहना=खरीदना, मोल लेना। हित=प्रेम।

भावार्थ—सरल है।

मूल—खल निंदक सूकर भै जहँ है, गरजे गजमत्त उराहनो है।
कुलकानि अपार पहार जहाँ गुरु लोग सँकोच कुपाहनो है॥
जल औरं भरी विपदा की सरी तहँ पक कलकहिं गाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनो अति अंत निवाहनो है॥७४॥

शब्दार्थ—भै=भय (डर)। उराहनो=उपालभ। कुलकानि=वश मर्यादा। कुपाहन=नुकीला पत्थर। सरी=(सरि) नदी। गाहनो=डूब कर बहाना।

भावार्थ—सुगम है। अलकार—रूपक।

(दोहा)

पचक यह है प्रेम को रचक चित जो देइ।
छल वचक बचै न तिहि दीनदयाल जु सेइ॥ ७५॥

(ग्रथान्ते मगलम्)

मूल—मेटनहारे विघन के विघन विनायक नाम।
रिधि सिधि विद्या उदर तें लबोदर अभिराम॥
लबोदर अभिराम सकल सुभ गुन उर धारे।
और गहन के हेत देत मनु दत पसारे॥
बरनै दीनदयाल भरयो अजहूँ लौं पेट न।
वक्र तुड करि काह चहत ब्रह्मांड समेटन॥ ७६॥

शब्दार्थ—तें=इस कारण से। और गहन के हेत=और अधिक लेने की इच्छा से। वक्र=टेढ़ी। तुड=सूड़। वक्र तुड-

करि=अपनी सूँड को टेढ़ी करके। काह=क्या। समेटन=एकत्र कर लेना।

भावार्थ—सरल ही है।

(दोहा)

मूल—यह अन्योक्ति सुकल्पद्रुम साखा वेद बखानि।
विरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि॥ ७७॥

शब्दार्थ—वेद=चौथी। द्विजवर=श्रेष्ठ पक्षी।

भावार्थ—अन्योक्ति कल्पद्रुम की यह चौथी शाखा दीनदयाल गिरि ने रच दी। यह शाखा कविरूपी श्रेष्ठ पक्षियों को सुख देने-वाली है।

मूल—कुडलिया, सुघनाक्षरी, सुखद सुदोहा वृत्त।
हरे सवैया मालिनी मिलि पचामृत चित्त॥ ७८॥

मूल—यह कल्पद्रुम ग्रथ मे मधुर छद सुचि पच।
पचामृत हिय पान करि जड़ता रहै न रंच॥ ७९॥

(नोट)—ये दोनों दोहे सरल ही हैं।

(ग्रथ-प्रणयन-काल)

मूल—कर छिति निधि ससि साल मे माघ मास सित पच्छ।
तिथि बसतयुत पचमी रविवासर सुभ स्वच्छ॥ ८०॥

शब्दार्थ—कर=दो (२)। छिति=भूमि अर्थात् (१) निधि=नव (९) ससि=चद्र अर्थात् (१)। (अकानां वामतो गति) सवत् १९१२ माघ सुदी बसत-पचमी, रविवार को ग्रथ सपूर्ण हुआ।

(दोहा)

सोभित तिहि औसर विषे बसि कासी सुखधाम।
निरच्यो दीनदयाल गिरि कल्पद्रुम अभिराम,

मूल—अभिमत फल दातार यह विविधि अर्थ को देत।
जो धुनि गुनि कवि मुदित मन पढ़िहैं प्रेम समेत ॥ ८२ ॥
उपालभ अरु नीति युत प्रीति रसहु सुविराग।
विविधि भांति सुमनस! लसे यामें सुमन सराग ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—उपालभ=ओरहना। प्रीतिरस=शृंगार रस। विराग=शांतरस। सुमनस=हे सुंदर मन वाले पाठकगण। सुमन=फूल। सराग=रंग सहित, रंगवाले।

मूल—सोभित अतिमति थल सु यह सुमन सहित सब काल।
अर्प्यो दीनदयालगिरि बनमालिहिं सु-रसाल ॥ ८४ ॥

शब्दार्थ—यह=यह कल्पद्रुम ग्रन्थ। बनमाली=श्रीकृष्णजी। रसाल=रसपूर्ण।

इति श्रीकाशीवासी दीनदयालगिरि
विरचिते अन्योक्ति-कल्पद्रुम-ग्रन्थे
चतुर्थी शाखा समाप्ता।

१- २

Printed by Ramzan Ali Shah at the National Press Allahabad.

परिशिष्ट

(क)—परिचय (कवि का)

बाबा दीनदयालगिरि का जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी संवत् १८५९ विक्रमीय में काशी के गायघाट महल्ले में रहनेवाले एक पाठक कुल मे हुआ था। जिस समय इनका जन्म हुआ उस समय इनके माता-पिता बड़ी विपन्नावस्था मे थे। जब ये ५, ६ वर्ष के हुए तब इनके माता-पिता इन्हें अपने परंपरागत गुरु घराने के महन्त कुशागिरि जी के हाथों मे सौंप कर चल बसे। महंत कुशागिरि पंचकोशी की यात्रा में पड़नेवाले 'देहली-विनायक' के अधिकारी थे। रामेश्वर मंदिर और आदिकेशव (राजघाट) मे भी इनका हिस्सा था, तथा काशी मे भी कई मठ थे। ये प्राय काशी में ही अपने गायघाटवाले मठ मे रहा करते थे। उन्होंने बच्चे को पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया। जब ये संस्कृत और हिंदी पढ़ चुके तब वैराग्य की ओर इनका झुकाव देखकर उन्होंने इन्हें २० वर्ष की अवस्था में अपना शिष्य बना लिया। दीनदयालु नाम भी बचपन में उन्होंने रक्खा था, अब इन्हें दीनदयालुगिरि भी उन्हीं ने बना दिया।

महंत कुशागिरि ने इनके पश्चात् दो और चेले किये। एक शिवअमरगिरि (एकाक्ष) और दूसरे रामदयालुगिरि। जब महंत कुशागिरि जी परमपद को प्राप्त हुए तब शिष्यों में झमेला खड़ा हो गया और मुकदमेबाजी शुरू हुई। महंत जी के पश्चात्

उनका कर्जा बहुत पटाना रह गया था, इस कारण जो जमीन जायदाद थी वह महाजनो ने नीलाम करा ली। यह जिमीदारी काशी के गोकुलदास विट्ठलदास गुजरातियों के घराने के अधिकार मे बताई जाती है। इतने पर भी जब झगडा शांत न हुआ, तब ये तीर्थाटन के लिये निकल पड़े और वहाँ से आकर देहली-विनायक के निकट मटौली गाँववाले मठ मे रहने लगे। इनकी यह अवस्था अमेठी के महाराज से न देखी गई, उन्होंने इन्हें अपने यहाँ चलने के लिये कहा पर इन्होने पराधीनता को दु खद कह कर उनके अनुरोध को टाल दिया।

दीनदयालगिरिजी काशी आने पर गायघाटवाले मठ में ही ठहरते थे। ये गेरुए रगकी कलनीदार पगड़ी बाँधते थे और घोडे पर चढ़कर निकलते थे। भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र के पिता बाबू गोपाल-चद्रजी से इनका बड़ा स्नेह था और ये प्राय उनका बैठक मे आया करते थे। श्लेष और यमक से भरी हुई लच्छेदार भाषा के ये इतने प्रेमी थे कि बोलचाल मे भी उससे नहीं चूकते थे। ये सस्कृत, हिंदी और फारसी-अरबी आदि भाषाएँ जानते थे। सस्कृत के तो अगाध पडित थे। इनके यहाँ सुकवि 'सरदार, गोस्वामी 'दपतिकिशोर' और 'राधारमण' ऐसे लोग पढ़ते थे। इनके अतिरिक्त और भी कितने ही शिष्य इनके यहाँ अध्ययन करते थे। ये शिष्यों को हिंदी भी पढ़ाते थे।

एक तो इनकी आर्थिक-दशा खराब थी ही, दूसरे ये दानी भी परलेसिरे के थे, इसी कारण ये सदा द्रव्य के कारण शारीरिक कष्ट सहते रहे। महाराज काशिराज इन्हें बहुत मानते थे। राजा-महाराजा तो इनके दर्शन को बराबर ही आया करते थे। एक बार रीवाँ नरेश कविवर महाराज रघुराजसिंह जू इनसे

मिलने आए और इनकी उदारता, अतिथि-सत्कार एव विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्होंने इनको प्रशसा में दो दोहे कहे —

> "हो दयाल तुम दीन पर, श्री गिरि दीनदयाल।
> वांछा जौ लो करत नर, तौ लों होत निहाल॥
> सुकवि जहाँ लगि जगत मे, भए होहिगे और।
> करि विचार मे दीख अब, तुम सब के सिरमौर॥"

राजा-महाराजा इनको गुप्तरूपेण आर्थिक-सहायता किया करते थे। इसलिए इन्हें अर्थ-सकोच से अधिक शारीरिक सकट भी नहीं सहना पड़ा।

काशी पर इनका अटल स्नेह था। ये काशी को छोड़ अन्यत्र नहीं जाना चाहते थे। जब इनकी तबियत खराब हुई और उसे इन्होने अपना अंतिम समय समझ लिया तब गायघाटवाले मठ से मणिकर्णिकाघाट के छप्पन विनायकवाले मंदिर में आकर रहने लगे। अत समय में निर्जला एकादशी सवत् १६१५ विक्रमीय के दिन गगातट पर इन्होने परमपद-लाभ किया।

(इनके ग्रथ)

इनके बनाए हुए पांच ग्रथ प्रकाशित हैं। (१) दृष्टांत-तरगिणी (२) अनुराग बाग, (३) वैराग्य दिनेश, (४) अन्योक्तिमाला और (५) अन्योक्ति-कल्पद्रुम। इनके अतिरिक्त एक बागबहार नामक इनका बहुत ही सुदर ग्रथ था जिसे एक शिष्य लेकर चलता बना। उसका आज तक कोई पता नहीं। (१) दृष्टांततरगिणी इन्होंने स० १८७९ विक्रमीय में समाप्त की। इसमें नीति कहकर उसके दृष्टांत दर्शाए गए हैं। पूरी पुस्तक दोहों में ही है। इसके कुछ दोहे सस्कृत पचतत्र के श्लोकों के अनुवाद हैं या उनके आधार पर बनाए गए हैं। (२) अनुरागबाग सवत् १८८८ में बना। इसमें

कृष्णवियोग व षट्ऋतु आदि शृंगारिक विषयो का वर्णन है और बहुत ही उत्तम है। इसमे कुछ कविताएँ नायिका-भेद सबधी भी हैं, पर वे प्रेम की सच्ची व्यजना के ही लिए जान पडती हैं। वे इनकी प्रवृत्ति की परिचायिका नहीं हैं। इस 'बाग' मे श्लेष की छटा अद्वितीय है। (३) वैराग्यदिनेश का प्रणयन स० १९०६ मे हुआ था। इसमे इनकी वैराग्यविषयक कविताएँ सगृहीत हैं। देवताओं की वदना और कुछ फुटकर समस्या-पूर्तियाँ आदि इसमे आई हैं। 'काशीपचरत्न', 'विश्वनाथ-नवरत्न' आदि कविताएँ—जिन्हें कुछ लोगो ने स्वतत्र पुस्तकें माना है—इसी के अतर्गत हैं। इसकी कविताएँ भी उत्तम है। (४) अन्योक्ति-माला मे अन्योक्तियाँ कही गई हैं। इसमे निर्माण-काल नहीं दिया गया है। ये सभी अन्योक्तियाँ अन्योक्ति-कल्पद्रुम मे आ गई हैं। हो सकता है कि इन्होने पहले अन्योक्ति माला बनाई हो और पीछे से कुछ और अन्योक्तियाँ बन जाने पर उसका नामकरण अन्योक्ति कल्पद्रुम कर दिया हो। इनके समय मे ही "अन्योक्ति-कल्पद्रुम" लीथो में छपगया था, इससे यही बात जँचती है। इनके किसी शिष्य या मित्र ने इनकी अन्योक्तियो का सग्रह करके उसको "अन्योक्ति कल्पद्रुम" का रूप दिया हो, यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। (५) अन्योक्ति कल्पद्रुम इनकी अंतिम रचना है और इसका निर्माण-काल इसमें स० १९१२ दिया हुआ है। स० १९१३ मे अनुरागबाग के साथ साथ अन्योक्ति कल्पद्रुम की अन्योक्तियाँ इन्हीं के जीवन काल मे इनके मित्र श्रीयुत देवीप्रसाद मिश्र गौड़ ने लीथो मे छपवाई थीं। इससे इनका विचार अन्यो-क्तियों को किस क्रम से रखने का था यह भी ज्ञात हो जाता है, और पता चलता है कि यह वृत्त पहले "अनुराग-बाग" में लगा था, पीछे वहाँ से उखाड़ कर और काट-छाँट करके अलग कर

लिया गया। चाहे जो कुछ हो, इन्हें अन्योक्तियों से अद्वितीय अनुराग था और इन्होंने उसका जो कल्पद्रुम बनाया वह भी खूब हरा-भरा है। अन्योक्ति के ये जबर्दस्त लेखक थे इसमें संदेह नहीं।

इनका स्वभाव सरल था। ये विनोद-प्रिय थे। प्रत्युत्पन्नमतित्व (हाजिरजवाबी) में बड़े निपुण थे। इनमें सदाचार आदर्श था और वैराग्य तो इनकी नस-नस में भरा था। इन्होंने वैराग्य-विषयक जितनी कविताएँ लिखी हैं वे इनके शुद्ध अंतःकरण का प्रतिबिंब हैं। इनकी कविता में माधुर्य और प्रसाद परिपूर्ण है। इन्होंने हास्य, करुण तथा शांतादि कोमल रसों में ही कविता की है और शृंगार रस पर इन्होंने बहुत थोड़ा प्रकाश डाला है। वह भी शुद्ध-प्रेम प्रकट करने के अभिप्राय से। इनकी कविता से इनका पूरा पांडित्य प्रकट होता है। ये हिंदी के उत्तम कवियों की श्रेणी में हैं। इनकी कविताओं के आधार पर इन्हें महाकवि मानना अनुचित न होगा।

कहा जाता है कि मटौली गाँव के मठ की एक दीवार पर इनका चित्र भी बना हुआ था पर अब वह दीवार गिर गई है, खँड़हर पड़ा हुआ है। इनके मित्रों में पं० देवीप्रसादजी मिश्र गौड़ (गो० दंपतिकिशोरजी के श्वसुर) और बूआजी घाटिआ बताए जाते हैं। जिस समय दीनदयालजी भारत गगन से अस्त हो गए उसी समय भारतेंदु का उदय हुआ था और इनके बाद ही हिंदी के क्षेत्र में युगांतर उपस्थित हो गया। कम से कम गद्य-वाटिका का तो रूप ही पलट गया। बाबा दीनदयाल-गिरिजी हिंदी साहित्य के एक दिव्य रत्न थे। ये हिंदी के घर को सूना करते हुए भी अपना अमर प्रकाश छोड़ गए। इति शम्। *

---

* यह जीवन-वृत्त चार लेखों के आधार पर लिखा गया है—(१) बाबू श्यामसुन्दरदास-संपादित दीनदयालगिरि ग्रंथावली की भूमिका, (२) श्री-

(ख)–पिंगल

रसात्मक वाक्य-रचना को "काव्य"[1] कहते हैं। प्रत्येक भाषा मे काव्य-रचना दो प्रकार के वाक्यो द्वारा हो सकती है—(१) गद्य (२) पद्य। इन्हीं द्विधा वाक्यो के कारण काव्य की दो श्रेणियाँ की गई हैं, (१) गद्य-काव्य, और (२) पद्य-काव्य। काव्य की एक तीसरी श्रेणी भी है जिसमे गद्य एव पद्य दोनो का मेल रहता है। उसे "चम्पू-काव्य"[2] या "मिश्र-काव्य" कहते हैं।

मात्रा एव वर्ण तथा गति प्रवाहादि से अनियमित, किन्तु व्याकरण से व्यवस्थित शब्द-योजना को "गद्य" कहते हैं। साधारण बोलचाल मे अधिकतर गद्य का ही उपयोग होता है। इसके विपरीत मात्रा एव वर्णों की सख्या अथवा उनके क्रम से नियमित तथा विराम, गति, प्रवाहादि से व्यवस्थित शब्द योजना को "पद्य" कहते हैं। इसमे व्याकरणानुसार शब्द-क्रम मे हेर फेर भी हो जाय तो दोष नहीं माना जाता। जैसे—

"हेरे अध उलूक तू, दुरौ दरी में नीच।
तेरे जान नहीं उदै, भये भानु नभ बीच॥"

यह पद्य-बद्ध रचना है। इसका गद्य रूप यो होगा—

विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मुकुन्द' लिखित 'बाबा दीनदयालगिरि का जीवन चरित, (सम्मेलनपत्रिका भाग १२, अक ६, पृ० २४३), (३) बाबू व्रजरत्नदास-लिखित 'दीनदयालगिरि' (सम्मे० पत्रिका भा० १२, अ० १०, पृ० ४४७) और (४) बाबू रामदास-गौड़-लिखित "गोस्वामी दीन दयालुगिरि"। एतदर्थ हम इन लेखकों के विशेष अनुगृहीत हैं।—सपादक।

१—वाक्य रसात्मक काव्यम्। (साहित्यदर्पण)

२—गद्यपद्यमय वाक्य चम्पूरित्यभिधीयते (साहित्यदर्पण)

" हेरे नीच अध उलूक ! तेरे जान (अभी) भानु नभ बीच उदै नहीं भये (अतएव) तू दरी मे दुरौ ।"

' छंद " शब्द " पद्य " का समानार्थ-वाची है। यह शब्द भी 'पद्य' की ही भाँति प्रचलित है। इसी कारण जिस शास्त्र में पद्य-रचना के नियमों तथा लक्षणों एव उदाहरणों के साथ पद्य के भेदोपभेदो का सविस्तर वर्णन हो उसे ' छंद शास्त्र " कहते हैं। छंद शास्त्र के आदि प्रवर्त्तक शेषावतार महर्षि पिंगल माने जाते हैं। अतएव छंद शास्त्र का नामांतर " पिंगल " भी है।

छंद शास्त्र काव्य का एक मुख्य अंग है। हमारे पूज्यपाद ऋषि महर्षियो ने इस शास्त्र को यहाँतक महत्ता दी है कि यह वेद* के "षडंगो" मे गिना जाता है। वास्तव मे पद्य रचना की विशेषताओं को दृष्टि मे रख कर देखा जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति या अनौचित्य नही है। पद्य मे पद-योजना लयपूर्ण होने के कारण श्रुतिप्रिय एव मनोहर होती है। इसमे संक्षेप में बहुत सी बातो का समावेश किया जा सकता है। उक्त दोनों कारणो से पद्य की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि पद्य-बद्ध रचना के पढ़ने मे मन अधिक लगता है और किसी भी विषय को कंठस्थ करने में सुविधा रहती है। इसी कारण हम संस्कृत में पद्य की इतनी प्रचुरता देखते हैं कि श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण सभी छंदोबद्ध हैं। यदि हिंदी का साहित्य पद्यबद्ध न होता तो आज दिन गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूरदास, कबीर साहब आदि अनेक महाकवियों का नाम ही कोई न जानता। छंदो के संपुट में बंद रहने के ही कारण इनकी कविता जनता के जिह्वाग्र में

---

* वेद के षडंग—

शिक्षा, कल्पो, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिषम् ॥

सुरक्षित रह सकी। हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ नष्ट हो गईं, समय के प्रवाह में वह गईं, छीन ली गईं, पर कर्ण-परंपरागत काव्यरचना अभी तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसी लिए हमारे यहाँ प्राचीन-साहित्य मे गद्य-रचना का एक प्रकार से अभाव ही है। जो कुछ है भी वह नगण्य। अतएव "छंद-शास्त्र" काव्य का एक प्रधान अंग है इसमे संदेह नहीं।

मात्रा भेद से "वर्ण" या अक्षर दो प्रकार के होते हैं, 'ह्रस्व' एव 'दीर्घ'। वर्ण के उच्चारण मे जो समय लगता है उसे "मात्रा" कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ, तथा इनसे युक्त व्यजनों के उच्चारण में जो समय लगता है उसकी एक मात्रा मानी जाती है, और आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, तथा इनसे युक्त व्यजनों के उच्चारण में जो समय लगता है उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं, क्योंकि इनके उच्चारण में एक मात्रिक अक्षरों की अपेक्षा दुगुना समय लगता है। एक-मात्रिक अक्षरों को "ह्रस्ववर्ण" और द्विमात्रिक को "दीर्घवर्ण" कहते हैं। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' को पिंगल-शास्त्र में "लघु" और 'गुरु" कहते हैं। 'लघु' वर्ण का चिह्न एक खड़ी पाई (।) और 'गुरु' वर्ण का चिह्न वक्ररेखा (ऽ) है। संक्षेप में लघु के लिये 'ल' और गुरु के लिये 'ग' भी लिखा जाता है। लघु गुरु के विषय मे निम्नलिखित नियमो को ध्यान में रखना चाहिए।

१—लघु-वर्ण एकमात्रिक और दीर्घ-वर्ण द्विमात्रिक होते हैं। जैसे 'रमापति' शब्द मे 'र', 'प', और 'ति' ह्रस्व या लघु होने के कारण एकमात्रिक हैं और 'मा' दीर्घ या गुरु होने के कारण द्विमात्रिक है। इस प्रकार उक्त चार वर्णों के शब्द मे पाँच मात्राएँ हैं।

२—सानुस्वार और सविसर्ग वर्ण भी दीर्घ या गुरु माने जाते हैं, जैसे,—कंज, पंक, और दुःख में 'कं', 'पं' और 'दुः' गुरु वर्ण हैं। सानुस्वार या सविसर्ग वर्ण यदि स्वयं दीर्घ हो तो मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती; जैसे—गांगेय, हाहा में 'गां' और 'हा' स्वयं गुरु वर्ण हैं। परन्तु जिस वर्ण के ऊपर अर्द्ध-अनुस्वार या चंद्रबिंदु (ँ) हो उसमें एक ही मात्रा मानी जाती है, अतएव वह लघु गिना जाता है, जैसे-—हँसना, फँसना के 'हँ' तथा 'फँ' लघु वर्ण हैं।

३—संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण प्रायः दीर्घ माना जाता है। जैसे—युक्त, अक्षर और वर्ण में 'क्त', 'क्ष' और 'र्ण' संयुक्त हैं। इस कारण इनके पूर्व वर्ण 'यु', 'अ' और 'व' में जोर पड़ने से वे द्विमात्रिक या 'गुरु' माने जाते हैं। यदि किसी सामासिक पद के उत्तर शब्द का आद्यक्षर संयुक्त हो तो उसके पूर्व के शब्द का अंतिम अक्षर विकल्प से (कवि या पाठक के सुविधानुसार) लघु या गुरु पढ़ा जा सकता है। जैसे—'शब्द-क्रम' में 'ब्द' लघु भी पढ़ा जा सकता है और गुरु भी।

४—कहीं कहीं संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण दीर्घ नहीं भी माना जाता, जैसे—तुम्हारा, कुल्हाड़ा आदि के 'तु' और 'कु'।

५—हलंत के पूर्व का वर्ण दीर्घ माना जाता है और हलंत वर्ण की मात्रा नहीं गिनी जाती। जैसे—राजन्, श्रीमन् में 'ज' औ 'म' गुरु (द्विमात्रिक) हैं और 'न्' की मात्राएँ नहीं गिनी गई।

६—कहीं कहीं लय के अनुसार दीर्घ वर्ण को भी ह्रस्व पढ़ना पड़ता है। ऐसे स्थान पर वह वर्ण एकमात्रिक या लघु ही माना जाता है जैसे—

'हित दीनदयाल महामृदु है, कठिनो अति अंत निबाहनो है"।

इसमे 'निवाहनो' का 'नो' दीर्घ होते हुए भी लघु पढ़ा जायगा। सारांश यह कि लघु गुरु के उक्त नियम होते हुए भी छंद-शास्त्र में 'लय' की ही प्रधानता है।

७—संस्कृत-पद्यो मे तथा हिंदी के वर्णिक वृत्तों में चरणांत का अंतिम लघु वर्ण भी विकल्प से गुरु माना जाता है। जैसे—

यक कर श्रुति सोहै एक में एक लड्डू ।*
यक कर श्रृणि राजै एक मे है कुठार ॥
सुमति अशन-दाता वश्य कारी 'अह्' को।
विपति-तरु कटैया, हाथ चारो नमामि ॥

यहाँ 'कुठार' और 'नमामि' शब्दों के 'र' और 'मि' पादांत में होने से लघु होते हुए भी छंदानुरोध से दीर्घ माने जायँगे।

छंद दो प्रकार के होते हैं, मात्रिक और वर्णिक। वर्णिक छंदो को हम पुन दो विभागो मे विभक्त कर सकते हैं, गण-छंद और अक्षर-छंद। छंदो के भेदो का विवेचन करने के पूर्व गणों के विषय मे जानकारी प्राप्त कर लेना उचित है। तीन वर्णों का एक गण होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'वर्ण' लघु-गुरु के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अतएव प्रस्तार द्वारा लघु-गुरु के भेद से तीन तीन वर्णों के आठ गण होते हैं। उनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

संख्या	गण	रूप	संकेत	उदाहरण
१	मगण	SSS	म	गोस्वामी

* लघु गुरु के विषय में निम्न आर्या स्मरण रखिये—

संयुक्ताद्यं दीर्घं, सानुस्वारं विसर्गसंमिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरुं, पादान्तस्थं विकल्पेन ॥

—कालिदास (श्रुतबोध).

२	नगण	।।।	न	भरत
३	भगण	ऽ।।	भ	गोकुल
४	यगण	।ऽऽ	य	यशोदा
५	जगण	।ऽ।	ज	दयालु
६	रगण	ऽ।ऽ	र	राधिका
७	सगण	।।ऽ	स	तुलसी
८	तगण	ऽऽ।	त	गोपाल

समस्त पिंगल-शास्त्र में १० अक्षर संक्षेप में गणादि व लघु गुरु के सूचक हैं,— म, न, भ, य, ज, र, स, त, ल, ग। आज कल एक सूत्र चल पड़ा है, जिससे इनके कंठस्थ करने एवं इनके रूपों के समझने में अत्यंत सुविधा होती है। वह सूत्र यह है—

"यमाता राजभानसलगा।"

इस सूत्र के पूर्व आठ अक्षर आठों गणों के सांकेतिक वर्ण हैं, शेष 'ल' से 'लघु' और 'गा' से 'गुरु' का बोध होता है। इसी सूत्र में सब के रूप भी प्रत्यक्ष हैं। यगण का रूप जानना हो तो य तथा उसके आगे के दो वर्ण मिला कर एक गण बन जायगा 'यमाता (।ऽऽ)' यही यगण का रूप है। इसी प्रकार 'सगण' का रूप होगा 'सलगा (।।ऽ)'। इसी प्रकार और भी समझ लीजिए।

१—संस्कृत भाषा में गणों का रूप कंठस्थ करने के लिए अनेक सूत्र एवं श्लोक हैं। पर उनमें से यह श्लोक अत्यन्त सुगम प्रतीत होता है।

आदिमध्यावसानेषु 'यरता' यान्ति लाघवम्।
'भजसा' गौरवं यान्ति 'मनौ' तु गुरुलाघवम्॥

अर्थात् 'य' के आदि 'र' के मध्य, 'त' के अन्त में लघु शेष गुरु। 'भ' के आदि, 'ज' के मध्य, 'स' के अन्त में गुरु, शेष लघु, तथा 'म' समस्त गुरु, 'न' समस्त लघु होता है।

गणों के देवता, और उनके फल आदि के विषय में पिंगल-शास्त्र मे बहुत कुछ कहा गया है। विस्तारभय से यहाँ उसका उल्लेख करना अनपेक्षित है। संक्षेप में इतना ही कहदेना पर्याप्त है कि म, न, भ, य, चार गण शुभ और शेष चार ज, र, स, त, अशुभ हैं। देव-विषयक काव्य में तो शुभाशुभ का विचार ही नहीं रह जाता ; किन्तु नर-विषयक काव्य के प्रारंभ मे अशुभ गण वर्जित हैं। यह नियम छंद के प्रथम चरण के आदि के तीन अक्षरो के लिए ही है, अन्यत्र नहीं।

गणवृत्तो मे गणदोष नहीं माना जाता, क्योकि वहाँ जिस गण का विधान किया जाता है वह गण शुभ हो चाहे अशुभ लाना ही पडता है। जैसे दुर्मिल सवैया आठ सगणो का होता है। यहाँ आरभ मे अशुभ 'सगण' लाना अनिवार्य है। ऐसे अवसर में ध्यान यही रखना चाहिए कि प्रारभ में यदि ज, र, स, त, लाने पड़ें तो वे यथासभव मगलवाची हों। मात्रिक छंदो मे तो प्रारभ मे इनका प्रयोग बचाना ही चाहिये।

\+ \+ \+

वर्णों मे भी शुभाशुभ का ध्यान रखना पड़ता है। स्वर सभी शुभ हैं। व्यजनों मे "क, ख, ग घ, च, छ, ज, त, द, ध, न, य, श, स," ये शुभ हैं और सब अशुभ। अशुभ वर्णों में भी झ, ह, र, भ, ष, ये पाँच तो नितांत दूषित हैं। इनको दग्धाक्षर कहते हैं। पद्य के आरभ मे इनका होना एकदम वर्जित है। किंतु यदि 'गुरु' होकर आवे अथवा ये अक्षर देवता या मगलवाची शब्द के प्रारभ में हो तो उक्त दोष का परिहार हो जाता है।

\+ \+ \+

प्रत्येक छंद की एक लय होती है। उसे गति या प्रवाह भी कहते हैं। छन्द-रचना में 'गति' या 'लय' का ध्यान रखना ही

आवश्यक है, पर इसके लिए कोई विशेष नियम नहीं है। लय का ज्ञान अभ्यास पर ही निर्भर है। लक्षण के अनुसार शुद्ध रहते हुए भी गति का ध्यान न रखने से छंद दोषयुक्त हो जाता है। जहाँ गति ठीक न हो उसे "गति-भग दोष" कहते हैं। जैसे—"सहित सनेह भाजन की, तुम करत चाह नाहि।" यह दोहे के लक्षणों से युक्त होते हुए भी लय-हीन है। पढ़ने में रुकावट आ जाती है, पाठ प्रवाह ठीक नहीं, अत दूषित है। इसकी गति यों ठीक होगी—"भाजन सहित सनेह की, करत चाह तुम नाहि"।

इसके सिवाय बहुत से छंदों में 'विराम" का भी नियम होता है। जहाँ हमें लय के अनुसार 'विश्राम' के लिए नियमित स्थान पर रुककर आगे पढ़ना पडता है उसे 'विराम', 'विश्राम', वा 'यति' कहते हैं। जहाँ पिंगल-शास्त्र-विधान से विहित स्थान पर यति का अभाव हो वहाँ "यतिभग दोष" माना जाता है।

+ + +

छंद दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक छंदों का हिंदी भाषा में कोई प्रयोजन नहीं, अतएव उनका वर्णन इस स्थान पर अनुपयुक्त होगा। लौकिक छंद के पुन दो भेद हैं—मात्रिक अथवा जाति और वर्णिक। साधारणत प्रत्येक छंद में चार चरण होते हैं। * चरण को पद अथवा पाद भी कहते हैं। जिन छंदों के चरणों में मात्राओं की सख्या का नियम हो उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं, तथा जिनमें वर्णों की सख्या तथा लघु गुरु

* कुछ छंद ऐसे भी होते हैं जिनमें चरण तो चार ही होते हैं; पर वे दो ही पंक्तियों में लिखे जाते हैं। यथा—दोहा, सोरठा, बरवै, उल्लाला अनुष्टुप् आदि। ऐसे छन्दों में प्रत्येक पंक्ति को 'दल' कहते हैं।

के क्रम का नियम हो उन्हें वर्णिक छद या वृत्त कहते हैं। इनमें कुछ को छोड़ अधिकतर गणो का उपयोग किया जाता है। मात्रिक और वर्णिक दोनो प्रकार के छद पुन तीन तीन प्रकार के होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम।

१—"मात्रिक सम" वे छन्द हैं जिनके चारो चरणो मे मात्राओं का क्रम समान हो। जैसे,—चौपाई, हरिगीतिका, रोला आदि।

२—'मात्रिक अर्द्धसम" वे छन्द हैं जिनके पहले और तीसरे चरणो में तथा दूसरे और चौथे चरणो में बराबर मात्राएँ हों जैसे—दोहा, सोरठा, उल्जाला आदि।

३—"मात्रिक विषम" वे छन्द हैं जिनके चारो पदो में मात्राओं का क्रम विभिन्न हो, जैसे—आर्या।

ऐसे भी मात्रिक छद हिंदी में बहुत प्रचलित हैं जिन मे चार से अधिक चरण होते हैं। उन्हें भी हम मात्रिक विषम छन्दो में ही गिनते हैं। अतएव मात्रिक विषम छन्द का व्यापक लक्षण यह होगा—

जो छद मात्रिक-सम या मात्रिक-अर्द्धसम न हो वे मात्रिक-विषम हैं। जैसे—कुडलिया और छप्पय। ये दोनों छ छ चरणो के छद हैं और दो दो छदो के मिश्रण से बने हैं।

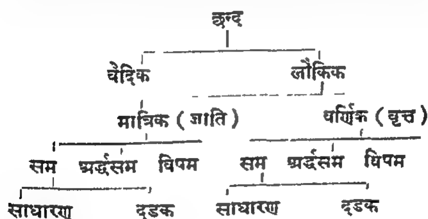
मात्रिक-सम छद दो प्रकार के होते हैं—साधारण और दडक। जिन छदों के प्रत्येक चरण में ३२ या इससे कम मात्राएँ हों उन्हें "साधारण" कहते हैं और इससे अधिक मात्रावाले छन्दो को "दडक" कहते हैं।

१—"वर्णिक सम" छद वे छद हैं जिनके चारों चरणों मे 'वर्णों' या 'गणों' का क्रम समान हो, जैसे—वसततिलका, इन्द्रवज्रा, मालिनी, त्रोटक, दुर्मिल (सवैया) आदि।

२—" वर्णिक अर्द्धसम " छंद वे छंद हैं जिनके पहले, तीसरे तथा दूसरे, चौथे चरणों मे वर्णक्रम तथा संख्या समान हो। जैसे—अनुष्टुप्छंद।

३—" वर्णिक विषम " वे छंद हैं जिनके चारों चरणों मे वर्ण-क्रम भिन्न हो।*

वर्णिक-सम के भी दो भेद होते हैं—साधारण और दंडक। २६ वर्णों तक के वृत्त " साधारण-वृत्त " कहलाते हैं और इससे अधिक वर्णोंवाले ' दंडक वृत्त" कहलाते हैं। * वर्णिक-दंडकों में—रूप घनाक्षरी, देव घनाक्षरी और मनहरण कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं।



मात्रिक छंद और वर्णिक छन्द की पहिचान के लिए इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

---

* सूचना—वर्णिक-अर्द्धसम और वर्णिक विषम का प्रचार हिन्दी में बहुत ही कम—प्राय नहीं के बराबर है।

* बाईस वर्णों से लेकर छब्बीस वर्णों तक के पद 'सवैया' नाम से पुकारे जाते हैं।

(१) जिस छद के चारो चरणो मे या तो वर्ण बराबर हों या केवल वर्णक्रम एक सा हो अर्थात् लघु गुरु समान क्रम से मिलें वह वर्णिक छद होगा । वर्णिकसम वृत्तों मे अक्षर तो समान होते ही हैं, साथ ही लघु गुरु का क्रम एकसा रहने से मात्राएँ भी बराबर ही होती हैं।

(२) जिस छद के पदो में गुरु-लघु का कोई क्रम न हो, पर मात्राओं मे समानता हो, वह मात्रिक छद होगा ।

इति ॥

(ग)—प्रासगिक-कथाएँ

१—शुकदेव

शाखा प्रथम, पद्य ४.—श्रवन सुखद सुक-वैन ।

महामुनि शुकदेव जी महाभारत के रचयिता महर्षि द्वैपायन व्यास के सुपुत्र थे । ये आजीवन-ब्रह्मचर्य, ब्रह्मनिष्ठा एव ब्रह्मज्ञान के लिये प्रख्यात हैं। ये विष्णु-भगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के बालस्वरूप के उपासक थे । द्वादश-महाभागवतो मे इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है । पौराणिको मे भी इनकी गिनती सर्व-प्रथम है । अठारहों पुराणों में सर्वश्रेष्ठ श्रीमद्भागवत पुराण के रचयिता महर्षि शुकदेव जी ही हैं। जब अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित को शृगीऋषि ने यह शाप दिया था कि " आज से सातवें दिन तुझे तक्षक नाग डस लेगा ", तब व्यासादि अनेक ऋषि महर्षि परीक्षित को ज्ञान देने आए। इतने में शुकदेव जी को आते देख कर सबने—यहाँ तक कि इनके पिता व्यास जी ने भी—इनको ज्ञान-वृद्ध समझ अभ्युत्थान द्वारा इनका आदर किया था । शुक-

देवजी ने सात दिन तक नियम से राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत सुनाया था जिसके प्रभाव से उनको परमगति प्राप्त हुई। श्रीमद्भागवत वैष्णव सम्प्रदाय का परम पवित्र एवं पूज्य ग्रंथ माना जाता है।

२—दशरथ

शाखा प्रथम, पद्य १८ —ह्वैहैं प्रान-विहीन देखि दशरथ को बानो।

महाराज दशरथ को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामचन्द्र जी को चौदह वर्ष के लिये वनवास देना ही पड़ा। किन्तु वे रामचन्द्र जी को इतना प्यार करते थे कि उनका वियोग न सह सके। इधर राम वन मे पहुँचे ही थे कि उधर राजा दशरथ ने प्राण छोड़ दिये।

३—बलि-वामन

शाखा प्रथम, पद्य ६० — श्रीहित स्याम बने छली ।

दैत्यो के राजा 'बलि' विरोचन के पुत्र और परम भागवत प्रह्लाद के पौत्र थे। ये परम वैष्णव और बड़े भारी दानी थे। कोई भी याचक इनके द्वार पर से विमुख नहीं लौट सकता था। इनकी दानशीलता को देखकर देवराज इन्द्र को भय हुआ कि ये कहीं उसकी इन्द्रपदवी पर भी हाथ न मारें। अत वह घबड़ा कर भगवान् के पास गया और सब हाल कहा। भगवान् इन्द्र की स्वार्थान्धता पर मन ही मन मुसकुराए और उसको आश्वासन देकर विदा किया। इधर स्वयं इन्द्र की माता अदिति के गर्भ से जन्म धारण किया। इन्द्र से पीछे पैदा होने के कारण उनके नाम 'उपेन्द्र' 'इन्द्रावरज' आदि पड़े। उनका कद बहुत ठिगना था, जिससे उनका नाम "वामन" पड़ा। वामन जी बलि के पास गये और

तीन डग भूमि माँगी, उनके देदीप्यमान मुखमंडल को देखकर दैत्य गुरु श्रीशुक्राचार्य समझ गए कि ये भगवान् हैं। अतएव उन्होंने बलि को दान देने से रोका। पर भला बलि अपनी दान शीलता से क्यो विमुख होते? एक सुपात्र ब्रह्मचारी को अपने दान से क्यो वंचित करते? 'संकल्प' पढ़ के तीन डग भूमि दे दी, अब वामन जी ने अपना विराट् स्वरूप धारण किया और एक डग से आकाश, दूसरे से पाताल नाप कर तीसरे डग के लिए स्थान पूछा, तब बलि भगवान् को पहचान कर मुसकुराए और तीसरा डग अपनी पीठ पर रखने को कहा। भगवान् ने तीसरा पैर उसकी पीठ पर रखकर उसे पाताल को भेज दिया, और उसको पाताल का राज्य देकर वरदान माँगने को कहा। राजा बलि ने कहा कि यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो आप सदा मेरे रक्षक रहिये। भगवान् ने 'एवमस्तु' कहकर उसका द्वारपाल बनना स्वीकार किया।

४—लैला-मजनूँ

शाखा तृतीय पद्य २३'—यथा मजनूँ मन लैली।

मजनूँ और लैली अरब देशनिवासी प्रेमी और प्रेमिका थे। इनके अचल प्रेम का इतिहास वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे पतंग और दीपक का। फारसी, तथा उर्दू साहित्यो मे इनके प्रेम का वर्णन अधिकता से आया है। दीनदयाल जी ने इनका जिक्र छेड़ कर यह बात दर्शाई है कि वे फारसी साहित्य से भी परिचित हैं।

५—कामदेव और शिव

शाखा चतुर्थ, पद्य ४० और ४१।

दक्षयज्ञ में शिवजी का अपमान देखकर उनकी पत्नी सतीजी ने अपने प्राण छोड़ दिये, शिवजी ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया और स्वयं अचल समाधि मग्न हो गये। सतीजी ने पर्वतराज हिमालय के यहाँ जन्म लिया और 'पार्वती' कहलाई। नारद के

उपदेश से उन्होंने शिव को अपना पति बनाने के लिए कठोर तप किया, पर शिवजी की समाधि कौन भग करता ? इधर तारकासुर ने उपद्रव मचाकर देवताओ को हैरान कर रखा था। ब्रह्मा ने कहा कि शिवजी की सतान के अतिरिक्त और कोई उसका सहार नहीं कर सकता। निदान देवताओं की समति से कामदेव शिवजी की समाधि भग करने के लिए नियुक्त किया गया। कामदेव डरते डरते अपनी सेना सहित वहाँ गया और अपने प्रभाव से उसने शिवजी की समाधि भग कर ही दी। अपने मन को चलायमान होते देख कर शिवजी कारण खोजने लगे। उनका अग्निमय, तीसरा नेत्र खुल गया। ज्योंही उनकी वह क्रोधपूर्ण दृष्टि कामदेव पर पड़ी त्योंही वह भस्म हो गया। तब देवताओं की विनती और पार्वती की तपस्या के वश होकर शिवजी ने पार्वती से विवाह किया। उनके गर्भ से कार्तिकेय का जन्म हुआ, जिन्होंने देवताओं का सेनापति बनकर तारकासुर का नाश किया। शिवजी की कृपा से कामदेव भी जी उठा और अतनु (देहहीन) होकर ही अपने प्रभाव से लोगो को प्रभावित करने लगा।

६—कुभज ऋषि और समुद्र

शाखा चतुर्थ, पद्य ४४ —अँचयो कुभज नीरनिधि ।

पद्य ६० —रतनाकर अरु चद के हुते सकल हितकार ।
कुभजात अरु राहु अमत कोउ काम न आए।

अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति एक यज्ञघट से कही जाती है, इसी हेतु वे कुभज कहलाते हैं।

एक बार समुद्र एक टिट्टिभ के अडे बहा ले गया। टिट्टिभ ने क्रोध मे आकर समुद्र को सुखा देने का इरादा किया। वह और उसकी स्त्री चोंचों से पानी बाहर निकालते और चोचों मे ही

उसमे बालू भर देते। उनके दृढ़ उद्योग को देख कर और पक्षी भी उनकी सहायता करने लगे। इतने में कुभज ऋषि (अगस्त्य) उधर से आ निकले। उनको पक्षियो पर दया आ गई और उन्होंने एक ही आचमन से सारा समुद्र सुखा दिया। जब समुद्र ने बहुत विनती की और टिट्टिभ के अंडे दे दिये तब अगस्त्य जी ने अपने प्रभाव से पुन समुद्र को जल से भर दिया।

७—वासुदेव

शाखा चतुर्थ, पद्य ४१.—किय मन पितु वसुदेव को बधन तें उद्धार।

जब कस का अत्याचार इतना बढ़ गया कि उसने अपने पिता उग्रसेन तथा वसुदेव-देवकी को कारागार मे डाल दिया और सर्वत्र अधर्म और अन्याय के कारण अँधेर मच गया, तब भगवान् ने कारागार में ही देवकी की कोख से जन्म लिया। वहाँ से वे तुरन्त वृदावन में नद-यशोदा के यहाँ पहुँचाए गए। बचपन से ही उन्होंने राक्षसों का सहार करना आरभ कर दिया। आठ ही वर्ष की अवस्था मे उन्होने अपने मामा कस को मारकर उसके अत्याचार से लोगों की रक्षा की। उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठा दिया, और अपने माता पिता देवकी और वसुदेव की बेड़ियाँ काट कर उनको कारागार से मुक्त कर दिया।

८—चन्द्रमा और राहु

शाखा चतुर्थ, पद्य ६० —(देखिए—"कुभज के प्रसग में")

समुद्र मथन के समय चौदह रत्नों में से अमृत भी निकला। जब सब देवता मिलकर उस अमृत को बाँटने लगे तब राहु भी भेष बदल कर उनमे जा मिला। चद्रमा और सूर्य यह भेद जान गए। भगवान् ने चक्र से उसका सिर काट डाला, पर उस समय

तक वह अमृत पी चुका था जिससे वह मर नहीं सका। अपना बदला चुकाने के लिये राहु कभी कभी चद्रमा और सूर्य को ग्रस लिया करता है। उसी को लोग चद्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण कहते हैं।

(घ)—पाठान्तर

आजकल बहुत से सपादक तथा टीकाकार पाठान्तरों की भरमार करके अपने परिश्रम का परिचय देते हैं, चाहे वे पाठान्तर रद्दी ही क्यों न हों। हम पाठान्तर देने के विरोधी हैं। विविध प्रतियों को देख कर जो पाठ हमें उचित और साहित्य रीति से सुदर जँचता है, वही हम रखते हैं, शेषों को हम अपनी कृति में यथासभव बहुत कम स्थान देते हैं। इस पुस्तक की टीका लिखते समय भी हमें विविध प्रतियों में इतने पाठान्तर मिले कि यदि हम चाहते तो पाठान्तर देकर पाठकों को भूलभुलैया में डाल देते पर हमें यह अभीष्ट न था। अधिकतर हमने वही पाठ रखा है जो हमें उचित जँचा है। शाखा ३ के छद न० ३५ का भी हमने वही पाठ रखा है जो प० वटुकनाथजीवाली हस्तलिखित प्रति में हमें मिला है। सन् १८९१ ई० की, भारतजीवन-प्रेस-द्वारा प्रकाशित प्रति में, इस छद की तीसरी और चौथी पक्ति में हमें कुछ अच्छा पाठान्तर मिला, पर प्राचीनता के विचार से हमने वही पाठ रखा है जो इस पुस्तक में है। भारतजीवन-वाली प्रति में वे पक्तियाँ यों हैं :—

"नहीं चाहिये मान देख यह समै मजे है।
द्विजगन के कलगान सुनो पियपीय भजे है॥"

हमें यह पाठ अच्छा जँचता है, और अपने स्वभावानुसार हम यही पाठ रखते, परतु प० वटुकनाथजी कहते हैं कि उनकी

प्रति स्वय दीनदयाल जी की लिखी हुई है, अतः हमने पाठ नहीं बदला। अब पाठकों को अधिकार है कि वे जिस पाठ को उत्तम समझें उसे स्वीकार करें।

(ङ)—प्रश्न-पत्र

(प्रथम शाखा)

१—नीचे लिखे नबरवाले छदो के अर्थ सरल भाषा में लिखिए :—

छद न०—१, ६, १५, २४, ४२, ५०, ५६, ६७।

२—नीचे लिखे नबरवाली उक्तियाँ किस पर घटित होती हैं।
नं० ६४, ५७, ५२, ४१, ३६, २६, २०, १४, ८, ५।

३—नीचे लिखे शब्दो के दोनों अर्थ लिखिए।
द्विज, नीलकंठ, मित्र, कुवलय, अवर, द्विजराज, पलाश, हंस, मदार, पतग।

४—नीचे लिखे नबरवाले छदो में अन्योक्ति के सिवाय जो जो अलकार हों उनके नाम बतलाइये और उनकी परिभाषा लिखिए —

छंद न० १, ३, ६, ४२, ५२, ५३, ६३।

५—नीचे लिखे शब्दों की व्युत्पत्ति लिखकर उनके अर्थ बताओ।
दूलह, प्रभजन, खद्योत, द्विज, प्रकाश, जम-आसा, कुसुमाकर, सरोवर, षट्पद।

६—बादल, कमल, नदी, गंगा और नेत्र के लिये पांच पांच पर्यायवाची शब्द लिखिए।

७—हरि, मधु और रस के जितने अर्थ तुम जानते हो वे सब लिखो।

८—क्लीक में 'क' और अपत में 'अ' का क्या अर्थ है लिखिये, और इसी प्रकार के अर्थों के तीन तीन उदाहरण और दीजिये।

९—बहादुर, तूल, अबोह, मिरियास, कागद, तीर, गुनाह और नाहक शब्द किस भाषा से लिए गए हैं ? इन शब्दों के हिंदी पर्याय लिखिये।

१०—निरजरसर, धुनी, मरद, सारस, बलाहक, डामरा, और भीखम शब्दों के पर्यायवाची शब्द लिखिये और दो उदाहरण ऐसे दीजिये जहाँ कवि ने संज्ञा शब्द से क्रिया बनाई है।

(दूसरी शाखा)

१—नीचे लिखे नबरवाले छंदो की व्याख्या कीजिये :—
१०, १७, २५ ३५, ४०, ५३, ६६, ७६।

२—नीचे लिखे शब्दों के अर्थ व्युत्पत्ति सहित लिखिए —
चितामणि, कुजिह्व, माहैं, रीस, अचभा, नाहर, गधसार, पाहीं, केहरी, मृगपति, रगभौन, दिग्गज, मधुकर, कलकठ।

३—नीचे लिखे नबरवाले छंदो में अन्योक्ति के अलावा और कौन से प्रसिद्ध अलकार पाए जाते हैं। सकारण उत्तर लिखिए —
६२, ६६, १५, १७।

४—नीचे लिखे शब्दों को शुद्ध रूप बतला कर अर्थ लिखिए —
सैलूख, सासना, कुसेसैनेनि, पेगुन, और निरफल।

५—भूप, तुरग, कुरग, सुमना, प्रसून, विहग, और मधुप शब्दों की विशद व्याख्या कीजिये।

६—'सारंग' शब्द इस शाखा में किस किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? उनके अलावा इस शब्द के जितने अर्थ आप जानते हो, उन्हें लिखिए।

७—सिरताज, दुजिह्व, सुरराज, दीनदयाल, कुसुमाकर, धाराधर, प्रानप्रिय, मरुथल और जलजात शब्दों में समास बतलाकर अर्थ कीजिए।

८—नीचे लिखे मुहावरों के अर्थ बतलाकर उनके शुद्ध प्रयोग दिखलाइए :—
रीस करना, फूल जाना, बहा देना, नाम बजना, काम सरना, भाँवरी भरना, चार दिना की चाँदनी, बाज रहना, और भाग्य खुल जाना।

९—दूसरी शाखा की अन्योक्तियों मे से तुम्हें जो अन्योक्ति सर्वाधिक उत्तम जँची हो, उसे लिखकर उसकी व्याख्या कीजिए।

१०—चातक और चकोर के विषय में कवि-प्रौढ़ोक्ति क्या है? इनके संबंध की एक एक उक्ति (यदि कंठाग्र हो) लिखकर तात्पर्य समझाइये।

(तीसरी शाखा)

१—नीचे लिखे नंबरवाले छंदों की व्याख्या कीजिए :—
१, ६, २३, २४ और ३५।

२—नीचे लिखे शब्दों की व्युत्पत्ति देकर उनके अर्थ करो :—
मृदंग, पांडेय, गँवार, दरज़ी, कठपुतरी ठकुरानी, चितेरा, पाहरू, इतिहास, बजंत्री, कल्पद्रुम, छत्री और रजक।

३—नीचे लिखे शब्दों के अर्थ लिखिए —

चोमुखबजार, पिछान, दारूनटी, ख्वारी, बिजोना, पोत, नकीब, बाजी, ओवरी, ठठेर-मजारिका,और खलक।

४—छंद नं० २३ का तात्पर्य बतलाइये और उसमें के 'यथा मजनूँ मन लैली' संबंधी कथा-प्रसंग लिखिए।

५—'छत्रीकुल-तिलक' मे 'तिलक' का क्या अर्थ है ? यही अर्थ देनेवाले और कौन कौन शब्द हैं। उदाहरण सहित लिखिए।

६—इस शाखा मे जो फारसी के शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है, उसे देखते हुए क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि फारसीदाँ था ? सकारण उत्तर लिखिए।

७—इस शाखा में वैश्य और माली पर कवि ने तीन तीन उक्तियाँ लिखी हैं। उनमें से प्रत्येक के विषय में तुम्हें कौनसी सर्वोत्तम जँचती है। सकारण उत्तर लिखिए।

८—ठकुरानी, पनिहारी, ग्वारी, नटी, अधिकाई, उडायक, सौदागर और जौहरी शब्द किस प्रकार बनाए गए हैं, व्याकरण से सिद्ध करके उत्तर लिखो।

९—नीचे लिखे नंबरवाले छंदों की अन्योक्तियाँ किस पर घटित होती हैं ? तात्पर्य लिखकर समझाइए —
१५, २०, २५, २६, और ३३।

१०—सर, अग, गुन, घट, पट, नट, तम और बारी शब्दों के जितने अर्थ आप जानते हों वे सब लिखिए।

(चौथी शाखा)

१—नीचे लिखे नंबरवाले छंदों की व्याख्या सरल भाषा में कीजिए —

२, ६, १५, २०, २२, ४८, ६५, और ७४।

२—नीचे लिखे मुहावरो के अर्थ लिखकर उनका शुद्ध प्रयोग दिखलाइए :—

नदी नाव सजोग, चहुँपास, ठगौरी डारना, और शोर लाना।

३—छद न० १६ किस आधार पर लिखा गया है? उसका तात्पर्य समझाकर लिखिए।

४—लोभ को कुभज (छद न० ४५) और कलदर (छद न० ४६) अभिमान को जबुक (छद न० ४८) और त्याग को मृगेश (छद न० ५३) के साथ रूपण करने में क्या कोई विशेष चमत्कार है? समझाकर लिखिए।

५—परिकराकुर, श्लेष, मुद्रा, रूपकातिशयोक्ति अलकारों की परिभाषा लिखिए और उदाहरण इसी ग्रंथ से दीजिए।

६—नीचे लिखे शब्दों की व्याख्या लिखकर अर्थ कीजिए।

बटपार, आवागौन, भटिहारी, अपजस, कुभज, वासुदेव, सुरधुनी, कुचाल, सूलधर, सुवशज, और जलज।

७—प्रेमपंचक के पांच सवैयो मे से आप किस सवैया को सर्वोत्तम समझते हैं? उसका तात्पर्य लिखिये, और उसका नाम भी सलक्षण लिखिए।

८—कैवर्तक, आश्चर्य, पश्चात्ताप, हृदय, क्षार, पिपासा, कुत्र, अद्यापि, मृत्यु, पार्श्व, दृष्टि, दीर्घ, और परीक्षण के लिये ठेठ हिंदी शब्द लिखिए।

९—अघ, गभीर, बावरी, मेल, सती, शत्रु, बूड़ना, कठिन, खल, मधुर, और पार शब्दो के लिये विरोधवाची शब्द लिखिए।

१०—पाहन, किवाड़, नचत, सिवाल, भौर, हाथ, रैनि, दवारि खंभ, सुजान, और रीस शब्दो के शुद्ध सस्कृत रूप लिखिए।

(विशेष)

१—ग्रंथकर्ता का संक्षिप्त परिचय दीजिए। और उनकी काव्य-शक्ति के विषय में अपने विचार लिखिए।

२—रहस्यवादी कवियों में ग्रंथकर्ता को आप कौन सा स्थान दे सकते हैं।

३—इसी ग्रंथ से प्रमाणित कीजिए कि ग्रन्थकर्ता फारसी भाषा तथा उसके साहित्य से परिचित था।

४—ग्रन्थकर्ता के भाषासंबंधी दोषों का सोदाहरण दिग्दर्शन कराइये।

५—कुंडलिया, मालिनी और घनाक्षरी छंदों की परिभाषा लिख कर उदाहरण दीजिए।

६—दोहा और सवैया छंद कितने प्रकार के होते हैं। प्रत्येक के दो दो उदाहरण दीजिए।

७—अन्योक्ति, परिकरांकुर, रूपकातिशयोक्ति और श्लेष अलंकारों की उपयोगिता के विषय में अपने विचार लिखिए और उदाहरण दीजिए।

८—दीनदयाल जी की उस प्रतिभा का दिग्दर्शन कराइये, जिसके सहारे वे शृंगारी कविता करते हुए भी अपने को पूर्ण सन्यासी प्रमाणित कर सके हैं।

९—" दीनदयाल जी ने संस्कृत कवियों की अन्योक्तियों से खूब सहायता ली है, " इस कथन को उदाहरण देकर प्रमाणित कीजिए।

१०—अपने विचार के अनुसार बतलाइए कि इस ग्रन्थ में कवि ने किस प्रसंग में पूर्ण कवि-कौशल प्रकट किया है। कुछ उदाहरण देकर अपने विचार की पुष्टि कीजिए।

॥ इति ॥

Prined by RAMZAN ALI SHAH at Press, Allahabad